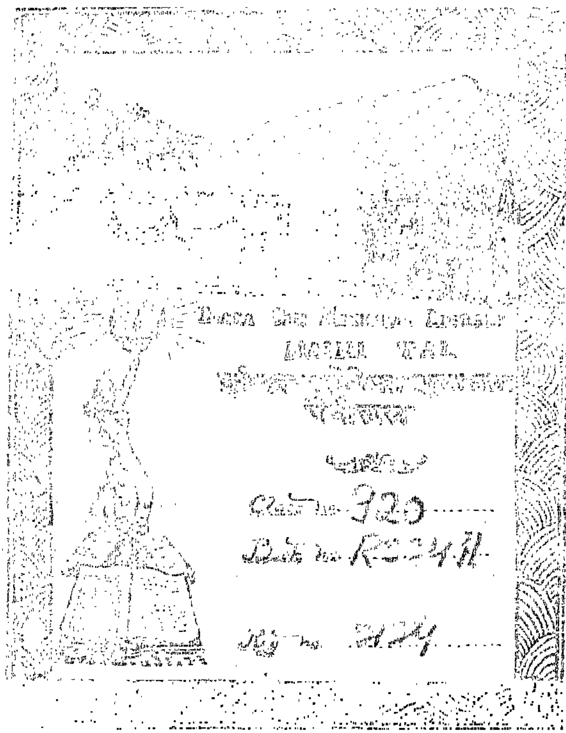


Class No. 920

हमारे स्वर्गीय राष्ट्र-निर्माता

[जीवन, अध्ययन और झाँकियाँ]

लेखक

श्री रामनाथ 'सुमन'

प्रकाशक

साधना-सदन

इलाहाबाद

चार रुपये

प्रकाशक
साधना-सदन
इलाहाबाद

०

सुमन जी का जीवनप्रद साहित्य

१.	आनन्द निकेतन	२॥)
२.	घर की रानी	१॥)
३.	नारी-गृहलक्ष्मी	२॥)
४.	नारी जीवन	१।)
५.	कन्या	१।)
६.	हमारे नेता	२॥)
७.	जीवन-यज्ञ	२)
८.	वेदी के फूल	॥।)
९.	कटघरे से पुकारती वाणी	१)

मुद्रक—इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लिमिटेड, इलाहाबाद

इन अगणित कंकरियों को—

जिनपर राष्ट्र की नींव उठाई गई है

और अदृश्य रहने में ही जिनका गौरव है

—श्रद्धा सहित—

'सुमन'

निर्देशिका

३. मदनमोहन मालवीय १७१-२३२

४. लाजपतराय २३३-२६०

५. मोहनदास कर्मचंद गांधी २६१-३००

६. चित्तरंजन दास ३०१-४०२

७. मुहम्मद अली ४०३-४३४

८. सरोजिनी नायडू ४३५-४७८

सहायक सामग्री

१—'लोकमान्य' तिलक :

१—लोकमान्य का जीवनचरित्र—१८६१ तक : श्री केलकर ।

२—लोकमान्य तिलक-याँची गेली आठ वर्षे (१६००-१६०८) : श्री कुलकर्णी, बम्बई १६०८ ।

३—Reminiscences of Tilak: पूना

४—तपस्वी तिलक, काव्य (श्री गोकुलचन्द्र शर्मा) अलीगढ़ ।

५—तिलक दर्शन (श्री सरवटे एवं भण्डारी), इन्दौर ।

६—लोकमान्य को श्रद्धाञ्जलि; नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद

७—'प्रणवीर' तथा 'प्रभा' के विशेषाङ्क ।

८—अमृत बाज़ार पत्रिका, बाम्बे क्रानिकल, हिन्दू युनिवर्सिटी मैगज़ीन, 'लीडर' (People I have known लेखमाला)

६—Bal Gangadhar Tilak : नटेसन, मद्रास

१०—Prophets and Patriots : एन०सी० बनर्जी, कलकत्ता।

२—पं० मोतीलाल नेहरू :

१—Pt. Motilal, His Life & Work; कलकत्ता ।

२—Pillars of Nation; दिल्ली ।

३—नेहरू-द्वय; प्रयाग ।

४—मोतीलाल नेहरू (इन्द्रजी); दिल्ली ।

५—माडर्न रिव्यू, बाम्बे क्रानिकल, सिंध आब्जर्वर, सर्वेंट ऑव् इण्डिया, मरहट्टा लीडर, हिन्दुस्तान टाइम्स, 'हंस' तथा 'आज' के अंक । श्री सच्चिदानंदसिंह एवं सेण्ट निहालसिंह के लेख।

६—मेरी कहानी : जवाहरलाल

३—महामना मालवीय जी :

१—पं० मदन मोहन मालवीय (छोटी जीवनी): १६१८ प्रयाग ।

२—Pillars of Nation; दिल्ली।

३—मालवीय जी के व्याख्यान।

४—Malviya Commemoration Volume; हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

५—कांग्रेस की रिपोर्टें।

६—लीडर, पायोनियर, जन्मभूमि एवं हिन्दू यूनि० मेगजीन के अंक।

४—लाला लाजपतराय :

१—लाला लाजपतराय : नंदकुमारदेव शर्मा, कलकत्ता।

२—लाला लाजपतराय : बम्बई।

३—लाला लाजपतराय (इन्द्रजी); दिल्ली।

४—Pillars of Nation; दिल्ली।

५—लालाजी की आत्मकथा (अपूर्ण, अंग्रेजी-हिंदी-लाहौर के 'पीपुल' एवं 'पंजाब-केसरी' में छपी)

६—लालाजी की पुस्तकें (United States of America; Young India; Unhappy India; Story of My Deportation)

७—'वंदेमातरम्', पीपुल (विशेषाङ्क), माडर्न रिव्यू, हिंदुस्तान-टाइम्स, त्यागभूमि इत्यादि के लेख।

५—महात्मा गांधी :

१—आत्म-कथा (दो खण्ड) : अजमेर।

२—दक्षिण-अफ्रिका का सत्याग्रह—दो भाग : गांधीजी : अजमेर।

३—सर्वोदय : गाँधीजी : बम्बई।

४—Gandhi—The Man : Millie G. Polak, लंदन।

५—Gandhi-The Holy Man : Rene Fulop-Miller, लंदन।

६—Mahatma Gandhi (The World's Greatest Man) बम्बई; १९२२।

७—Mahatma Gandhi: The Man & His Mission मद्रास, १९३०
८—Mahatme Gandbi (Sketches in Pen, Pencil & Brush); बम्बई १९३१ ।
९—The Conscience of A Nation; G. V. Mehta. कलकत्ता ।
१०—Prophets & Patriots : N. C. Bannerji, Calcutta.
११—'गाँधीजी कौन हैं? : रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग ।
१२—जगमगाते हीरे : विद्याभास्कर शुक्ल, प्रयाग ।
१३—महात्मा गांधी (जीवन और व्याख्यान) : रामचंद्र वर्मा, बम्बई ।
१४—संसार का सर्वश्रेष्ठ महापुरुष : कलकत्ता ।
१५—The Dawn of Indian Freedom : Winslow & Elwin, लंदन ।
१६—The Psychology & Strategy of Gandhi's Non-Violent Resistance : R. B. Gregg. मद्रास
१७—A Word to Gandhi : लंदन ।
१८—Entertaining Gandhi : Muriel Lister, लंदन ।
१९—Political India (1832-1932), आक्सफर्ड यू० प्रेस ।
२०—Gandhi Diamond Jubilee Number (Janmabhumi) मद्रास १९२९ ।
२१—'हिंदी-नवजीवन' का जयन्ति अंक । संवत् १९७९ ।
२२—प्रस्थान का मणिमहोत्सव अङ्क ।
२३—प्रताप, गुप्त सुंदरी, विश्वमित्र, जन्मभूमि, सण्डे एडवोकेट, लीडर, पायोनियर, हिंदी यूनिवर्सिटी मेगजीन, हिंदुस्तान टाइम्स, माडर्नरिव्यू, पीपुल इत्यादि के अंक ।

१४—हिंदी-नवजीवन एवं यंग इण्डिया की फाइलें।

६—देशबंधु दास :

१—Life & Times of C. R. Das : P. C. Ray, आक्स० यू० प्रेस।

२—देशबंधुदास (हिंदी जीवनी) : सम्पूर्णानन्द १९२१।

३—'चित्तरंजन' (बंगला जीवनी) : सुकुमाररंजन, कलकत्ता।

४—'देशबंधु चित्तरंजन' (बंगला) : नलिनीबाला देवी, कलकत्ता।

५—Reminiscences of C. R. Das : Bisi.

६—मालञ्च, माला, सागरसंगीत इत्यादि देशबंधु के काव्यग्रन्थ एवं अन्य रचनाएँ।

७—'फारवर्ड' का देशबंधु नम्बर।

८—लिबर्टी, बाम्बे क्रानिकल, लीडर, भारत, आज, मतवाला इत्यादि के अंक। मृत्यु के पश्चात् नेताओं के भाषण।

९—देशबंधु के व्याख्यान। फुटकर सामग्री।

७—मुहम्मद अली :

'कामरेड' एवं 'हमदर्द' के अंक, माडर्न रिव्यू, लीडर, पिलग्रिम्स आफ् नेशन, कलामे जौहर; यंग इण्डिया और नवजीवन की फाइलें।

८—सरोजिनी नायडू :

१—सरोजिनी के काव्यग्रन्थ

२—सेलेक्ट पोएम्स आई इण्डियन वीमेन

३—पत्र-पत्रिकाओं की फाइलें

४—'हमारे नेता'

दो शब्द

हिन्दी में जीवनी-लेखन कला अपनी बिल्कुल प्रारंभिक अवस्था में है। पहले तो हिन्दी में जीवनियाँ ही बहुत थोड़ी हैं और जो हैं भी, उनमें से अधिकांश बहुत साधारण हैं। फिर किसी महापुरुष की जीवनी लिखने का यह क्रम ठीक नहीं कि उसकी जीवनी की घटनावलियाँ दे दी जायँ। असल बात तो यह है कि लेखक उसके जीवन में प्रच्छन्न उसके विकास को, उसके व्यक्तित्व के रहस्य को पाठक के सामने खोलकर रख दे। उसके जीवन के परदे में जो भाव-राशि, जो विचार-धाराएँ काम कर रही हों, उनको प्रत्यक्ष करे। ऐसा करके वह मानव चरित का ज्ञान तो कराता ही है, महापुरुष के जीवन के साथ पाठक के जीवन को गूँथता भी है। मनुष्य की दुरूह एवं जटिल प्रकृति के अन्तराल में जो सत्य प्रकाशित होता है, उसे विविध प्रवृत्तियों एवं संस्कारों के बीच डूबकर बाहर निकाल लाना जीवनचरित-लेखक का प्रधान कर्त्तव्य है। ऊपर से मनुष्य का जो रूप दिखाई पड़ता है, उसे ही दिखा देना और आवरण के अन्दर पैठकर उसका अन्तःरूप न दिखाना निकृष्ट श्रेणी की जीवनी-लेखन प्रणाली है। जहाँ व्यक्ति का अन्तःरूप पाठक के सामने प्रत्यक्ष हो जाय तहाँ जीवनी-लेखक की सफलता है।

इसलिए पाश्चात्य देशों के साहित्य में व्यक्तित्व की समीक्षा एवं विश्लेषण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है और 'शब्द-चित्र'

लिखने की कला तो बहुत उन्नत हो चुकी है। फ्रेंच-साहित्य अपनी शक्तिमान जीवनियों से गौरवास्पद है। अंग्रेजी में गार्डिनर, निकोल्सन और हेराल्ड लास्की व्यक्तियों के 'शब्द-चित्र' लिखने में सफल हुए हैं। पर जहाँ तक हम जानते हैं, हिन्दी में सिवाय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के दूसरे किसी लेखक ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया और ध्यान दिया भी हो तो वह न देने के समान ही है। चतुर्वेदीजी की एण्डरूज़ साहब की जीवनी वर्षों पूर्व मैंने पढ़ी थी। यह तब की बात है जब वह अपने नाम से नहीं लिखते थे। पर तभी मुझे उनकी जीवनी लिखने की शक्ति पर विश्वास हो गया था। समय के प्रवाह में बहते-बहते पण्डित जी यद्यपि हिंदी साहित्य-क्षेत्र में प्रत्यक्ष रूप से आगये हैं और उनकी सेवा का लाभ अनेक रूपों में हिंदी को मिल रहा है पर परिस्थिति से भी, और प्रवृत्ति से भी, वह एक साहित्यिक प्राणी हैं। सौभाग्य ने उन्हें राजनीति के दुर्वह एवं कुटिल क्षेत्र से अलग रखा है इसलिए उन्होंने प्रधानतः साहित्यकारों की ओर ही ध्यान दिया है। राष्ट्रपुरुष अब भी वैसा ही पड़ा है। फिर चतुर्वेदीजी का ध्यान मुख्यतः 'शब्द-चित्र' लिखने की ओर ही है और 'शब्द-चित्र' में व्यक्ति का एक आभास तो मिल जाता है, एक झलक तो मिल जाती है पर दिल पर उसकी छाप बैठती नहीं। पूर्ण जीवनी वह है जिसमें शब्द-चित्र के साथ ही व्यक्ति का गहरा अध्ययन भी हो—उसकी प्रवृत्तियों, संस्कारों, भावधाराओं और मानसिक निर्माण की समीक्षा भी हो।

बहुत दिनों से मेरा ध्यान इधर जा रहा था। १६३१ में 'त्याग-

भूमि में 'जवाहरलाल' पर, एवं राजपूताना के कुछ स्थानीय नेताओं पर, मैंने एक अध्ययन एवं कुछ शब्द-चित्र लिखे। वे पसंद किये गये। उसके बाद १६३२ ई० में, जब मैं जेल में था, मेरा ध्यान इस ओर विशेष रूप से गया। कुछ लिखने की इच्छा हुई। समय भी था; सुविधा भी थी। पर वहाँ अन्य विषयों का अध्ययन चलता रहा। अध्यात्मवाद जेल का प्राण है। उससे मैं ग़रीब कैसे छूट सकता था? बाकी समय मनोविनोद में निकल जाता! किन्तु जेल से आते ही मैंने गाँधी जी पर कुछ लेख हिन्दी और अंग्रेज़ी में लिखे। पीछे भारत के हित में निकाले जाने वाले एक अमेरिकन मासिक के लिए अंग्रेज़ी में भारतीय नेताओं पर कुछ लिखने का निश्चय किया। दो लेख लिखे भी; पर वह पत्र निकल न सका। इसलिए फिर हमने हिन्दी में ही इस विषय पर लिखने का निश्चय किया। फलस्वरूप, कई वर्ष हुए, 'हमारे नेता' पुस्तक लिखकर मैंने प्रकाशित की। उसमें कुछ जीवित नेताओं का अध्ययन था। उसका सम्मान हुआ; अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। कई अध्ययन अंग्रेजी में भी अनूदित होकर छपे। पिछले पाँच वर्षों में उसके छः संस्करण हो गये हैं।

इस पुस्तक में स्वर्गीय नेताओं के पुण्य स्मरण और विस्तृत अध्ययन हैं। बापू जी का अध्ययन संक्षिप्त है क्योंकि उनपर अलग मेरी पुस्तक निकल चुकी है।

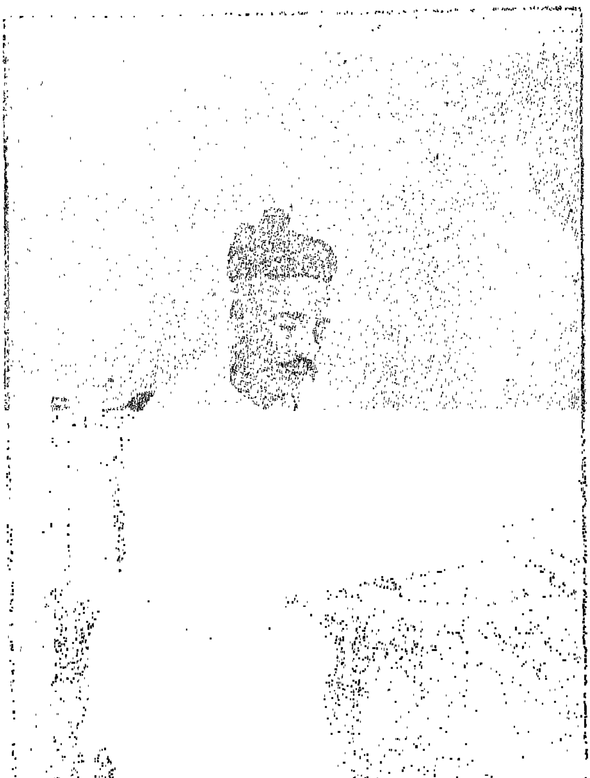
इस पुस्तक में जीवनी के सब अंगों पर ध्यान दिया गया है। (अ) जीवन का विश्लेषण एवं अध्ययन (आ) जीवन-कथा (इ) संस्मरण (ई) शब्द-चित्र:—जीवनी की परिपूर्णता के लिए आवश्यक चारों बातें

इसमें मिलेगी। राष्ट्रीयता के विकास एवं घटनावलियों के क्रम को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक जीवनी के अन्त में जीवन-तालिका दी गई है।

इस पुस्तक के लिखने में सबसे अधिक प्रेरणा एवं सहायता मुझे 'अलकाफिर' की 'बिल्डर्स ऑव् नेशन' नामक पुस्तक से मिली है। जिसके लिए मैं उक्त लेखक का आभारी हूँ। इसके अलावा लगभग २०० पुस्तकों एवं लेखों (जिनमें से कुछ की सूची अलग दी गई है) से जो सहायता मुझे मिली है उसके लिए भी मैं उनके लेखकों एवं विचारकों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। इस पुस्तक में जो अच्छाई है वह उनकी प्रेरणा का फल है और जो दोष हैं वे मेरी निजी अपूर्णताओं एवं त्रुटियों के परिणाम हैं। उदार पाठक हंस की नाईं अच्छाइयों का दूध पीलें और दोषों का पानी अलग छोड़ दें।

इलाहाबाद
श्रीरामनवमी
७-४-४९

श्रीरामनाथ 'सुमन'



बाल गंगाधर तिलक

बाल गंगाधर तिलक

['लोकमान्य']

जन्म	मृत्यु
२३ जुलाई १८५६ ई०	३१ जुलाई १९२० ई०

"We know of no other Indian who has made greater personal sacrifices for his country than Mr. Tilak."

—SHYAMJI. K. VARMA.

"हम किसी दूसरे भारतीय को नहीं जानते जिसने श्री तिलक की अपेक्षा देश के लिए अधिक व्यक्तिगत त्याग किये हों।"

—श्यामजी कृष्ण वर्मा

He was a man. take him for all in all
I shall not look upon his like again.

—एक—

जीवन की कुंजी

बहुत वर्षों की बात है; ठीक समय याद नहीं। बम्बई में ऐतिहासिक गवेषणा करने वाले विद्वानों की सभा हो रही थी। अपने-अपने विषय पर अधिकार रखने वाले बड़े-बड़े विद्वान आये हुए थे। उस सभा में लोकमान्य ने 'बाल्डियन संस्कृति' तथा 'भारतीय एवं ईरानी सभ्यता में साम्य'—इन विषयों पर अत्यन्त गवेषणापूर्ण व्याख्यान दिया। उन व्याख्यान का विद्वानों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि अध्यक्ष ने उनसे कहा—"मि० तिलक, आप अपनी बुद्धि का दुरुपयोग कर रहे हैं। परमात्मा ने आपको ऐसी प्रतिभा दी है कि यदि आप उसे ऐतिहासिक अन्वेषण के कार्य में लगावें तो आपकी कीर्ति संसार में फैल जाय। इसे छोड़ आप राजनीति के दलदल में क्यों पड़े हैं?"

तिलक का चेहरा एकदम चमक उठा। बोले—"भारत माता बाँझ नहीं है। स्वराज होने पर मुझ-जैसे हजारों पंडित पैदा हो जायेंगे। आज तो देश की पुकार पर दौड़ पड़ने की जरूरत है। आज तो प्रत्येक भारतीय का यही कर्तव्य है कि वह अपनी बुद्धि, शक्ति और सर्वस्व स्वराज्य के लिए अर्पण कर दे।"

बात साधारण है; बहुत छोटी। पर साधारण होकर भी यह असाधारण है और छोटी होकर भी महान है। असाधारण इसलिए नहीं कि

इसमें व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं के त्याग का आभास है और महान इसलिए नहीं कि वह महानता की ओर ले जाती है। असाधारण और महान् स्वयं तिलक के सम्पूर्ण जीवन की दृष्टि से। इस छोटी-सी बात में उनके सम्पूर्ण विविधतामय जीवन का प्रतिबिम्ब है। यहाँ हम उस जीवन की कुंजी पाते हैं जो अपनी कर्मण्यता में अनासक्ति का एक उदाहरण भारतीय राजनीति में छोड़ गया है और जो सदा संघर्षों में, कठिनाइयों में फूला-फला और जिसने कभी अपने लिए फूलने-फलने की चाह नहीं की और आगे बढ़कर कहें तो कह लें कि जो फूलने में खुश और फूलकर झड़ जाने में भी खुश। इसलिए निराशाओं के बीच भी जो निराश नहीं और कठिनाइयों के बीच भी जो स्वर्णोन्माद से तेजस्वी है। इस छोटी सी घटना में उसके जीवन की भूमिका अत्यन्त सतेज होकर हमसे बोलती है। और इसके शब्द चिल्लाकर कहते हैं —

"राजनीति में उसे स्वाद नहीं; वह उसका क्षेत्र नहीं; फिर भी उसने अपना क्षेत्र छोड़ दिया और उसे अपना लिया क्योंकि भारत की वर्तमान दशा में वही सबका क्षेत्र है। क्योंकि माता की पीड़ा और गुलामी जबतक है तबतक क्षेत्रों के चुनाव का कोई प्रश्न उठ नहीं सकता। तबतक जो सबका क्षेत्र है, वही मेरा भी है। माता नीरोग और स्वाधीन हुई और मैंने फिर अपना, वही अपने ही अन्दर अपने को पाकर संतुष्ट होजानेवाला, विद्या-सेवन का क्षेत्र अपनाया।"

राजनीति को अपनाकर भी, इसीलिए, वह जीवन राजनीति में बद्ध नहीं गया। उसने उसपर शासन किया और जो कुछ किया मोह-रहित होकर, निर्लिप्त-सा, किया और जब समय आया तो प्रभु के चरणों में बिना किसी शिकायत के उसी शान्ति के साथ अपना चोला उतारकर रख दिया।

यह थे तिलक!—१६१० तक हमारे राष्ट्र के कर्णधार और अपने समय में शायद सबसे अधिक लोक-प्रिय नायक हमारे 'लोकमान्य'!

—दो—

पहली झाँकी

पंजाब की लज्जाजनक घटनाएँ घट चुकी थीं। लज्जाजनक उधर भी, इधर भी—दोनों के लिए; नाक रगड़वाने और नाक रगड़ने वाले—दोनो पक्षों के लिए।—यूरोप के भीषण रोमांचकारी इतिहास में जिसके उदाहरण मिलते हैं पर एशियाई इतिहास में जो अलभ्य-सा है!; वही दृश्य अभी-अभी राष्ट्र देख चुका था;—सदा से राज-भक्ति और सहन-शीलता के लिए प्रसिद्ध राष्ट्र। उसकी कुंभकर्णी नींद में १८५७ के बाद—६२ वर्ष बाद यह एक व्याघात उपस्थित हुआ था। वह करवटें ले रहा था। इस बार चोट सीधे कलेजे पर लगी थी। इस बार उसकी सोई, कुचली, मनुष्य होने की भावना पर प्रबल आघात हुआ था; इसीलिए इस बार वह तिलमिलाया। शायद उसकी कला की चरम सीमा तक पहुँची हुई सहिष्णुता के सागर में चट्टान का यह टुकड़ा भी डूब जाता पर इस बार आक्रमण अनपेक्षित था और उस समय हुआ जब लोग उसके लिए बिलकुल तैयार न थे, जब उसकी सब से कम आशा थी। जब हम बहुत अधिक आशा करके किसी के मुँह की ओर देख रहे हों तब उसकी ओर से सूखा जवाब मिलने पर भी चोट लगती है। फिर यहाँ तो जवाब में पत्थर मिला था। यह वह चोट थी जो चमड़े के आवरणों को पार कर गई और मनुष्य में जो सबसे मूल्यवान और कोमल चीज़ होती है उसे उसने बेध दिया! इस समय भारत की आत्मा छटपटा रही थी।

× × ×

गरमी के दिन थे। हवा के नाम पर उस दिन लू भी न थी। जान पड़ता था शरीर उबल जायगा। बनारस में, यों भी, गरमी ज़्यादा पड़ती है—उस दिन तो सदा से ज़्यादा थी। १९२० का साल था और, भूलता नहीं तो शायद, २९ मई थी। उन दिनों आलइण्डिया

कांग्रेस कमिटी की बैठक बनारस में हो रही थी और उस सिलसिले में लोकमान्य (तिलक), लालाजी (लाजपतराय) तथा और कई नेता एकत्र थे। उस दिन शाम को टाउनहाल में लोकमान्य के व्याख्यान का प्रबन्ध किया गया था। लोकमान्य का युवकों के दिलों पर जो असर था, उससे बेचैनी और भी बढ़ गई थी; इसलिए दिन और भी न कटता था। खैर: राम राम करके शाम हुई; सभा हुई। श्री भगवान्‌दासजी सभापति थे। लोकमान्य बोलने उठे; चौड़ा ललाट, घनी मूँछें, दृढ़ता-व्यंजक ठुड्डी और क्या कह रहे हैं मानो उसे अच्छी तरह जानने समझने वाले ओठ! मुँह पर कठिनाइयों से भरे उनके जीवन का सारा इतिहास झलक रहा था। किसी बात की तह तक घुस जाने वाली आँखों के नीचे एवं ललाट पर की रेखाओं से स्पष्ट था कि राजनीति को अथ से इति तक इस व्यक्ति ने उधार-उधार कर देखा है!

लोकमान्य जब बोलने खड़े हुए तो उसी समय उन्होंने सभापति से पूछा कि मुझे किस विषय पर बोलना है। भगवान्‌दासजी ने राजधर्म (राजनीति) पर कुछ कहने का अनुरोध किया। उस दिन पहली बार मैंने लोकमान्य का भाषण सुना। वह हिन्दी में बोले थे, इसलिए भाषा तो वैसी न थी पर विषय पर उनका असाधारण अधिकार वहाँ देखा। अमृतसर कांग्रेस में प्रतिसहयोगी नीति की जो चर्चा उन्होंने चलाई थी, उस पर भी उन्होंने वहाँ प्रकाश डाला और प्राचीन भारतीय राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रकाश में उसका विवेचन किया। उनके भाषण में सुरेन्द्रनाथ की वाग्मिता न थी; न विपिनचन्द्र पाल की, वह सघन जलद-पटल से कड़कनेवाली, बिजली की कड़कड़ाहट थी। पर उनके शब्द चुने, सीधे, सरल और विषय-बोधक थे। भावना का तीव्र प्रवाह उनमें न था; पर उनमें न शुष्क तार्किकता एवं गंभीर बौद्धिकता का बोझ भी न था। कहने का सीधा-सादा और प्रभावशाली ढंग था—फिर भी व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसके साथ ही भाषण के ढंग में कुछ ऐसी बात ज़रूर थी जो दिल

को खींचती थी और हमारे सिर उसके चरणों में झुक जाते थे !

राजनीति से मेरे परिचय का यह आरंभ था; और इस समय लोकमान्य, केलकर, खापर्डे इत्यादि एकत्र थे। इसलिए मैंने इसे अपने श्री गणेश का सौभाग्य माना कि एक ही जगह इतने देशभक्तों के दर्शन होगये।

पर इन सब के बीच लोकमान्य मेरे स्मृति-पट पर जैसे चमके वैसा दूसरा कोई नहीं चमका था। निराशा की अँधियारी और जीवन के इस परिवर्त्तन काल में उनसे जो प्रकाश मिला वह बापू—गाँधी जी—के अतिरिक्त दूसरे किसी से न मिला !

जीवन में मैं एक ही बार उनके चरणों के पास बैठा; एक ही बार उनका व्याख्यान सुना। कभी उनके घनिष्ट सम्पर्क में आने का मौका भी न मिला, फिर भी नेताओं में उनके प्रति मेरी जो आत्मीयता—निकटता थी वह शायद ही किसी के प्रति हुई हो। जिस दिन उनके देहावसान का समाचार सुना, कलेजा धक होगया। एक बार तो रोना भी न आया—बाद में खूब रोया। गणेश जी और बापू के अतिरिक्त और किसी की मृत्यु पर मुझे इतना अभाव अनुभव नहीं हुआ।

इसी से मैंने समझा कि लोकमान्य का जीवन उनके व्यावहारिक एवं लौकिक इतिवृत्त से भी ऊँचा था,—उसमें कुछ ऐसी बात अवश्य थी जो युवकों के हृदय को छूती और उसके अन्दर अत्यन्त शक्तिमान देश-प्रेम को जगाती थी।

मेरा यह अभाग्य भी है और सौभाग्य भी कि मेरे लिए उनका यह प्रथम दर्शन ही अन्तिम दर्शन था !

— तीन —

जीवन-कथा

बलवन्तराव गंगाधर तिलक का जन्म कोंकण प्रांत के रत्नागिरि में, मदोबा गोरे के घर पर, २३ जुलाई १८५६ (आषाढ़ कृष्ण ६-सोमवार शके १७७८) को माता पार्वती बाई के पेट से

जन्म

हुआ था। बलवन्तराव अपने माता-पिता की चौथी सन्तान थे। इनके पूर्व तीन लड़कियाँ हो चुकी थीं। उनके पिता श्री गंगाधर रामचन्द्र तिलक पहले वहीं एक स्कूल में अध्यापक थे; बाद में थाना और पूना में स्कूलों के असिस्टेंट डिपुटी-इन्सपेक्टर रहे। वह एक योग्य अध्यापक थे और छात्र उन्हें बहुत मानते थे। उन्होंने व्याकरण और त्रिकोणमिति पर स्कूली पुस्तकें भी लिखीं और प्रकाशित की थीं। गणित और प्राच्य शास्त्रों के अध्ययन की प्रवृत्ति बलवन्तराव में पैत्रिक संस्कारों से ही पैदा हुई थी। इनके पिता बड़े ही कर्मनिष्ठ पुरुष थे।

तिलक का नाम यद्यपि बलवन्तराव था, तथापि इनका जन्म नाम, प्रपितामह एवं कुलदेव के नाम पर, 'केशव' रखा गया था। किन्तु बचपन में घर में पुकारने का जो छोटा 'बाल' नाम पड़ा वह सबसे अधिक प्रचलित हुआ और उनके नाम के साथ मिलकर स्थायी होगया।

बचपन से ही पिता इन्हें संस्कृत के श्लोक याद कराते थे। वह एक श्लोक याद करने पर पाई पुरस्कार दिया करते थे। १८६१ की विजयादशमी को, ५ वर्ष की अवस्था में, यह

शिक्षा दीक्षा

पाठशाला में बिठाये गये। इनके आरंभिक गुरु भिकाजी कृष्ण पटवर्द्धन थे, पर पाठशाला की अपेक्षा घर पर ही इनकी पढ़ाई विशेष रूप से होती रही। १८६४ में यज्ञोपवीत हुआ। इसके पहले ही (८ वर्ष की अवस्था में) भिन्न तक

गणित, रूपावली, समासचक्र, आधा अमरकोश और ब्रह्मकर्म का बहुत-सा भाग यह सीख तथा कण्ठस्थ कर चुके थे।

दस वर्ष की आयु में 'बाल' पिता के साथ पूना आये और सिटी स्कूल में भरती हुए। इसी साल इनकी माता का स्वर्गवास हो गया।

सिटी स्कूल में दो वर्ष में तीन कक्षाओं की पढ़ाई हठी एवं चतुर समाप्त की। बाल लड़कपन से ही तीव्र बुद्धि थे।

पर इसके साथ ही इनमें हठीलापन भी था;—इससे इनमें विनय का अभाव था और अध्यापकों से प्रायः चख-चख होती रहती थी।*

* इस विषय में श्री कृष्णजी आबा जी गुरुजी लिखते हैं—

"उस (शिक्षक की) ओर से गणित का प्रश्न लिखाया जाने पर ये (बलवंतराव) उसे ज़बानी हल करने लगते थे। इसपर जब वह इन्हें स्लेट पर लिखने को कहता तो ये तत्काल उत्तर दे उठते कि 'इसमें स्लेट की क्या आवश्यकता है?' उसकी ओर से स्मरण-पुस्तिका (नोटबुक) लाने की आज्ञा होने पर ये तत्काल उसकी अनावश्यकता सिद्ध करने लग जाते थे। यदि उसने काले तख्ते पर हिसाब करके दिखाने को कहा तो चाक से हाथ ख़राब न करने की इच्छा से ये ज़बानी ही उसे सुनाने लग जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक बार कुछ न-कुछ झगड़ा गुरु-शिष्य में होता ही रहता था। एक बार शुद्ध लेखन लिखाते समय 'संत' शब्द इबारत में तीन-चार बार आया। इस शब्द को बलवन्त राव ने एक-सा न लिखकर एक जगह 'संत' तो दूसरी जगह 'सन्त' और तीसरी जगह 'सन्‌त' इस तरह तीन प्रकार से लिखा। किन्तु अध्यापक ने प्रथम शब्द को ठीक मान कर शेष दो को ग़लत कर दिया। इसपर गुरु शिष्य में विवाद उठ खड़ा हुआ और वह मामला यहाँ तक बढ़ा कि अन्त में हेडमास्टर के सामने पेशी हुई और जबतक उसका निर्णय अपने मनोनुकूल न हो गया, तब

१८६६ ई० में पूना हाई-स्कूल की पाँचवीं कक्षा में भरती हुए। उस समय मि० जैकब हेडमास्टर थे। यह अनुशासन के कट्टर पक्षपाती थे। यहाँ भी आरम्भ से वही चख-चख चलती थी। एक दिन तिलक एवं संस्कृत-शिक्षक का किसी पुस्तक पर विवाद हुआ। हेडमास्टर ने शिक्षक का पक्ष लिया अतः इन्होंने स्कूल छोड़ दिया और बाबा गोखले की पाठशाला में पढ़ने लगे। किन्तु कुछ दिन बाद जैकब साहब बदल गये और श्री कुंटे हेडमास्टर हुए; तब यह फिर इसी हाईस्कूल में आगये।

जब बलवन्त राव सोलह वर्ष के थे तो उनके पिता का भी देहावसान हो गया; इसी वर्ष (१८७२ ई० में) उन्होंने मैट्रिक परीक्षा पास की और पूना के डेकन कालेज में भरती हुए। वहाँ से १८७६ में 'आनर्स' (सम्मान) के साथ प्रथम श्रेणी में बी० ए० पास किया। १८७७ में गणित लेकर एम० ए० में बैठे पर फेल हो गये। इसके बाद १८७६ में बम्बई विश्वविद्यालय की कानून की परीक्षा पास की। कालेजमें ही स्व० श्री आगरकर से उनकी जान-पहचान हुई।

बाल-विवाह

जब यह अंग्रेजी स्कूल में पढ़ रहे थे तभी, १५ वर्ष की अवस्था में, १८७१ ई० के वैशाख में इनका विवाह हो गया। विवाह इनके आदि ग्राम चिखलगाँव (कोंकण) में ही हुआ था। इनकी पत्नी का मायके का नाम तापीबाई था। ससुराल आने पर, नाम बदल कर, सत्यभामा बाई रक्खा गया। वर वधू दोनों विवाह के समय मातृ-हीन थे। अतः ऐसे समय दोनों को जो मातृ-प्रेम, दोनों पक्षों में मिलना है, न मिला। एक चरित्रकार का

तक इन्हें चैन न पड़ी; बड़ों से झगड़ा करने के कारण इनकी गिनती चतुर किन्तु झगड़ालू अथवा बुद्धिमान होते हुए भी हठी स्वभाव वाले मनुष्य में होने लगी।"

इससे तिलक के अभिमानी स्वभाव किन्तु तीव्र प्रतिभा का पता चलता है।

कहना है कि विवाह के समय निरर्थक वस्तुओं के बदले उतने ही मूल्य की पुस्तकें तिलक ने माँगी। इससे भी उनकी विद्याभिरुचि का पता चलता है।

सौ० सत्यभामा बाई के भाग्य में सास का सुख तो था ही नहीं, पर ससुर का सुख भी न था। विवाह के एक ही वर्ष बाद, १८७२ ई० में—३१ अगस्त को—ससुर श्री गंगाधर पन्त भी स्वर्ग सिधार गये।

जब यह डेकन कालेज में, १८७३ ई० में, भरती हुए तब इनका स्वास्थ्य अच्छा न था। इसलिए पहले वर्ष पढ़ाई की अपेक्षा यह व्यायाम इत्यादि पर ज़्यादा ध्यान देते थे। सुबह का समय अखाड़े में या तैरने में जाता था और संध्याकाल टहलने एवं खेल-कूद में बीतता था। रात विनोद एवं गप शप में बीतती थी। उन्होंने शरीर-सुधार का निश्चय कर लिया था और उस वर्ष परीक्षा न देने की बात भी सोच ली थी। हाज़िरी देकर बाहर चले जाते और कोई बहुत उपयोगी एवं आवश्यक व्याख्यान होने पर उसमें उपस्थित हो जाते थे। एक बार प्रिंसपल ने हाज़िरी देकर जाते देख इनसे पूछा तो इन्होंने स्पष्ट कह भी दिया कि मुझे इस साल परीक्षा नहीं देनी है। इसका परिणाम यह हुआ कि यह पहली बार एम० ए० में फेल हुए।

कालेज-जीवन

छात्रावस्था में भी बाल तिलक की संस्कृत में अच्छी गति हो चली थी। इस विषय पर एक बार वह अपने अध्यापक श्रीजिंसीवाला से झगड़ भी गये। पर पीछे जब इन अध्यापक महाशय ने विद्यार्थियों को 'मातृविलाप' पर संस्कृत में कविता बनाने को दी तो श्री आपटे-जैसे प्रतिस्पर्द्धी के मुकाबले में भी प्रो० जिंसीवाला ने बाल की कविता को तरजीह दी। उस समय तिलक प्रायः संस्कृत में पद्य लिखा करते थे।

कालेज में प्रथम वर्ष उन्होंने केवल शरीर सुधारने में लगाया। पहले पतले-दुबले थे पर व्यायाम के फल-स्वरूप हृष्ट-पुष्ट हो गये। जहाँ पहले उन्हें खुलकर भूख न लगती थी वहाँ अब जब खाने बैठ जाते तो रसोई बनाने वाला महाराज तंग आ जाता। आरंभ से ही उन्हें कृत्रिमता,

'डेविल' और 'डफबट'

दुर्बलता इत्यादि से घृणा थी। यदि कोई विद्यार्थी अपने को बहुत सुकुमार बनाता हो तो आदत छोड़ देने तक यह उसे तंग करते रहते। यदि कोई विद्यार्थी अपनी ताक़त बढ़ाने के लिए पेटेण्ट औषधियाँ सेवन करता तो ये मौक़ा देख उसकी शीशियाँ खिड़की के बाहर फेंक देते और कहते—"तुम मेरे साथ अखाड़े में चला करो; मैं बिना किसी औषधि के तुम्हारे सब रोग दूर कर दूँगा।" इनका एक सहपाठी बड़ा शौक़ीन था। वह गर्मी के दिनों में फूल लाकर रोज़ शय्या पर उन्हें बिखराता और पुष्प-शय्या तैयार करता। तिलक उसे सदा फटकारा करते—"क्या तुम स्त्री हो जो इस तरह नखरे किया करते हो?" उसकी शय्या को उलट-पलट भी देते थे। ऐसे विद्यार्थियों की टोह में प्रायः वे रात बिरात घूमा करते। किसी के दरवाज़े के काँच तोड़कर, किसी की साँकल खोलकर, पिछवाड़े किसी की खिड़की खोलकर घुस जाते। उनकी इन आदतों के कारण ही उनके बहुतेरे सहपाठी उन्हें 'डेविल' (शैतान) और तात्कालिक पाठ्य पुस्तक 'केनिलवर्थ' उपन्यास के एक पात्र 'डफबट' के नाम से सम्बोधित किया करते थे।

प्राचीनता के प्रति झुकाव

इनके समय में होस्टल के भोजनालय में अधिकांश विद्यार्थी पीताम्बर पहन कर भोजन करते थे। कुछ उसके विरोधी भी हो चले थे। तिलक तो इस प्रथा के कट्टर पक्षपाती थे। यहाँ तक कि यदि कोई जान-बूझकर इसका भंग करता तो यह उससे बहस एवं लड़ाई करने को भी तैयार हो जाते थे। प्राचीनता का यह संस्कार उनमें अन्त तक रहा।

महाराष्ट्र की अवस्था

जिस समय तिलक का जन्म हुआ, उसके बहुत पहले महाराष्ट्र की राजशक्ति का लोप हो गया था। फिर भी बहुत-से लोगों को अपने पूर्व गौरव का वह स्वप्न भूला न था। उनके जन्म काल में भारत ही में जो विद्रोह खड़ा हुआ, उसके संस्कार तिलक के जीवन में शुरू से ही मिलते हैं।

एक दृष्टि से देखें तो ग़दर के बाद भी महाराष्ट्र में ऐसे व्यक्ति सदैव पाये जाते रहे हैं। जो बंगालियों की भाँति, क्रान्ति कर के या हिंसात्मक उपायों द्वारा स्वतंत्र भारतीय राजशक्ति स्थापित करने का स्वप्न देखते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में तो ऐसे अनेक क्रान्तिकारियों को फाँसी हुई ही पर उन्नीसवीं शताब्दी में भी ऐसे व्यक्तियों के होने का उल्लेख महाराष्ट्र के आधुनिक इतिहास में मिलता है। वासुदेव बलवन्त फड़के—ऐसे ही एक व्यक्ति थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी फड़के ने विद्रोह का संगठन करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने निजी तौर पर सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। १८७६—७७ में जब अकाल पड़ा तब डाकुओं को उन्होंने अपना साथी बनाया। धीरे-धीरे उनका इतना आतंक जम गया कि अधिकारी उनके नाम से काँपते थे परन्तु डाकुओं को वह वश में न रख सके। दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। डाकू रुपये के लोभ एवं बुरे स्वभाव के कारण डाका डालते थे और फड़के उन्हें अपने उद्देश्य में नियोजित करना चाहते थे। इसका फल वही हुआ जो होना था; वह फाँसी पर चढ़ा दिये गये।

फड़के

× × ×

इस समय महाराष्ट्र क्या, समस्त भारत की स्थिति में उथल-पुथल हो रही थी। पश्चिम के संसर्ग एवं अंग्रेज़ों के राजनीतिक प्रभुत्व ने प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन के बीज बोने शुरू किये। एक ओर जहाँ जन-समूह में अंध-विश्वास के भाव थे; वहाँ नई शिक्षा के संसर्ग से एक ऐसी पीढ़ी पैदा होने लगी थी जिसमें अपनी वेश-भूषा, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी रीति-नीति में अविश्वास और अश्रद्धा का भाव पैदा हो रहा था। दो धाराएँ एक-दूसरे से टकरा रही थीं। ईसाई मिशनरी अपने धर्म का, शिक्षा, समाज-सेवा तथा अन्य अनेक मोहक एवं उपयोगी रूपों में प्रचार

भारतव्यापी उथल-पुथल

-कर रहे थे। इससे भी विश्वास में शिथिल नवीन हिन्दू युवक पैदा होने लगे थे।

जन-सेवा की दो प्रवृत्तियाँ

पर एक ओर जहाँ नई धारा दुर्बल एवं क्षीण विवेक के युवकों को बहा ले गई वहाँ जिनमें कुछ तत्त्व था, उन्हें उसने समाज एवं राष्ट्र के विषय में नये विचार भी दिये। पश्चिमी शासन-तंत्रों, स्वतंत्रता के इतिहासों एवं समाज-सेवा की संस्थाओं के परिचय में आने से उनमें भी स्वदेश में उनका प्रयोग करने की भावना प्रबल हुई। इस समय जिन लोगों में जन-सेवा का भाव था, उन्हें दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। एक वे जो दृढ़तापूर्वक अपनी पुरानी सभ्यता एवं संस्कृति को अपनाना चाहते थे और युरोप के संसर्ग, अंग्रेजी शासन तथा मिशनरियों के कारण उस पर जो आपत्तियाँ आ रही थीं उनसे उनकी रक्षा करना चाहते थे। उनमें स्वधर्म और स्वदेश दोनों की रक्षा का भाव एक साथ, और एक में मिल-कर, जाग्रत हुआ। इस दल की राय में विदेशियों के आगमन से सबसे बड़ी जो हानि हुई थी वह यह थी कि हमारा अपना राष्ट्रीय व्यक्तित्व छिन्न-भिन्न हो रहा था। जातीय संस्कृति की जो एक जीवित आत्मा होती है, उसके दम घुट रहे थे। इसीलिए १८५७ का विद्रोह धर्म को लेकर स्वदेश के लिए हुआ था और इसलिए हम देखते हैं कि १९१० तक के बंगाली एवं महाराष्ट्र क्रान्तिकारियों की 'फ़िलासफ़ी' अपने धर्म एवं अपनी संस्कृति की मर्यादा की रक्षा के लिए अत्यन्त उद्बुद्ध हो उठी थी। वे अपने आन्दोलन को हिन्दूधर्म की कसौटी पर कसते थे।

दूसरा दल उन लोगों का था, जो यह मानते थे कि ज्ञान सार्वदेशिक वस्तु है और युरोप में कोई अच्छी चीज हो तो उसे लेने में क्या हर्ज है? ये लोग युरोपीय सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के इतिहास से प्रभावित हुए थे। और उन्हें अपने पतन का कारण अपनी सामाजिक कमजोरियों में ही दिखाई दे रहा। इन्हें अपने पतन पर दुःख था

और ये चाहते थे कि शासक जाति ने जिन बातों का अनुकरण कर इतनी प्रधानता प्राप्त कर ली है उन्हें हम भी अपनायें और अपना उद्धार करें। इन लोगोंने उदारतापूर्वक अपनी सामाजिक रीति-नीति में समयानुकूल परिवर्तन आरम्भ किया। इनमें भी दो श्रेणियाँ थीं। एक तो सामाजिक आचार-विचार में बिल्कुल पश्चिमी थी और दूसरी अपने में समयानुकूल परिवर्तन करके भी अपने निर्माण का आधार अपनी ही संस्कृति को बनाना चाहती थी। इस दल में राजनीतिक कार्यकर्ता की अपेक्षा समाजसेवक या सुधारक अधिक हुए।

महाराष्ट्र पर प्रभाव

तिलक के पूर्व महाराष्ट्र की समष्टि-आत्मा पर जिन दो महानुभावों का विशेष प्रभाव हुआ वे श्री महादेव गोविंद रानडे और श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर थे। रानडे राजनीतिक एवं बौद्धिक नेता थे और चिपलूणकर मुख्यतः सामाजिक एवं धार्मिक। प्रतिभा, स्वदेश-प्रेम तथा राजनीतिक ज्ञान की दृष्टि से रानडे उस समय के प्रान्तीय नहीं, एक सर्वभारतीय नेता थे। महाराष्ट्र के खोये हुए तेज में चैतन्य लाने वालों में रानडे का प्रधान हाथ है। रानडे ने न केवल राजनीतिक जागृति के लिए आन्दोलन किया वरन् सामाजिक कुरीतियों के निवारण पर भी जोर दिया। वह पहले भारतीय नेता थे जिन्होंने इसका अनुभव किया कि भारत की उन्नति किसी एक क्षेत्र में बाँध कर रखी नहीं जा सकती; वह सर्वाङ्गीण होनी चाहिए। उनकी उदारता एवं दृष्टि की विशालता प्रशंसनीय थी। विधवा विवाह, प्रार्थना समाज एवं धार्मिक सहिष्णुता के वह कट्टर समर्थक थे। उस समय बहुत थोड़े लोगों में इतना आगे बढ़ने की हिम्मत थी। इसलिए बहुत से लोग उनके विरोधी भी थे। पर वह जो कुछ करते गुप्त रूप से ही करते थे। उधर सरकारी नौकरी में रहते हुए देश-सेवा की वृत्ति के कारण सरकार भी इनसे नाराज रहती थी। रानडे राष्ट्रीय महासभा के संस्थापकों में से थे। वक्तृत्वोत्कर्ष,

बसन्त व्याख्यान-माला, औद्योगिक परिषद् प्रदर्शनियाँ, महिला हाई-स्कूल, प्रार्थना-समाज, सार्वजनिक सभा, पुस्तकालय इत्यादि पूना की शायद ही कोई ऐसी संस्था रही हो जिसके संचालन में उनका गुप्त या प्रकट हाथ न रहा हो। लोकमान्य तिलक विरोधी होते हुए भी, रानडे की उपमा हेमाद्रि या माधवाचार्य से दिया करते थे।

इसी प्रकार श्रीचिपलूणकर ने अपनी 'निबन्ध माला' से विशेष कार्य किया। विद्यार्थी—समाज पर उनका बड़ा प्रभाव था। वह एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्भीक व्यक्ति थे। सरकारी नौकरी पर भी उन्होंने लात मार दी और उसकी 'रुपहली बेड़ियों' को तोड़कर स्वतंत्र रूप से स्वतंत्र शिक्षा के प्रसार में लग गये थे।

इन दो पुरुषों के अलावा सर्वश्री दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, तैलंग और भण्डारकर इत्यादि का भी महाराष्ट्र की युवक पीढ़ी पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। तिलक पर तो रानडे का बड़ा प्रभाव पड़ा। इन महापुरुषों के कारण ही महाराष्ट्र में जागृति हुई और युवकों में देशसेवा, समाज-सेवा एवं जन-सेवा के भाव आये।

सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश

तिलक जब एल० एल० बी० में पढ़ रहे थे और जब कालेज की शिक्षा समाप्ति पर आ रही थी तभी से उनके सामने यह प्रश्न था कि आगे जीवन का क्या कार्य-क्रम निश्चित किया जाय?

जन-सेवा की प्रेरणा

इनके साथियों में आगरकर मुख्य थे। यद्यपि आगरकर के विचार धार्मिक एवं सामाजिक मामलों में तिलक से भिन्न थे किन्तु दोनों में देश तथा समाज सेवा की लगन थी। दोनों सरकारी नौकरी करने के विरुद्ध थे और सार्वजनिक कार्यों में लगाना चाहते थे। एक दिन तिलक और आगरकर में इस बात पर विवाद हुआ कि राजनीतिक सुधार की पहले आवश्यकता

है या सामाजिक ? आगरकर का कहना था कि समाज की नींव जबतक पक्की न होगी तबतक राजनीतिक जाग्रति स्थायी नहीं हो सकती। तिलक का कहना था कि बिना राजनीतिक सुधार एवं सुविधा के हमारे देश की गरीबी का प्रश्न हल नहीं हो सकता और न समाज-सुधार का काम ही उचित रूप में किया जा सकता है। बहुत वाद-विवाद के बाद दोनों में यह समझौता हुआ कि सर्वांगीण शिक्षा का कार्य हाथ में लिया जाय। यह दोनों के लिए मध्य-मार्ग था। इसलिए दोनों ने इसे पसन्द किया।

जिन दिनों आगरकर और तिलक ने यह निश्चय किया उन्हीं दिनों श्री चिपलूणकर सरकारी नौकरी छोड़कर पूना आये थे और एक स्वतंत्र पाठशाला स्थापित करने के उद्योग में थे। जब इन लोगों को यह बात मालूम हुई तो ये शास्त्री जी से उनके घर पर जाकर मिले (सितम्बर १८७६ ई०) और वचन दिया कि पाठशाला खुलने पर हमलोग सब तरह आपका साथ देंगे। उन दिनों तिलक क़ानून में और आगरकर एम० ए० में पढ़ रहे थे। इनके साथ बी० ए० के दो छात्र और भी थे पर बाद में उनके विचार बदल गये। अस्तु; इस भेंट में सब बातें तै हो गईं और पाठशाला के स्थापन का निश्चय कर लिया गया।

फल-स्वरूप १ जनवरी १८८० ई० को, १६ लड़कों के साथ, स्कूल की स्थापना हुई। इसका नाम 'न्यू इंग्लिश स्कूल' रखा गया। शास्त्रीजी (चिपलूणकर) और तिलक ने कार्यारंभ किया।

'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना

आगरकर एम० ए० की परीक्षा में फेल हो गये थे इसलिए वह साल भर बाद दूसरी बार परीक्षा देकर पास हो जाने पर पाठशाला के कार्य में सम्मिलित हुए। इनके अलावा श्री माधव राव एन० जोशी-जैसे कर्मठ एवं जन-सेवी शिक्षक का सहयोग भी स्कूल को प्राप्त हुआ तथा और भी शिक्षक मिल गये। इससे स्कूल जोरों से चला और केवल तीन महीनों में विद्यार्थियों की संख्या ५०० हो गई। मज़ा तो यह है कि स्कूल में

केवल सातवीं कक्षा तक पढ़ाई होती थी।

आरम्भ में यह स्कूल स्वतंत्र रीति पर चलाया गया था; श्री चिपलूणकर को इसके स्वतंत्र संचालन पर गर्व भी था पर जब विद्यार्थियों की संख्या के साथ व्यय भी बढ़ा तब सरकारी सहायता ली जाने लगी। इस स्कूल ने ४-५ वर्षों में ही बड़ी उन्नति कर ली और फिर तो मैट्रिक तक पढ़ाई होने लगी। १८८४ ई० में इसमें १००६ छात्र थे और उस साल मैट्रिक में ८१ प्रतिशत विद्यार्थी पास हुए थे। महाराष्ट्र में विद्या-द्वारा जागृति लाने में इस स्कूल ने बड़ा काम किया।

ऊपर हम यह कह ही चुके हैं कि शिक्षा-द्वारा जनता में जागृति लाने के उद्देश्य से ही तिलक ने स्कूल का कार्य आरम्भ किया था। उनकी इच्छा तो कालेज खोलने की थी पर आरम्भ में वैसा संयोग प्राप्त नहीं हुआ। स्कूल की उत्तरोत्तर उन्नति तथा बीच की अन्य घटनाओं (जिसका वर्णन आगे यथास्थान किया जायगा) के कारण स्कूल में अध्यापन-कार्य करनेवाले कई अध्यापकों ने एकत्र होकर २४ अक्तूबर १८८४ को 'डेकन एजूकेशन सोसाइटी' (दक्षिण शिक्षा-समिति) की स्थापना की और इसके आजीवन सदस्य बन गये। २ जनवरी १८८५ को सोसाइटी की ओर से फर्गुसन कालेज की स्थापना हुई। ५ मार्च १८८५ को नई इमारत की नींव रक्खी गई पर सात वर्ष बाद ११ जनवरी १८९२ को बम्बई के गवर्नर लार्ड हैरिस द्वारा फिर दूसरी जगह नींव डाली गई। इस कालेज में पढ़कर महाराष्ट्र के न जाने कितने समाज-सेवक उत्पन्न हुए हैं।

दक्षिण-शिक्षा समिति तथा फर्गुसन कालेज की स्थापना

तिलक और आगरकर आरंभ में जिस उद्देश्य को लेकर चले थे, कालेज बढ़ जाने एवं सरकार से सम्बन्ध हो जाने पर, उसकी पूर्ति में बाधाएँ आने लगीं। आजीवन सदस्यों में भी कार्य-शैली एवं सदस्यों को मिलनेवाली सुविधाओं के विषय में मत-भेद होने लगा। एक

दल (जिसमें तिलक थे) कहता था कि आजीवन सदस्यों को अपना सारा समय, शक्ति और बुद्धि इसी संस्था में लगानी चाहिए और निर्वाह भर के लिए वृत्ति लेनी चाहिए। उन्हें बाहर से यदि कुछ मिले तो वह संस्था का। पर दूसरा दल कहता कि संस्था के कार्य का जो समय है उसके बाद अन्यत्र काम करने की छूट होनी चाहिए। फलस्वरूप ४ अक्टूबर १८६० ई० को, जब मत-भेद बहुत बढ़ गया तो, तिलक उससे अलग हो गये और १५ दिसम्बर को आजीवन सदस्यता से विस्तृत त्यागपत्र भेज दिया।

सोसायटी से सम्बन्ध-त्याग

'केसरी' और 'मराठा'

जब तिलक और आगरकर ने जन-शिक्षा के लिए जीवन अर्पित किया तभी उन्होंने विचार किया था कि इसके दो साधन, मुख और लेखनी—पाठशाला और समाचारपत्र हैं। अतः स्कूल खुलने के बाद ही समाचारपत्र निकालने का भी निश्चय हुआ। १८८१ ई० से 'केसरी' मराठी में और 'मराठा' अंग्रेज़ी में निकलने लगे। इन दोनों पत्रों पर स्कूल के मुख्य मुख्य कार्यकर्ताओं का सम्मिलित स्वामित्व समझा जाता था। 'केसरी' के सम्पादक श्री आगरकर हुए, 'मराठा' के श्री तिलक। 'केसरी' में साहित्य-विषयक लेख शास्त्रीजी (चिपलूणकर) लिखते; इतिहास, अर्थ-शास्त्र और सामाजिक विषयों पर आगरकर और धर्म-शास्त्र, राजनीति एवं क़ानून-सम्बन्धी लेख तिलक लिखते थे। आगरकर के लेखों में सुधारक की सामाजिक विषयों में उदारभाव से सोचने की प्रवृत्ति, विनोद, निस्पृहता एवं भावुकता स्पष्ट दिखाई देती है। तेजस्विता, जोश, प्राचीनता के प्रति आकर्षण, राजनीतिक सुधार की आकांक्षा तिलक की विशेषता है।

१८८१ के अन्त में कोल्हापुर के सम्बन्ध में 'केसरी' और 'मराठा' में कुछ लेख छपे। इस पर वहाँ के दीवान श्रीबर्वे ने उनपर मान-हानि

का मुकदमा चलवाया। ८ फरवरी १८८२ ई० से बम्बई के प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट श्रीवेब के सामने मामले की जाँच शुरू हुई। २६ फरवरी को अन्तिम पेशी हुई और मामला सेशन सुपुर्द कर दिया गया। २०००) के मुचलके एवं एक-एक हज़ार की दो ज़मानतों पर

कोल्हापुर का मुकदमा

तिलक और आगरकर छोड़ गये। इस मामले में कई प्रतिष्ठित मित्रों के ज़ोर डालने पर यद्यपि तिलक और आगरकर ने बर्वे से लिखित माफ़ी माँग ली, फिर भी बर्वे ने मुकदमा न उठाया। १७ जुलाई को दोनों को चार-चार महीने की सादी क़ैद की सज़ा हुई। अच्छे व्यवहार के कारण १६ दिन की छूट मिली और दोनों डोंगरी जेल से १०१ दिन में ही छोड़ दिये गये। 'डोंगरी जेल में १०१ दिन' नामक अपनी पुस्तिका में आगरकर ने जेल-जीवन का वर्णन किया है। इस अवधि में तिलक का २४ और आगरकर का १६ पौण्ड वज़न कम हो गया।

पर इस सज़ा से तिलक और आगरकर के प्रति लोगों में आदर और श्रद्धा का भाव बढ़ गया। इस दृष्टि से ये सज़ाएँ उनके सार्वजनिक जीवन की उन्नति में सहायक हुईं। २६ अक्टूबर (१८८२ ई०) को जब दोनों जेल से छूटे तो जेल पर उनके स्वागतार्थ दो हज़ार आदमी एकत्र थे। दोनों गाड़ी में बिठाकर शहर में लाये गये, स्थान-स्थान पर उनका सत्कार किया गया। जुलूस सारे शहर में घुमाया गया और सार्वजनिक सभा में सम्मान किया गया। इनके छूटने के पूर्व भी प्रि० वर्डसवर्थ इत्यादि प्रतिष्ठित पुरुषों ने सरकार पर सज़ा रद्द कर देने के लिए ज़ोर डाला था।

यह पहले ही लिखा जा चुका है कि यद्यपि तिलक और आगरकर घनिष्ट मित्र थे और दोनों ने एक साथ ही सार्वजनिक जीवन में आने का निश्चय किया था किन्तु दोनों की विचार-धारा में बड़ा अन्तर था। आगरकर के सामाजिक विचार आज-कल के सच्चे समाज-सुधारक के

आगरकर का 'केसरी' से सम्बन्ध-विच्छेद

समान थे। वह बाल विवाह, वृद्ध-विवाह के कट्टर विरोधी थे और अस्पृश्यता-निवारण एवं विधवा-विवाह के भी पक्षपाती थे। यहाँ तक कि इन के लिए आन्दोलन करके और सरकार पर जोर डालकर क़ानून बनाने की आवश्यकता भी वह अनुभव करते थे। तिलक इन विषयों में स्वयं सुधार की चेष्टा करते हुए भी जल्दबाज़ी नहीं करना चाहते थे और उनका यह भी कहना था कि इस प्रकार की, धर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध रखनेवाली विवाह इत्यादि प्रथाओं के सम्बन्ध में सरकारी क़ानून बनाकर दबाव डालना अनुचित है। आगरकर आधुनिक विचार-प्रवाह की ओर झुके हुए थे और तिलक प्राचीनता की ओर। इसलिए इन लोगों में प्रायः वाद-विवाद हुआ करता था। उस समय समाज आजकल से बहुत पीछे था इसलिए अधिकांश लोग तिलक के विचार के ही थे। यद्यपि सोसायटी की कार्य-समिति में रानाडे इत्यादि का प्रवेश हो चुका था फिर भी सामाजिक विषयों में बहुमत तिलक के पक्ष में था। इसका परिणाम यह होता था कि आगरकर पूर्णतः अपने विचार सम्पादकीय लेखों में प्रकट न कर सकते थे क्योंकि उस समय सम्पादक का नाम पत्र पर नहीं छपता था और 'केसरी' की सम्मति सोसायटी के सदस्यों की सम्मिलित सम्मति समझी जाती थी। इसलिए प्रायः 'केसरी' में वही छपता जो बहुमत के विरुद्ध न पड़ता था। किसी विषय पर यदि आगरकर का विशेष मत-भेद होता तो उसे वह प्राप्त पत्र के रूप में छापते थे। मतलब यह कि आगरकर-जैसे समाज-सुधारक के लिए यह अवस्था अवांछनीय हो उठी थी और कभी-कभी मत-भेद की तीव्रता से एक दुःखद वातावरण बन जाता था। फिर भी किसी तरह काम चलता रहा पर १८८४ ई० में कुछ बातों को लेकर मत-भेद बहुत तीव्र हो गया और स्कूल के कार्यकर्ताओं में झगड़े शुरू हो गये। बात यह थी कि बम्बई के सेठ मलाबारी ने बाल-विवाह के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी और प्रस्ताव किया था कि इस विषय में सरकार से क़ानून बनाने की सहायता लेनी चाहिए। इसी बात को लेकर बड़ा तूफ़ान खड़ा

हो गया था। जैसे अस्पृश्यता-निवारण बिल का विरोध यह कहकर किया गया कि सरकार को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए वैसे ही इस समय भी हुआ। आगरकर, रानडे इत्यादि सरकारी सहायता लेकर कानून द्वारा यह बुराई रोकने के पक्ष में थे और तिलक, तैलंग इत्यादि विपक्ष में। जो दलीलें आज भी दी जाती हैं, ठीक वे ही उस समय भी दी जाती थीं। आगरकर सम्पादक थे, इसलिए उनकी स्थिति इस समय बड़ी बुरी हो रही थी। इधर बहुमत उनके विचारों के विरुद्ध था। बड़े झगड़े के बाद १६ दिसम्बर १८८४ के अङ्क में निजी हस्ताक्षर से आगरकर ने अपना व्यक्तिगत मत प्रकट किया। पर इससे कुछ नहीं हुआ; दिन-दिन परस्पर कलह बढ़ता ही गया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि जो सदस्य चाहे अपने ऊपर जिम्मेदारी लेकर इन पत्रों को चला सकता है। उस समय आगरकर ही सम्पादक थे इसलिए पहला मौका उन्हें ही दिया गया पर उनके पास इतने पैसे कहाँ थे इसलिए २५ अक्टूबर १८८७ को तिलक 'केसरी' के प्रकाशक हुए और उनपर ही ज़िम्मेदारी भी आ गई; आगरकर अलग हो गये। आगे चलकर जब 'केसरी' और 'मराठा' ('मराठा' के सम्पादक श्री वासुदेवराव केलकर हो गये थे) का मत-भेद बहुत बढ़ा और पत्र पर ७००० का कर्ज़ भी हो गया तो सोसायटी ने पत्र का स्वामित्व बेच देने का निश्चय किया। फलतः १८६१ ई० में तिलक ने सारे कर्ज की ज़िम्मेदारी के साथ दोनों पत्रों को ले लिया।

अक्टूबर १८८८ से, श्री गोखले की सहायता से, आगरकर ने 'सुधारक' नाम का दूसरा पत्र निकाला। यह अंग्रेजी-मराठी में निकलता था। आगरकर मराठी में और गोखले अंग्रेजी में लिखा करते थे। गोखले यद्यपि अवस्था में छोटे थे पर अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। इसलिए पत्र बहुत अच्छा निकला। गोखले अधिकतर राजनीतिक विषयों पर ही लिखते थे। इन लोगों ने केवल ४) मासिक लेकर प्रथम

'सुधारक'

वर्ष पत्र चलाया। आगरकर ने कभी धन की इच्छा न की और अपना सारा जीवन समाज-सेवा में लगा दिया।

पर इन मत-भेदों और झगड़ों के बीच भी तिलक और आगरकर एक-दूसरे को बहुत चाहते थे और मृत्यु के समय आगरकर ने तिलक को बुलाया था और तिलक उनकी मृत्यु के बाद बहुत रोये थे।

क्राफर्ड-प्रकरण

उधर आगरकर ने सुधारक निकाला, इधर डेकन एजूकेशन सोसायटी से अलग होने के बाद अन्य सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने का समय और अवसर तिलक को मिल गया। इससे जहाँ सोसायटी की हानि हुई वहाँ देश का लाभ हुआ। न तिलक सोसायटी छोड़ते, न देश के विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्र में आते। १८८५ ई० से कांग्रेस का नियमित वार्षिक अधिवेशन होने लगा था। पहला अधिवेशन पूना में ही होने वाला था पर कई असुविधाओं के कारण बम्बई में हुआ। १८८९ ई० में कांग्रेस का पाँचवाँ अधिवेशन जब फिर बम्बई में करने का विचार हुआ तब पूना-वासियों की ओर से तिलक यह निवेदन-पत्र लेकर बम्बई गये कि यह कांग्रेस पूना में ही होनी चाहिए। यद्यपि इस विषय में सफलता नहीं हुई पर इससे यह मालूम पड़ता है कि धीरे-धीरे पूना की जनता पर तिलक का अधिकार होता जा रहा था। इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण तिलक की लोकप्रियता और बढ़ गई।

क्राफर्ड साहब नामक एक सिविलियन रत्नागिरि के कमिश्नर थे। ये भारतीयों से बहुत हेल-मेल रखते थे; रत्नागिर को अपनी जन्मभूमि की तरह मानते थे। कोंकणी मराठी ऐसी बोलते जैसे कोई किसान बोल रहा हो पर इसके साथ ही वे बड़े खर्चीले और अनियमित थे। बंगले पर हा-हा, हू-हू होता रहता; शराब उड़ा करती, तरह-तरह के भोजन बनते और पार्टियाँ हुआ करती थीं। ज़िले के अन्य अंग्रेज़ों की स्त्रियाँ भी आतीं। उन्हें यह छोटे-बड़े तरह तरह के उपहार दिया करते।

इस प्रकार उनका खर्च वेतन से कहीं अधिक था। इसलिए उन्हें रिश्वत लेने का अभ्यास पड़ गया। तहसीलदारों के द्वारा यह काम होता था। धीरे-धीरे सरकार को भी इसका पता चला। कुछ दिन पता लगाने के बाद पुलिस इन्सपेक्टर-जनरल श्री ओमनी की इस कार्य पर नियुक्ति हुई। उन्होंने खोज शुरू की। तै यह हुआ कि पहले कुछ तहसीलदारों पर मामला चलाया जाय और धीरे-धीरे सब मामला प्रकाश में लाया जाय। तहसीलदारों को यह आश्वासन दिया गया कि सच्ची बातें प्रकट कर देने पर उनकी कोई क्षति न होगी।

क्राफर्ड साहब पर जब इस प्रकार का दोषारोपण किया गया तब जनता इस मामले में रस लेने लगी। उस समय गोरों की ईमानदारी की डींग हाँकने और हिंदुस्तानियों को बेईमान और झूठा कहने की चाल अंग्रेज़ों में पड़ गई थी इसलिए जब यह भेद खुला तो भारतीयों ने समझा कि अंग्रेज़ भी हमारी ही तरह आदमी हैं और अपने बारे में जो दून की हाँकते हैं और शान बघारते हैं वह गलत है।—इस समय उनके लिए लज्जित होने का मौक़ा आया है। जनता के रस लेने का यही कारण था। 'केसरी' इस मामले में शुरू से आन्दोलन कर रहा था।

१६ जुलाई १८८८ को हनुमन्तराव जागीरदार की गिरफ्तारी हुई। अभी तक क्राफर्ड साहब पर मामला चला न था; वह मुअत्तल कर दिये गये थे। क्राफर्ड साहब के पक्ष के जिन तहसीलदारों ने अपराध स्वीकार नहीं किया, वे भी मुअत्तल कर दिये गये। इधर उन गोरों ने भी, जो क्राफर्ड साहब के विरुद्ध थे, जाति का अपमान समझकर इस मामले में सहायता करने से इन्कार कर दिया। मामले को जातीय रूप दे दिया गया। इसलिए क्राफर्ड साहब पर मामला न चलाया जाकर कमीशन द्वारा जाँच की बात मन्जूर हुई। २३ अक्टूबर १८८८ को कमीशन ने काम शुरू किया। सरकारी वकील एडवोकेट-जेनरल लेथम और बैरिस्टर जार्डिन थे। पर मामले में न्याय की अपेक्षा वर्ण-पक्षपात का भाव इतना

तीव्र कर दिया गया कि सरकारी वकील श्री लेथम ने बहस के अन्त में स्वयं कहा —"इस जाँच से सभी को बुरा लगा है। हमने जहाँ तक हो सका क्राफर्ड साहब के प्रति रियायत की किन्तु आखिर हमें भी अपना पक्ष सँभालना था। आपने (न्यायकर्त्ता से) यदि क्राफर्ड साहब को निर्दोष ठहराया तो हमें सन्तोष ही होगा और आपने यदि कहा कि क्राफर्ड साहब अपनी निर्दोषता सिद्ध न कर सके तो इससे हमें बहुत दुःख होगा। **इसमें अकेले क्राफर्ड की ही बदनामी नहीं है वरन् सारी अंग्रेज जाति को इससे कलंक का टीका लग जायगा।**"*

सरकारी वकील के भाषण से यह स्पष्ट है कि इस मामले को जातीय रूप देकर दबाया जा रहा था। इससे इसमें न्याय की तो आशा ही क्या की जा सकती थी। अन्त में वही हुआ जो होना था। कमीशन ने रिश्वत का अपराध झूठा ठहराया और सिर्फ अपने मातहतों से ऋण लेने की बात मंजूर की। पेंशन देकर क्राफर्ड साहब विलायत भेज दिये गये।

मजा तो यह कि एक ओर जहाँ क्राफर्ड साहब रिश्वत के इल्जाम से बरी कर दिये गये वहाँ हनुमन्तराव को दो वर्ष की सजा और दो हजार जुर्माना हुआ तथा अन्य तहसीलदार भी दण्डित हुए। इस मामले में एक तो न्याय न हुआ, दूसरे एक ही जुर्म में एक आदमी निर्दोष और दूसरा अपराधी क़रार दिया गया। 'तहसीलदारों को कोई हानि न पहुँचने दी जायगी', यह वचन देकर उसका भंग किया गया। इस बात—विशेषतः अन्तिम—को लेकर तिलक ने खूब आन्दोलन किया और 'केसरी'—द्वारा भी इसपर खूब प्रकाश डाला। इस सम्बन्ध में ९ सितम्बर १८८९ को बहुत बड़ी सार्वजनिक सभा हुई जिसमें अनेक प्रतिष्ठित लोग उपस्थित थे। इसमें तिलक ने बड़ा ओजस्वी भाषण किया जिसका जनता पर बड़ा असर पड़ा। इस मामले को पार्लमेंट में उठाने के लिए भी तिलक ने श्री डिगबी और श्री ब्रैडला से बहुत पत्र व्यव-

---

***मोटे** टाइप लेखक के हैं।

हार किया ; उन लोगों ने सहायता का वचन भी दिया था पर सरकारी कार्यों की बहुलता के कारण दिलचस्पी लेने पर भी, श्री ब्रैडला इसे पार्लमेंट में उठा न सके। मतलब यह है कि यद्यपि उन आठ तहसीलदारों का तो कोई विशेष लाभ नहीं हुआ पर इससे जनता का ब्रिटिश न्याय में जो विश्वास था उसको धक्का लगा और फलतः महाराष्ट्र में जागृति का सिलसिला शुरू हुआ; तिलक जनता के सीधे सम्पर्क में आये और इसमें उनकी लोकप्रियता भी बढ़ गई।

× × ×

१८८९ ई० में जब 'केसरी' और 'मराठा' का स्वामित्व पूरी तरह तिलक के अधिकार में आया तब से वह इन पत्रों के सम्पादन की ओर विशेष रूप से ध्यान देने लगे। उनकी सादा पर, 'केसरी' और 'मराठा' ओजस्विनी भाषा, विषय के प्रतिपाद की सरल एवं स्पष्ट पद्धति, विद्वत्तापूर्ण एवं तर्क-शुद्ध विवेचन और कड़ी किन्तु मार्मिक आलोचना के कारण 'केसरी' की लोक-प्रियता और ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी। बहुत शीघ्र इसकी ग्राहक-संख्या ५,००० हो गई और आगे तो वह ज़माना भी आया जब बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस हज़ार कापियाँ छपती थीं। 'केसरी' का महाराष्ट्र की विचार-पद्धति एवं राजनीतिक विकास में क्या स्थान है, इसे अन्य प्रान्तों के लोग नहीं समझ सकते। एक समय तो वह था कि ऐसा कोई भी शिक्षित महाराष्ट्र परिवार नहीं था जहाँ 'केसरी' न आता हो। आज वह बात ज्यों की त्यों तो नहीं रह गई है पर अब भी मराठी समाचार पत्रों में उसका आदर और स्थान वही है। अब भी अन्य प्रान्तों में रहने वाले महाराष्ट्रीय उसे मँगाते हैं। मराठी जनता की जागृति, भाषा एवं साहित्य की उन्नति तथा एक विशेष विचार-धारा बनाने में 'केसरी' का बड़ा हाथ है।

'केसरी से जो कुछ लाभ होता था वह या तो 'मराठा' की घटी में चला जाता था या सात हज़ार का जो कर्ज था उसकी पूर्ति में। इसलिए

सोसायटी छोड़ने के बाद तिलक के सामने जीविका का भी प्रश्न था। इसके लिए उन्होंने दो उद्योगों की योजना की। एक तो

जीविका का प्रश्न

बहुत दूर—गाँव में एक जिनिंग फैक्टरी खोली; दूसरे 'ला—क्लास' (कानूनी कक्षा) लेना आरंभ किया। फैक्टरी तीन आदमियों के साझे में थी। यह जिनिंग फैक्टरी कभी लाभ, कभी घाटे में चली और उससे कभी जीविका का प्रश्न हल नहीं हुआ। हाँ, ला—क्लास खूब चला। आरम्भ में प्रथम वर्ष का, बाद में दूसरे वर्ष का इस प्रकार दोनों क्लास नियमित रूप से चलते रहे। पढ़ाने के लिए कुछ और भी योग्य साथी मिल गये थे। इससे तिलक को लगभग १५०) मासिक की आय हो जाती थी। यह क्लास १८८६ ई० के अन्त तक चलता रहा। उसके बाद 'केसरी'—'मराठा' का, तथा सार्वजनिक, काम बढ़ जाने से बन्द कर देना पड़ा।

'केसरी' के कारण दिन-दिन तिलक जनता के सम्पर्क में आते गये। १८९०-९१ में सम्मतिवय-विषयक बिल का झगड़ा जब जोरों पर था और श्री भंडारकर, रानडे, गोखले इत्यादि बिल का

दो सार्वजनिक उत्सव

समर्थन कर रहे थे तब, तिलक ने शास्त्रों का पक्ष लेकर क़ानून-द्वारा इस प्रकार के धार्मिक सुधार को अनुचित बताया था एवं इस सम्बन्ध में अपनी तर्क-शैली एवं विवाद-प्रणाली से बहुतों के मुँह बन्द कर दिये थे। जनता तिलक को भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का रक्षक समझने लगी थी। इधर तिलक ने देखा कि जनता में जागृति लाने के लिए अपने त्योहार और मेले सर्वोत्तम उपाय हैं अतः इसका संचालन इस ढंग से करना चाहिए कि उद्देश्य की सिद्धि हो। इसी उद्देश्य से 'केसरी'—द्वारा तथा अन्य प्रकार से आन्दोलन करके उन्होंने गणपति उत्सव और शिवाजीजयन्त्युत्सव की नींव डाली। पहला धार्मिक और दूसरा राजनीतिक था। १८९३ ई० में गणपति-उत्सव और १८९४ ई० में शिवाजी-उत्सव का आरंभ हुआ। धीरे धीरे

इनका रूप बड़ा व्यापक हो गया। यद्यपि समय ने सर्वत्र फूट का बीज बो दिया है किन्तु ये उत्सव आज भी सैकड़ों जगह मनाये जाते हैं। गणपति-उत्सव में धार्मिक चर्चा, पुरातन प्रथाओं एवं संस्कारों का विवेचन नये ढंग से किया जाता है। शिवाजी-उत्सव में ऐतिहासिक घटनाओं, स्फूर्तिदायक एवं साहस तथा बल देनेवाले वीर चरित्रों का गुण-गान होता है। शिवाजी-उत्सव-द्वारा तिलक ने खोई हुई विभूति के लिए दर्द पैदा करने और राष्ट्र की उन्नति की लौ जगाने का काम किया। इसको ऐसा राष्ट्रीय रूप दिया गया था कि बहुत-से मुसलमान भी इसमें शरीक होते थे। बंगाल में भी इसका प्रचार हुआ। महाराष्ट्र के युवकों में स्वधर्म एवं स्वराज का प्रेम जगाने में, 'केसरी' के साथ, इन उत्सवों ने बड़ा काम किया है। सर वैलेण्टाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय अशान्ति' (Indian Unrest) में दक्षिणात्यों की जागृति का कारण इन उत्सवों को ही बताया है।

इन दिनों तिलक की लोक-प्रियता और समाज में उनका प्रभाव दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। उनके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ती जाती थी। महाराष्ट्र में जिस तरुण तेजस्वी और स्वाभिमानी राष्ट्रीय दल का जन्म हुआ, उसके वे नेता माने जाते थे। सरकार के लोकहित-विरोधी कार्यों की वह कड़ी आलोचना करते थे और कष्ट के प्रत्येक अवसर पर जनता का साथ देते थे। उनके इन कार्यों की छाप राष्ट्रीय विचार के कार्यकर्ताओं पर पड़ी थी। लोकमान्य, 'केसरी' तथा इसी प्रकार के प्रभावों के कारण महाराष्ट्र का राष्ट्रीयदल अन्य प्रान्तों के राष्ट्रीय दल से एक बिलकुल ही भिन्न प्रकार का बन गया था। उसका एक विशेष ढंग एवं व्यक्तित्व था। इस दल को हिन्दू धर्म एवं सभ्यता तथा संस्कृति पर बड़ा अभिमान था। देश एवं धर्म के लिए वह सब प्रकार के त्याग करने को तैयार रहता था। तिलक इस दल के नेता थे। श्री शिरोल ने द्वेष-भरे शब्दों में लोकमान्य का जो वर्णन किया है और उन्हें हिन्दू

कट्टरता का नेता, गणेश का प्रधान पुरोहित, नवीन राष्ट्र-धर्म का प्रवक्ता कहा है × उससे उनका प्रभाव व्यक्त होता है।

कौंसिल में

१८९५ ई० में तिलक बम्बई कौंसिल के सदस्य चुने गये। उसके अन्दर भी उन्होंने जन-पक्ष का समर्थन उसी निर्भीकता से किया और सरकार की अनुचित कार्रवाइयों का सदा दृढ़ता-पूर्वक विरोध किया।

अकाल और प्लेग

१८९६ ई० में महाराष्ट्र में अकाल पड़ा। उससे लोग त्रस्त हो गये थे। इस समय तक तिलक का प्रभाव जनता में खूब बढ़ गया था। पूना की सार्वजनिक सभा, 'केसरी', कौंसिल तथा म्युनिसिपलिटी द्वारा वह जनता की सेवा कर रहे थे। कांग्रेस में भी शरीक होते और उसके कार्यों में भी हाथ बटाते थे। १८९६ के अकाल में सार्वजनिक सभा के मंत्री की हैसियत से अकाल-पीड़ित लोगों के लिए उन्होंने आन्दोलन किया था एवं उनकी सहायता की थी। इस सम्बन्ध में 'केसरी' में भी कितने ही लेख निकाले थे। सार्वजनिक सभा के अनेक प्रतिनिधि और प्रचारक उस समय सम्पूर्ण महाराष्ट्र में फैल गये थे और जनता की सभाएँ करके उन्हें संगठित होकर परस्पर सहायता करने एवं दबाव डालकर सरकार से सहायता प्राप्त करने का उपदेश करते थे। कई जगह फसल न होने पर क़र्ज़ लेकर लगान न देने का भी उपदेश किया गया था जिसके सम्बन्ध में तीन प्रचारकों पर मुक़दमे भी चलाये गये थे। तिलक 'केसरी'-द्वारा बराबर अकाल-सम्बन्धी आन्दोलन को उत्साह एवं बल देते रहे तथा इस सम्बन्ध में सस्ते अनाज की दुकानें खुलवाना आदि

× "He (Mr. Tilak) was the triumphant champion of Hindu orthodoxy, the high-priest fo Ganesh, the inspired prophet of a new Nationalism, which in the name of Shivaji would cast out the Mlecchas and restore the glories of the Mahratta history."—Indian Unrest. page 47

दूसरे कार्य भी करते रहे। इस समय महाराष्ट्र में होनेवाले लगभग प्रत्येक आन्दोलन में तिलक का हाथ था।

कहते हैं—विपत्ति अकेले नहीं आती। अभी अकाल का सिलसिला भली भाँति टूटा भी न था कि दूसरी विपत्ति आ गई। १८६७ में भयंकर ब्यूबोनिक प्लेग फैला। इस छूतही बीमारी की उस समय की भयंकरता का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले ही पहले इसका आक्रमण एवं आरंभ हुआ था। इससे लोग बिलकुल घबड़ा गये। चूँकि यह छूत की बीमारी थी इसलिए उसका प्रभाव एवं प्रसार रोकने के लिए सरकार ने क्वारंटाइन और घरों की सफ़ाई-सम्बन्धी कुछ नियमों का कड़ाई के साथ पालन कराना आरंभ किया। ग़लती यह हुई कि इस कार्य में गोरे सैनिकों की मदद ली गई। पुलिसमैन तथा गोरे सैनिक लोगों को बहुत तंग करते। पुलिसवाले किसी को यह कहकर कि तुम्हें प्लेग हो गया है, अस्पताल चलना पड़ेगा, घूस लेते फिरते थे। प्लेग के कीटाणुओं के नाम पर चीज़ें जलाने का अधिकार भी अधिकारियों तथा इन गोरे सैनिकों को था। तिलक सफ़ाई एवं चिकित्सा तथा उपचार का तो समर्थन करते थे पर उनका यह भी कहना था कि सरकार द्वारा इतनी सख्ती से काम लिया जा रहा है कि लोग भयग्रस्त हो रहे हैं—फलतः इस व्यवस्था का उद्देश्य ही विफल हो रहा है।' गोरे सिपाही कहीं घर के देवस्थान में, कहीं जनाने में घुस जाते। जिस चीज़ को चाहते उलटते-पुलटते; कभी-कभी जेब में भी रख लेते। जिस चीज़ को चाहते दूषित कहकर जलवा देते। मतलब यह कि हाहाकार मच गया। इस समय 'सुधारक' में गोखले ने बड़े-बड़े लेख लिखे; तिलक इत्यादि ने कई बार अधिकारियों के कानों तक आवाज पहुँचाई और व्यवस्थित ढंग से काम करने के उपाय भी बताये पर सब कहना-सुनना नक्कारखाने में तूती की आवाज़-जैसा हुआ। तिलक ने लिखा—"तुम्हारी सख्ती एवं विवेक-शून्यता के कारण रोगियों को उनके सम्बन्धी या

इष्ट-मित्र छिपाकर रखते हैं अथवा अनेक स्थानों में घुमाते फिरते हैं अतः संसर्ग-दोष से बचाने का जो उद्देश्य है वह सिद्ध नहीं होता, उलटे बढ़ रहा है।"

जैसा कि लिखा जा चुका है गोरे सैनिक जबर्दस्ती लोगों का घर धुलाते समय नाना प्रकार की सख्ती करते थे। यहाँ तक भी बातें फैलीं कि कई जगह स्त्रियों से अनुचित छेड़-छाड़ की गई है। इससे जनता का दुःख कम होने की जगह और बढ़ गया। नाना प्रकार की झूठी-सच्ची अफवाहें उड़ने लगीं। चाफेकर नामक एक व्यक्ति ने उत्तेजना में प्लेगकमिटी के अध्यक्ष श्री रैण्ड का, २२ जून मंगलवार की रात को गवर्नमेंट हाउस से लौटते समय, खून कर डाला और धीरे से घटना-स्थल से हट गया। पीछे जाकर बहुत खोज के बाद वह गिरफ्तार हुआ और फाँसी हुई।

इस खून ने सारे हिन्दुस्तान में सनसनी फैला दी। सरकार घबड़ा गई। चूँकि तिलक का जनता पर खूब प्रभाव था और प्रायः प्रत्येक सार्वजनिक कार्य से उनका सम्बन्ध था इसलिए सरकार के मन में यह बात बैठ गई कि केसरी के लेखों से ही इस खून को उत्तेजना मिली। अन्त में उनके लेखों को लेकर उन पर राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया।

मुकदमा और सज़ा

जस्टिस स्ट्राची जज थे और ५ अंग्रेज, १ यहूदी, १ पारसी, एवं २ दक्षिणी कुल ६ की जूरी थी। अभियुक्त पक्ष की ओर से कहा गया कि लेख मराठी में हैं अतः उनकी 'स्पिरिट'—प्रेरक भावना—को समझने के लिए मराठी जाननेवाले जरूर होने चाहिएँ। पर यह आपत्ति नहीं मानी गई। मुक़दमे में सब युरोपियन जूरियों ने अभियुक्त को अपराधी एवं सब हिन्दुस्तानी जूरियों ने निरपराध बताया। जस्टिस स्ट्राची ने 'राजद्रोह' का बिलकुल नवीन अर्थ किया। राजद्रोह का सामान्य अर्थ सरकार के प्रति असन्तोष फैलाना है पर श्री स्ट्राची ने इस शब्द के

'डिसअफेक्शन' का शाब्दिक अर्थ अ—प्रीति या प्रेम का अभाव किया और कहा कि जिस वचन या लेख के द्वारा प्रेम का अभाव होता है वह राजद्रोहात्मक है। यह बिलकुल नया अर्थ था; इसके अनुसार तो फिर सरकार की आलोचना की ही नहीं जा सकती क्योंकि आलोचना करने या दोष दिखाने से उसके प्रति प्रेम में कमी तो होगी ही ; पर इस अंधाधुंध * अर्थ के अनुसार ही श्री स्ट्राची ने तिलक को १८ महीने की सजा दे दी। इस फैसले की अपील करने की चेष्टा की गई पर हाई कोर्ट से आज्ञा न मिलने के कारण सजा बहाल रही।

इस मुकदमे से लोगों में बड़ी सनसनी फैली। बंगाल ने इस मौके पर तिलक की सबसे अधिक सहायता की। कलकत्ता से दो प्रसिद्ध बैरिस्टर मुकदमे की पैरवी के लिए भेजे गये और उनका सारा खर्च बंगालवालों ने अपने ऊपर उठाया। 'अमृतबजार पत्रिका' ने सदा तिलक का समर्थन किया। उसके स्वामी स्व० शिशिर कुमार घोष को लोकमान्य अपना राजनीति का गुरु एवं पिता-तुल्य मानते थे और उनके भतीजे स्व० मोती बाबू को अपना बड़ा भाई समझते थे। इस मुकदमे के समय तिलक के कई मित्रों ने उन्हें माफ़ी माँग लेने की सम्मति दी थी पर तिलक जैसे निर्भीक देशभक्त को यह बात क्यों अपील करती। इससे जनता का कोई हित न हो सकता था। उन्होंने मुकदमे के आरम्भ में स्व० मोतीलाल घोष को लिखा था—"मित्र लोग माफी माँगने को कह रहे हैं पर मैं तो अपने को निर्दोष मानता हूँ। ऐसी अवस्था

* बंगाल के तत्कालिक एडवोकेट जनरल सर चार्लस पाल तथा ऐसे अर्थों के लिए खौफ़नाक बैरिस्टर कलकत्ता के श्री विलियम जैकसन इत्यादि जस्टिस स्ट्राची के इस अर्थ की हँसी उड़ाया करते थे। श्री जैकसन ने तो इस अर्थ का मज़ाक उड़ाते हुए एक वकील से कहा था—"इसी प्रकार हज़रत dissension का अर्थ 'absence of tension' कर सकते हैं।"

में माफी माँग कर अपमानपूर्वक अपने देशबन्धुओं में रहने की अपेक्षा काला पानी जाना मुझे मंजूर है।"

बाद में तिलक के छुटकारे के लिए बहुत से लोगों ने तरह-तरह से प्रयत्न किया। जब तिलक सोसायटी में थे तभी उन्होंने गीता और वेदों का गंभीर अध्ययन शुरू किया था। १८६२ ई० में उन्होंने एक निबन्ध लिखकर लन्दन की प्राच्य परिषद् में भेजा जो वहाँ के विवरण में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने अग्रहायण से वर्ष-गणन की प्रथा के आधार पर वेद-काल का निर्णय किया था और उसे कम से कम ४ से ५ हज़ार वर्ष ईसा के पूर्व का सिद्ध किया था। पीछे यही निबन्ध 'ओरायन' के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध का पश्चिम के विद्वानों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रो० मेक्समूलर तो बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने, डा० हण्टर ने तथा पार्लमेंट के कई सदस्यों ने अर्ज़ी-द्वारा महारानी विक्टोरिया से प्रार्थना की कि ऐसे विद्वान पुरुष को जेल में सड़ाना उचित नहीं। बम्बई कौंसिल में भी यह मसला पेश हुआ और वहाँ भी छोड़ने का ही निश्चय हुआ। तदनुसार एक वर्ष की सजा भोगने के बाद ६ सितम्बर १८६८ को कुछ शर्तों पर वह छोड़ दिये गये।

छुटकारा

इस सजा के कारण जनता में तिलक की लोक-प्रियता और बढ़ गई। जब वह कैद में थे तब राष्ट्रीय महासभा के अमरावती अधिवेशन में एक भाषण में स्व० सुरेन्द्रनाथ-द्वारा तिलक का ज़िक्र आते ही प्रतिनिधि खड़े हो गये एवं बहुतों ने देर तक तिलक का जयघोष किया। बाद में छूटकर जब घर पहुँचे तो दो दिन में कम से कम दस हज़ार आदमी उनसे मिलने एवं उनके दर्शन करने आये होंगे। कई देवालयों में रोशनी की गई। देश-विदेश से अभिनन्दनात्मक तार एवं पत्रों के ढेर लग गये। इस समय से तिलक का कार्य-क्षेत्र महाराष्ट्र में ही सीमित न रह-

स्वागत

कर समग्र भारत में फैल गया ।

ताई महाराज का मुकदमा

तिलक के जेल से छूटने के कुछ ही दिन बाद उनके मित्र सरदार बाबा महाराज मरणासन्न हुए । उनके कोई सन्तान नहीं थी । इसलिए उन्होंने तिलक से बड़ा आग्रह किया कि आप मेरी इस्टेट के एक ट्रस्टी बन जाइए । तिलक ने मित्र की इस अन्तिम इच्छा को मान लिया । तदनुसार 'विल' लिखा गया । बाबा महाराज की मृत्यु के कुछ दिनों बाद ट्रस्टियों ने उनकी युवती विधवा पत्नी ताई महाराज को उनकी इच्छा से एक लड़का गोद दिया । पर बाद में उस स्त्री को तिलक के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उनसे ईर्ष्या करनेवाले कुछ विरोधियों ने भड़का दिया । उसने कहा कि 'ट्रस्टियों ने जो लड़का मुझे गोद दिया है, वह मुझे पसन्द नहीं है—मेरी राज़ी से यह काम नहीं हुआ; मेरे साथ इस मामले में ज़बर्दस्ती की गई है ।' सरकार ने दक्षिण के सरदारों के पोलीटिकल एजेण्ट के द्वारा इस मामले की जाँच करवाई और तिलक पर जाली दस्तावेज़ बनाने और झूठी गवाही देने का इल्ज़ाम लगाकर फौजदारी में दावा दायर कर दिया । मुक़द्दमा आरंभ हुआ । डेढ़ वर्ष में कोई सवा सौ पेशियाँ पूना, बम्बई, अमरावती इत्यादि में हुईं । सरकार ने इस कार्य में ६०-७० हज़ार रुपये खर्च किये पर हाईकोर्ट से तिलक निर्दोष सिद्ध हुए; यही नहीं उल्टे सरकारी पक्ष ही बनावटी काग़ज़-पत्रों के आधार पर खड़ा किया गया सिद्ध हुआ । इस प्रकार तिलक को फँसाने और बदनाम करने का जो जाल सरकार ने फैलाया था वह छिन्न-भिन्न हो गया । यों तो इस मुक़द्दमे की जटाएँ १९०२ से १९२० तक किसी न किसी रूप में चलती ही रहीं और उनका अन्तिम फ़ैसला तो तिलक की मृत्यु के कुछ दिन पहले, उनके ही पक्ष में, हुआ ।

× × ×

व्यापक क्षेत्र में

धीरे-धीरे तिलक ने प्रान्तीय क्षेत्र के साथ सर्वभारतीय राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश किया। इस समय भारत के वायसराय लार्ड कर्ज़न थे। उनमें अनेक व्यक्तिगत गुण थे। ऐसा परिश्रमी, तेजस्वी और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने वाला दूसरा वायसराय भारत में नहीं आया। वह स्वयं रात-रात तक आफ़िस में काम करते रहते थे पर उनके हृदय में भारत के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। वह जो कुछ करते साम्राज्य-वादी भावों से प्रेरित होकर इंग्लैण्ड की शक्ति बढ़ाने के लिए करते थे। उन्होंने एशिया की समस्याओं का अच्छा अध्ययन किया था, जैसा कि उनकी लिखी 'मध्य एशिया में रूस,' 'सुदूर पूर्व की समस्याएँ' इत्यादि पुस्तकों से प्रकट होता है। वह समझते थे कि ईरान, श्याम, चीन, तिब्बत तथा अन्य एशियाई देशों में ब्रिटेन की सत्ता फैलाने की पहिली सीढ़ी है भारत में अंग्रेज़ी राज्य की नींव दृढ़ करना। अपने परिश्रम एवं कार्य-शीलता से उन्होंने भारतीय शासन में जान डाल दी थी। पर यह सब भारतीय आकांक्षाओं को कुचलने के लिए था। गोरेपन का अभिमान उनमें प्रबल था। वह समस्त एशियाई जातियों को असभ्य समझते थे और एक बार उन्होंने उन्हें 'असत्यभाषी' भी कहा था।

लार्ड कर्ज़न

पर जागृति की लहर कितने भी उत्साही एक अंग्रेज़ वायसराय-द्वारा दबाई नहीं जा सकती थी। एशियाई राष्ट्र जापान ने युरोपीय राष्ट्र रूस को जो ज़बर्दस्त पटकान दी थी उससे समस्त एशिया आत्मविश्वास के भाव से परिपूर्ण हो रहा था। जागृति की एक लहर सर्वत्र फैल रही थी। भारत में भी उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा।

तिलक इस परिस्थिति का उपयोग राष्ट्र की उन्नति में करना चाहते थे। यों तो वह राष्ट्रीय महासभा में पहले से ही शामिल थे और १८९५ की पूना कांग्रेस के सेक्रेटरी भी थे पर अबतक काँग्रेस में उनका विशेष

स्थान न था। १८६८ ई० में कांग्रेस में उनका प्रभाव बढ़ने लगा था। १९०३-४ तक वह कांग्रेस के एक उग्रवादी नेता हो गये थे। इसी समय—१९०४ ई० में—लार्ड कर्ज़न ने विश्वविद्यालयों के लिए एक क़ानून बनाकर शिक्षा की बागडोर सरकार के हाथ में दे दी। इससे भारत के शिक्षित युवकों में असन्तोष फैल गया। लोग समझने लगे कि सरकार कालेजों में निष्पक्ष शिक्षा को उत्तेजन देना नहीं चाहती; वह अपने रंग में रँगी, अपना मतलब सिद्ध करनेवाली शिक्षा के प्रसार के लिए ऐसा कर रही है। बंगाल में खूब जागृति हो रही थी। उस जागृति का बल तोड़ने के लिए १९०५ में लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट देने की घोषणा की। बहाना तो यह किया कि बहुत बड़ा प्रान्त होने के कारण शासन की दृष्टि से कठिनाई पड़ती है (उस समय बंगाल में आसाम, बिहार, उड़ीसा इत्यादि भी सम्मिलित थे)। इस बंग-भंग ने तो जैसे बंगाल में आग लगा दी। चोट खाई हुई सर्पिणी के समान बंग-भूमि फन काढ़कर खड़ी हो गई। ऐसी लपट उठी कि मालूम होता था जैसे अंग्रेज़ी राज उस आग में भस्म हो जायगा।—जैसे ईश्वर ने भारत की जागृति के लिए ही लार्ड कर्ज़न के हाथों ऐसा अवसर उपस्थित किया हो। सारा बंगाल एक मन-प्राण हो रहा था। वैसी एकता फिर कभी देखी न गई। स्वदेशी आन्दोलन इतने ज़ोरों से चला कि बंगाली के लिए तो वह धर्म-सा हो गया। बहिष्कार के अस्त्र का प्रबलता के साथ उपयोग किया गया। सारे बंगाल, और उसके साथ भारत में, विरोध की सभाओं की धूम मच गई। नवीन देशी व्यवसायों को उत्तेजना मिली। चारों ओर हलचल और कर्तृत्व के दृश्य थे। वर्षों की अवरुद्ध शक्ति स्रोत के समान फटकर बह रही थी।

बंग-भंग आंदोलन

महाराष्ट्र में स्वदेशी आन्दोलन तो बहुत पहले से ही शुरू हो गया था। १८८२ ई० में, जब राष्ट्रीय महासभा की स्थापना भी न हुई थी,

स्व० गणेश वासुदेव जोशी ने (जो 'सार्वजनिक काका' के नाम से प्रसिद्ध थे) उसे चलाया था। लोकमान्य तिलक इस आन्दोलन के प्रबल समर्थकों में थे। बंग-भंग के बाद जब स्वदेशी के उपयोग और विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन चला तो तिलक ने उसका समुचित उपयोग किया और उस समय बंगाल के नेताओं की उन्होंने पूरा सहायता की।

१९०५ ई० में राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का अधिवेशन गोखले की अध्यक्षता में काशी में हुआ। गोखले ने भी अपने भाषण में बहिष्कार का समर्थन किया। उनके बाद वाली कलकत्ता की कांग्रेस में अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी ने पहली बार 'स्वराज' शब्द का उपयोग किया और कांग्रेस ने स्वराज-सिद्धि के लिए स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के तीन साधनों का निश्चय किया। इस समय राष्ट्रीय पक्ष—उग्र-दल—का ज़ोर बहुत बढ़ गया था और उन नरम नेताओं के सामने कठिन समस्या उत्पन्न हो गई थी जो सरकार का रुख़ देखकर काम करना चाहते थे और उसे नाराज़ होने का मौका नहीं आने देना चाहते थे।

सूरत की तूफ़ानी कांग्रेस

इसके पहले राष्ट्रीय महासभा का कार्य बड़ी सुस्ती से चल रहा था। उसमें नरम दल के नेताओं का प्राधान्य था। वे सरकार के विरुद्ध कोई कड़ा प्रस्ताव पास करना भी पसन्द न करते थे। उस समय तक सरकारी नौकरियों में भारतीयों को स्थान दिलाना ही कांग्रेस का एक मुख्य कार्य था। वह एक विवाद सभा (डिबेटिंग क्लब) की तरह थी। पर स्वदेशी आन्दोलन ने तथा सरकार की निरन्तर चलनेवाली दमन की तलवार ने बहुत से युवकों के हृदय में मातृभूमि के लिए एक वेदना उत्पन्न कर दी थी—एक दर्द पैदा कर दिया था। चोट खा-खाकर उनकी स्वाभिमान-वृत्ति जग गई थी। अब कांग्रेस नेताओं की सुस्ती उन्हें पसन्द न पड़ती थी और कांग्रेस को अपने हाथ में ले लेने के लिए वे उत्सुक

थे। इस समय कांग्रेस में स्पष्ट दो दल—नरम और गरम—हो रहे थे।

ऐसे ही समय सूरत की कांग्रेस * हुई। यहाँ कांग्रेस के अधिकारी नरम दल के नेताओं ने चतुराई के साथ कलकत्ता कांग्रेस से 'स्वराज' की व्याख्या करके उसका अर्थ औपनिवेशिक स्वराज रखना चाहा। तिलक-पक्ष का कहना था कि कुछ अर्थ न करके अभी उसे यों ही छोड़ देना चाहिए। वस्तुतः नरम दल चाहता था कि सरकार नाराज़ न हो जाय; जब गरम दल को यह संकोचा संकोची की नीति अनुचित एवं जन-पक्ष के लिए अहितकर प्रतीत होती थी। इस पर बड़ा गोलमाल मचा। लोकमान्य जब बोलने खड़े हुए तो उन्हें बोलने से रोक दिया गया; पर शोरगुल तथा नाना प्रकार के प्रहारों की बीच भी वह अचल रहे। उस समय किसी ने अध्यक्ष पर जूता फेंक दिया। कुछ लोगों का कहना है कि जूता तिलक पर फेंका गया था पर जाकर लगा अध्यक्ष को! मतलब यह कि तिलक को बोलने नहीं दिया गया। गोलमाल में उस दिन अधिवेशन स्थगित हो गया। फल यह हुआ कि कांग्रेस में स्पष्टतः दो दल हो गये। दोनों ने अपनी अलग-अलग कान्फ्रेंस की।

यहाँ से भारतीय राजनीति में एक नई धारा पैदा होती है। नरम दल के नेताओं ने कांग्रेस के नियमों में परिवर्त्तन करके गरमदल वालों के लिए उसका दरवाजा बन्द कर दिया। यह दरवाज़ा १० वर्ष तक बन्द रहा और अन्त में दोनों दलों में समझौता होने पर १९१६ में खुला। इससे गरमदलवालों को जनता में आकर काम करने का मौक़ा मिला और दिन दिन उनकी लोकप्रियता बढ़ती गई। इस समय लाल-बाल पाल † के हाथ में राष्ट्र की बागडोर थी।

---

* इसका वर्णन विस्तार के साथ 'लाला लाजपतराय' की जीवन में किया गया है। आगे देखिए।

† लाल = लाजपतराय। बाल = बाल गंगाधर तिलक। पाल = बिपिनचंद्र पाल।

बंगाल में जो अनपेक्षित दमन हो रहा था उससे बहुत से युवकों ने, जागृति लाने एवं गोरों का आतंक जन-हृदय से दूर करने के उद्देश्य से हिंसात्मक उपायों का आश्रय लिया। सूरत कांग्रेस के दो दिन पहले ही ढाका के मजिस्ट्रेट की हत्या का समाचार लोगों को मिला। इस प्रकार की दुर्घटनाओं से नरम-गरम दोनों प्रकार के नेता आश्चर्य-विमूढ़ हो रहे थे। सरकार दमन करती जा रही थी। इससे ऐसे क्रान्तिकारियों को और उत्तेजना मिलती थी। तिलक का कहना था कि सरकार को इन दुर्घटनाओं के मूल कारणों की खोज करनी चाहिए और उसे दूर कर देना चाहिए। ऐसे काण्ड सरकार-द्वारा जन-मत के विरुद्ध किये गये बंग-भंग के परिणाम हैं अतः बंग-भंग को ही रद्द कर देना चाहिए। इसी आशय के लेख 'बम गोलों का रहस्य', 'ये उपाय टिकाऊ नहीं', 'देश का दुर्दैव' आदि शीर्षकों से तिलक ने 'केसरी' में लिखे थे। सरकार इस समय घबड़ा गई थी और दमन के सभी अस्त्रों का उपयोग कर रही थी। अखबारों का मुँह बन्द किया जा रहा था।

मराठी पत्र 'काल' पर सरकार का आक्रमण सब से पहले हुआ। उसके सम्पादक प्रो० परांजपे पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया।

राजद्रोह का मुकदमा

तिलक उनकी सहायता के लिए बम्बई गये हुए थे। वहीं २४ जून १९०८ को गिरफ़्तार कर लिये गये और 'देश का दुर्दैव' तथा 'ये उपाय टिकाऊ नहीं हैं' नामक लेखों के लिए उन पर ताज़ीरात हिन्द की १२४ अ और १५३ अ धाराओं के अनुसार मुक़दमा चलाया गया। १३ जुलाई से जस्टिस दावर के इजलास में मुक़दमा शुरू हुआ। यह दावर वही थे जो १८९७ वाले मुक़दमे में तिलक-पक्ष के वकील थे। सरकार की तरफ़ से एडवोकेट-जेनरल श्री इनवेरेरिटी, श्री ब्रेंसन एवं बिनिंग—जैसे प्रख्यात बैरिस्टर पैरवी कर रहे थे। तिलक ने अपनी पैरवी खुद की। उस समय उन्होंने अपनी सफ़ाई में जो भाषण किया वह ४ दिन में (६ घण्टे प्रतिदिन के हिसाब से) समाप्त हुआ और

उसे सुनकर, उनके गंभीर कानूनी ज्ञान पर, वकील लोग दंग रह गये। १८९७ वाले मुकदमे की तरह इस बार भी तिलक-पक्ष की ओर से कहा गया कि जूरी में ऐसे आदमी होने चाहिएँ जो मराठी जानते हों पर उनकी सुनवाई नहीं हुई। नौ जूरी में ७ युरोपियन थे और दो भारतीय; दोनों मराठी जानते थे और दोनों ने तिलक को निर्दोष बताया पर सात युरोपियनों ने उन्हें दोषी क़रार दिया। उस समय तिलक ने कहा था—"जूरी ने यद्यपि मेरे विरुद्ध राय प्रकट की है पर मेरी अन्तरात्मा कहती है कि मैं पूर्णतः निर्दोष हूँ। मानवी शक्ति से दैवी शक्ति अधिक समर्थ है। वही मनुष्य मात्र तथा राष्ट्रों की भवितव्यता का संचालन करती है और कदाचित ईश्वरीय संकेत ऐसा ही हो कि मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरे कारागृह में रहने और कष्ट भोगने में ही मेरा अंगीकृत कार्य आगे बढ़े"। कैसी अनासक्ति और निस्पृहता है!

२२ जुलाई को मुकदमे का फ़ैसला हो गया। यद्यपि रात को दस बज गये थे, फिर भी जज ने उसी दिन काम खतम करने के विचार से देर तक काम किया और जूरी के बहुमत से सहमत हो तिलक को ६ वर्ष निर्वासन और १०००) जुर्माने की सज़ा सुनाई।

उस समय जनता इतनी उत्तेजित हो रही थी कि बम्बई में सरकार को पुलिस और सेना का बन्दोबस्त करना पड़ा था। कई जगह दंगे हो गये। जनता अपने हृदय में तिलक को जो स्थान दे चुकी थी उसके कारण उस समय सर्वसाधारण में बड़ी हलचल मची थी। ×

× वैलेण्टाइन शिरोल ने लिखा है—

"There were serious riots after the trial. The rioting assumed at times a very threatening character. The European Police frequently had to use their revolvers and the roops had several times to fire in self-defence.........the gravity of the disturbances, however, showed the character of the influence which Tilak had already acquired over the lower classes in Bombay, and not merely over the turbulent mill-hands."— Indian Unrest, Page 56

पता नहीं सरकार को पहले से ही कैसे सज़ा की बात मालूम थी। ने तिलक को जेल भेजने का सब बंदोबस्त पहले से ही कर रखा था। ज़ा का हुक्म होते ही वह एक बन्द गाड़ी में बैठाकर स्टेशन ले जाये ये और वहाँ से स्पेशल ट्रेन द्वारा साबरमती जेल पहुँचाये गये।

पर इतनी लम्बी सज़ा का हुक्म सुनकर भी तिलक ज़रा भी अस्थिर हुए। उनका अपने मन पर कैसा असाधारण अधिकार था, इसका ा इसी से चलता है कि ट्रेन में सवार होते ही उन्होंने जो लम्बी नी तो साबरमती में जगाने पर उठे।

पीछे इस मामले की अपील हाईकोर्ट की 'फुल बैंच' में हुई पर छ फल नहीं हुआ। तब तिलक मण्डाले के क़िले में पहुँचा दिये गये।

मण्डाले के क़िले में लकड़ी का एक बड़ा कटघरा बनाया गया था। सी में वह रहते थे। गरमी की लू से वह जलने लगता था और बरसात

ल में भी सेवा

में अनेक बार फ़र्श पर पानी भर जाता और छत से भी टपकने लगता किन्तु इन सब कठिनाइयों के ीच भी वह निरुद्वेग होकर शान्त चित्त से गंभीर अध्ययन में लगे रहते; ल में उन्होंने चार-पाँच सौ ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। उनका धिकांश समय धर्म-चिन्तन और अध्ययन में जाता था। वह कभी शान्त नहीं हुए वरन् जेल में ही उन्होंने अपना अमर ग्रन्थ-रत्न—गीता रहस्य'—लिखा और उसमें कर्मयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

अर्थात् "फैसला होने के बाद भारी दंगे हुए। कभी-कभी दंगे का रूप ड़ा भयंकर हो जाता था। युरोपियन पुलिस को अकसर अपने रिवाल्वर ाम में लाने पड़े और सैनिकों को, आत्म-रक्षा के लिए, कई-बार गोली लानी पड़ी। इससे इतना साफ़ मालूम पड़ गया कि न केवल बम्बई के फ़ानी मिल-मजूरों पर ही तिलक का प्रभाव था वरन् साधारण श्रेणी के ौर लोगों पर भी था।"

उनके मत से गीता यह नहीं कहती कि संसार से विरक्त होकर, संन्यास लेकर जंगलों में चले जाओ वरन् यह कि अपनी शक्ति-भर लोक-संग्रह एवं लोक-कल्याण के लिए निष्काम भाव से सेवा-कार्य करते रहो।' तिलक ने अपने जीवन में सदा इस सिद्धान्त को निभाया। जब वह मण्डाले में थे तभी १९१२ ई० में उनकी पत्नी का देहान्त हुआ परन्तु उन्होंने बड़ी धीरता के साथ इसे सहन किया और अपना अध्ययन जारी रखा।

१९१४ से १९२० तक

सन् १९०८ से १९१४ तक तिलक जेल में रहे। इस अवधि में देश में काफी जागृति हो गई थी और स्थिति भी बहुत-कुछ बदल गई थी। कई अच्छे नेता राष्ट्रीय क्षेत्र में आ गये थे और कार्यकर्ताओं की संख्या बहुत बढ़ गई थी। युरोपीय युद्ध ने लोगों की आँखें खोल दी थीं और 'आत्म-निर्णय' के भाव फैल रहे थे। लोकमान्य (तिलक) के छूटने पर सारे देश में आनन्द छा गया।

'स्वराज हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।'

कुछ दिन तो तिलक को देश की परिस्थिति का अध्ययन करने में लगे पर शीघ्र ही वह फिर अपने काम में लग गये। इस समय राष्ट्रीय पक्ष के सब से बड़े नेता वही थे। महायुद्ध का आरम्भ था। इस समय उन्होंने एक ओर तो युवकों को अंग्रेजी सेना में भरती होने को कहा और दूसरी ओर स्वराज्य का झण्डा देश में बुलन्द किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट के साथ होमरूल आन्दोलन को अपनाकर उन्होंने उसमें जान डाल दी और सम्पूर्ण महाराष्ट्र में होमरूल लीग (स्वराज्य-संघ) की शाखाएँ स्थापित करके उसे एक जोरदार आन्दोलन का रूप दिया। उस समय—१९१६ ई० में—वह दौरा कर-करके देश की सोई हुई शक्ति को जगा रहे थे। उनके व्याख्यानों का क्या पूछना? व्यर्थ का शब्दाडम्बर न होते हुए भी उनके व्याख्यान प्रभावशाली और जोशीले होते थे उनके

मुँह से निकला हुआ यह वाक्य---'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा' (Home Rule is my birth right and I will have it) तो भारत के राष्ट्रीय इतिहास में अमर हो गया है। इस छोटे वाक्य में मानों राष्ट्र की आत्मा अत्यन्त सजीव होकर बोली है।

इसी दौरे में बेलगाँव में उन्होंने जो भाषण किया उसको लेकर फिर उनपर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया और पूना के ज़िला मजिस्ट्रेट के इजलास में २०-२० हज़ार की दो ज़मानतें दाखिल करने के लिए मुक़दमा चलाया गया। यह सब स्वराज-आन्दोलन को कुचलने के प्रयत्न थे,--तिलक ही इस समय उसके प्राण थे। ज़िला मजिस्ट्रेट की अदालत में तो तिलक अपराधी सिद्ध हुए और उनसे ज़मानतें माँगी गईं पर हाई-कोर्ट से नीचे की अदालत का फ़ैसला रद्द हो गया और तिलक निर्दोष सिद्ध हुए। जज ने कहा कि 'तिलक ने अपने भाषणों में स्वराज माँगा है और कहा है कि भारतीय शासन में भारतीयों का ही अधिकार होना चाहिए। यह कहना तो क़ानून के प्रतिकूल नहीं है, इस निर्णय से स्वराज-आन्दोलन वैध सिद्ध हुआ और फल-स्वरूप उसे और बल मिला तथा अधिक संख्या में लोग उसमें शामिल होने लगे।

दोनों दलों में समझौता

१९१६ ई० में राष्ट्रीय महासभा की बैठक लखनऊ में हुई। कांग्रेस के इतिहास में इस अधिवेशन का बड़ा महत्व है। १९०८ ई० में, सूरत कांग्रेस से ही, कांग्रेस के दोनों दल अलग हो गये थे; तब से महासभा (कांग्रेस) केवल लिबरलों---नरमों---की हो गई थी। इस बैठक में दोनों दलों में मेल हो गया और फिर से राष्ट्रीय दल ने इसमें प्रवेश किया। इससे महासभा में जान आ गई। यही नहीं, तिलक की उदारता एवं दूरदर्शिता के कारण मुसलमानों से भी समझौता हो गया और उनका भी सहयोग प्राप्त हुआ।

लोकमान्य जब मण्डाले में क़ैद थे तभी सर वेलेण्टाइन शिरोल ने 'भारतीय अशान्ति' (Indian Unrest) नाम की एक किताब प्रकाशित

की जिसमें भारतीय जागृति एवं जनता के असंतोष के कारणों की मीमांसा की गई है। इसमें उन्होंने तिलक को ही इस अशान्ति का जनक और जन पक्ष का मुख्य नेता करार दिया है। यहाँ तक तो कुछ भी बात नहीं पर शिरोल ने पुस्तक में यह भी प्रतिपादित किया कि तिलक, उनका दल और आन्दोलन राजद्रोहात्मक और अत्याचारमूलक है और उनका उद्देश्य भारत से ब्रिटिश शासन की जड़ को उखाड़ फेंकना है। इन बातों से विदेशों में राष्ट्रीय दल के सम्बन्ध में ग़लतफ़हमी फैलने की सम्भावना थी। अतः उसके निराकरण के लिए तिलक ने शिरोल पर मानहानि का दावा किया। यह दावा इंग्लैंण्ड में दायर हुआ। शिरोल की ओर से, आयर्लैण्ड के होमरूल आन्दोलन के विरोधी सर (बाद में लार्ड) एडवर्ड कार्सन पैरवी कर रहे थे। बम्बई-सरकार ने भी काग़ज़-पत्रों से शिरोल की सहायता की। भारत सरकार का, सिविल सर्विस का, एक अधिकारी इँग्लैण्ड में सर शिरोल की सहायता कर रहा था। इतने पर भी तिलक का पक्ष इतना मज़बूत था और उन्होंने अपना 'केस' इतनी अच्छी तरह तैयार किया था कि मुक़दमे में निर्णय उन्हीं के पक्ष में होने की सम्भावना थी पर न्याय-बुद्धि पर जातीय भावनाओं ने विजय प्राप्त की। सर एडवर्ड कार्सन ने जूरी को यह सुझाया कि तिलक की मान-हानि सिद्ध हो जाने से भारत-सरकार की प्रतिष्ठा में बट्टा लगेगा और सर्वसाधारण पर इसका अच्छा असर न पड़ेगा। इस प्रकार इस मामले में काले-गोरे का प्रश्न खड़ा किया गया। फल-स्वरूप फैसला तिलक के विपरीत हुआ और मानहानि का मुक़दमा खारिज हो गया।

तिलक-शिरोल केस

पर इसका फल जनता के लिए बुरा नहीं हुआ। ऐसे फ़ैसलों के कारण न्यायालयों पर से भी लोगों का विश्वास उठता जा रहा था। मुक़दमे के काम से निबटकर तिलक घूम-घूम कर इंग्लैण्ड में व्याख्यान देने लगे। उस समय शासन-

इंग्लैण्ड में कार्य

सुधार का मसविदा पार्लमेंट के सामने पेश था। तिलक होमरूल लीग के प्रतिनिधि-मण्डल के नेता की हैसियत से इंग्लैण्ड में सच्ची बातें प्रकट करके वहाँ की जनता का मत भारत के अनुकूल करने लगे। राष्ट्रीय महासभा की ओर से इंग्लैण्ड में जो काँग्रेस कमेटी थी उसका संगठन ठीक न था। महासभा की अनुमति से उसका संगठन किया और उसके पत्र 'इण्डिया' की नीति में परिवर्तन करके उसे इंग्लैण्ड में महासभा का मुखपत्र बना दिया जिससे वहाँ ठीक-ठीक प्रचार होने लगा। यह तिलक के ही व्याख्यानों का फल था कि मजूर दल की सहानुभूति भारत को प्राप्त हुई और वह भारतीय समस्याओं में दिलचस्पी लेने लगा। उस समय तिलक के व्याख्यानों का वहाँ बड़ा असर हुआ था।

इस समय तक युद्ध समाप्त हो चुका था और शान्ति-परिषद् होने जा रही थी। इस परिषद् के लिए राष्ट्रीय महासभा ने तिलक को अपना प्रतिनिधि चुना पर सरकार इसे कब मंजूर करने लगी थी। उसने भारत के नाम पर महाराज बीकानेर और लार्ड सिंह को प्रतिनिधि बनाकर भेजा जिनका बड़ा विरोध हुआ। उस समय तिलक ने राष्ट्रपति विलसन के नाम इस विषय पर एक महत्वपूर्ण पत्र भेजा था जिसमें भारत की स्थिति एवं आकांक्षाएँ स्पष्ट की गई थीं।

जब लोकमान्य इंग्लैण्ड में थे तभी भारत में उनकी साठवीं वर्ष-गाँठ धूम-धाम से मनाई गई और एक महीने से भी कम समय में उन्हें

श्रद्धा के तंदुल

थैली भेंट करने के लिए एक लाख रुपये एकत्र किये गये। विलायत से लौटने पर यह रकम उन्हें भेंट की गई। यह राष्ट्र की श्रद्धा के तंदुल थे। लोकमान्य ने उसे ले तो लिया पर राष्ट्र के लिए ही होमरूल लीग को भेंट कर दिया।

१९१९ की अमृतसर कांग्रेस में लोकमान्य शामिल हुए थे। सरकार के विश्वासघातों के कारण उनका विश्वास उसपर से एकदम उठ गया था। इस कांग्रेस में उन्होंने सुधारों को 'अपूर्ण, असन्तोषप्रद और

निराशा-जनक बताया और 'कांग्रेस प्रजावादी दल' की स्थापना का निश्चय किया। उनका विचार था शिक्षा, आन्दोलन और संगठन-द्वारा स्वराज प्राप्त करना। पर भारत के दुर्भाग्य से इस विषय में वह विशेष कुछ कर न सके।

अन्तिम दिन

सतत कार्यों में लगे रहने और विश्राम न मिलने के कारण लोकमान्य का शरीर क्षीण होता जा रहा था। १९२० के जून के अन्त में, एक मुकदमे के सिलसिले में वह बम्बई आये। उन दिनों जब ज्यादा काम करना पड़ता तो थकावट के कारण उन्हें हलका बुखार आ जाता। कभी-कभी यह बुखार आठ-आठ दिन तक बना रहता। मधुमेह से तो वह लगभग १५ साल से पीड़ित थे और यह राजरोग उनके शरीर को दिन-दिन निःसत्व बना रहा था। जब बम्बई आये तब भी यही हाल था। बुखार आता; दो दिन रहता। फिर जरा ताक़त होने पर चलने-फिरने लगते, फिर बुखार और कमज़ोरी—यह क्रम चल रहा था। मुक़दमे का फ़ैसला तो उनके अनुकूल ही हुआ पर मित्रों के अनुरोध से बीमारी का इलाज कराने वह बम्बई रुक गये। २० जुलाई का दिन था। तबियत कुछ खराब थी पर लोकमान्य अपने एक मित्र के आग्रह से उनके साथ मोटर में बहुत दूर तक खुली हवा में घूमे। उसी दिन हवा लग जाने से रात को बुखार आ गया। २५ तारीख तक इस बुखार में कोई खास बात दिखाई न दी। डाक्टरों ने समझा कि मामूली फसली बुखार है। पर तबियत दिन-दिन खराब होती गई। लोग ठीक समाचार जानने के लिए अखबारों की प्रतीक्षा में बैठे रहते; तारों की धूम मचने लगी। बाहर के भक्त और बम्बई के हजारों आदमी रोज बीमारी के विषय में ठीक-ठीक समाचार जानने के लिए सरदार-गृह (बम्बई में लोकमान्य यहीं ठहरते थे) पहुँचने लगे।

बीमारी बढ़ती ही गई। सोमवार २६ तारीख को न्यूमोनिया के लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे। डाक्टरी परीक्षा से यह भी मालूम हुआ

कि लोकमान्य के दाहिने फेफड़े के नीचे कुछ वरम आ गया है। अच्छे से अच्छे एवं इस विषय के विशेषज्ञ डाक्टरों ने प्रयत्न कर इस विकार को रोका तबतक नई-नई व्याधियां खड़ी हो गई। ऐसा मालूम होने लगा कि पेट की सारी आन्तरिक क्रियाएँ बन्द होती जा रही हैं। थोड़ी-थोड़ी हिचकी भी आने लगी। ऐसा मालूम हुआ कि पेट पर भी वरम आ गया है और उसका दबाव हृदय पर भी पड़ रहा है। इसका भी इलाज हुआ। पर पेट का वरम उतरा कि वात शुरू हो गया जो बढ़ता ही गया। इस वात के कारण उनकी शक्ति तेज़ी से क्षीण होने लगी। बीच-बीच में ऐसा मालूम होता कि नाड़ी अब डूबी, अब डूबी। २८ तारीख से बेहोशी भी रहने लगी। बीच-बीच में होश आता; अच्छी तरह बातें करते पर फिर बेहोश हो जाते। होश के समय लोगों को चिन्तित देख उन्हें ढाढ़स बँधाते और कहते कि 'चिंता न करो; मैं अपने मनोबल से अभी और जिऊँगा।' धीरे-धीरे नेता लोग उनके पास एकत्र होने लगे। २९ को गांधीजी आये तब लोकमान्य होश में थे। उन्होंने दोनों हाथों से गांधीजी का हाथ पकड़कर उनसे दो-एक बातें भी कीं। पर इसी दिन तबियत बहुत खराब हो गई। दोपहर से छाती में ज़बर्दस्त शूल आरम्भ हुआ और यह दिन बड़ी कठिनाई से बीता। इन सब समाचारों से सारे देश के प्राण बम्बई के समाचारों पर अटके हुए थे। लोग धड़कते हृदय से अखबार खोलते थे और बीमारी के समाचार से आँखों में आँसू भर जाते। भक्तों एवं प्रेमियों ने यंत्र-मंत्र, अनुष्ठान, सहस्राभिषेक, रुद्रपाठ, शान्तिपाठ की हद कर दी। स्थान स्थान से पूजा का प्रसाद, निर्माल्य, अभिमंत्रित सूत की लच्छियां, चरणामृत इत्यादि आने लगा। लोग गांव-गांव में दान-पुण्य करने एवं मानताएँ मानने लगे। स्थान-स्थान पर प्रार्थनाएँ हुईं। किसी ने लोकमान्य के हाथ से छुआकर रुपयों की थैलियां खैरात करादीं और किसी ने उनके पाँव छुआकर कपड़े दान कर दिये। ज्यों-ज्यों बीमारी बढ़ती गई, दूर-दूर से तार पर तार आने लगे।

३० तारीख को तबियत कुछ सँभली। रात को नींद भी आई। ३१ तारीख—शनिवार—को भी दिन में तबियत ठीक रही। डाक्टरों को आशा बँधी और लोगों के जी में जी आया। पर होना तो कुछ और था। ३१ तारीख—शनिवार—की शाम से तबियत फिर कुछ खराब हुई। वात का प्रकोप फिर आरम्भ हुआ। सन्निपात के लक्षण फिर प्रकट हुए। कभी होश आता, कभी बेहोशी आती। इस हालत में भी गीता सदा उनके पास रहती थी। उस समय एक मित्र ने गीता से श्रीकृष्ण का चित्र बताकर लोकमान्य से पूछा—'यह क्या है?' थोड़े समय तक तो वह टकटकी लगाकर देखते रहे। फिर बोले—"यह श्रीकृष्ण का चित्र है। इनके चरित्र का सबको अनुकरण करना चाहिए।" यही उनका अन्तिम सन्देश था।

शनिवार की रात ज्यों-ज्यों बढ़ती गई त्यों-त्यों तबियत ज्यादा खराब होती गई। ९ बजे के बाद तो छाती में फिर ज़बर्दस्त शूल उठने लगा। अब आशा निराशा में परिणत होने लगी। बारह बजे के लगभग होश में लोकमान्य ने भगवान् की चिर-प्रतिज्ञा और आश्वासन को दोहराते हुए गीता के ये श्लोक पढ़े—

यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, संभवामि युगे-युगे॥

इसके बाद कृष्ण की तसवीर को प्रणाम किया और आँखें मूँद लीं। इस प्रकार ३१ जुलाई १९२० की रात को १२ बजकर ४० मिनट पर राष्ट्र के इस महान् कर्णधार ने अपना चोला बदल दिया। आशा की डोर सदा के लिए कट गई।

× × × ×

ज्योंही बम्बई में यह समाचार फैला, एक बिजली दौड़ गई। सिनेमा, नाटक सब धड़ाधड़ बंद हो गये। इस समय, उस कालरात्रि में, जिसे देखो सरदार-गृह की ओर दौड़ा चला जा रहा है। जनता का समुद्र सर पीटता सरदार-गृह की तरफ बढ़ा चला जा रहा था। अन्तिम दर्शन करने के लिए लोग इतने उतावले हो रहे थे कि तीन बजे रात तक दरवाज़े पर खड़े होकर गाँधी जी सुबह तक लोगों से धीरज रखने को कहते रहे पर इस समय धैर्य लोगों के पास कहाँ था? उनका तो मानो सब-कुछ लुट गया था। अन्त में विवश होकर लोगों को चार-चार की टोली में दर्शन करने जाने की आज्ञा देनी पड़ी। चार-पाँच हज़ार आदमी दर्शन कर चुके थे पर वहाँ तो अगणित नर-मुण्ड दिखाई दे रहे थे। अन्त में ऊपर की मंज़िल की गैलरी में लोकमान्य का शव इस तरह रखा गया कि बाहर सड़क से ही लोग दर्शन कर सकें। जैसा कि स्वामी आनन्दानन्द ने लिखा है—"पुष्प-भार से दबी हुई उनकी वह पद्मासनस्थ मृत देह किसी समाधिस्थ महान् योगिराज के जैसी दिखाई दे रही थी। मालूम होता था कि हज़ारों आदमियों को अपनी सजीव वाणी से सम्बोधन करने वाला व्यक्ति आज मरकर भी लाखों को अपना वही अमोघ और आजीवन-प्रिय स्वराज-मन्त्र फिर एक बार अपने मौन व्याख्यान द्वारा सुना रहा हो।"

सुबह तक तो समाचार सब जगह फैल गया। रेलगाड़ियों में भर-भर कर यात्री बम्बई पहुँचने लगे। ट्राम का रास्ता बन्द हो गया। दूर तक केवल नर-मुण्ड ही दिखाई देते थे। २०० स्वयंसेवक कतार बाँध कर भीड़ को रोक रहे थे पर उनसे इतनी भीड़ सँभलती न थी।

श्मशान-यात्रा का समय १ बजे दिन निश्चित हुआ था पर पूना से आये हुए लोगों ने कहा कि 'पूना स्टेशन पर हज़ारों आदमी गाड़ी न मिलने के कारण बैठे आँसू बहा रहे हैं। इसलिए अग्नि-संस्कार पूना के ओंकारेश्वर में ही होना चाहिए। लोकमान्य की जन्मभूमि अन्तिम

दर्शन से क्यों वञ्चित रहें ?' उन्हें समझाने में बड़ी देर हुई। अधिकारियों की विशेष आज्ञा लेकर चौपाटी के मैदान में अग्नि-संस्कार का निश्चय हुआ था। आखिर दो बजे श्मशान-यात्रा आरम्भ हुई। इसमें हिंदू-मुसलमान सभी शामिल थे। पूनावालों ने बम्बई में ही अग्नि-संस्कार का प्रस्ताव स्वीकृत कर जो त्याग किया था उसके बदले यह निश्चित हुआ था कि रथी को कन्धा देने का अधिकार पूनावालों को ही रहे पर लोगों की श्रद्धा देख उन लोगों ने अपना यह विशेषाधिकार वापस ले लिया। सभी रथी को कन्धा देने के अधिकारी माने गये। जनता ने अश्रु-सिक्त आँखों से कहीं गाँधी जी को, कहीं मौ० शौकतअली को, कहीं सेठ छोटानी को कन्धा लगाते देखा। जीवित लोकमान्य भले ही धार्मिक बन्धनों में बँधे रहे हों पर इस समय तो ऐसा मालूम पड़ता था कि वह धर्म (सम्प्रदाय के अर्थ में) के संकुचित बन्धनों को तोड़कर सब धर्मावलम्बियों की श्रद्धा से ओत-प्रोत हो रहे हैं।

जुलूस को चौपाटी पहुँचने में पाँच घण्टे लग गये। इस जुलूस में लगभग ५ लाख आदमी थे। भारत के इतिहास में पिछले सैकड़ों वर्षों में, देशबंधु दास की तथा गांधी जी श्मशान-यात्रा के जुलूस को छोड़कर ऐसा कोई दृश्य दिखाई नहीं पड़ा। मकानों, छतों, वृक्षों पर आदमी लदे थे। शव पर फूलों, पैसों, रुपयों की वर्षा हो रही थी। मर कर भी लोकमान्य मानो विजय करते हुए आगे बढ़े चले जा रहे थे। लाला लाजपतराय लाहौर से दौड़ आये और सैण्डहर्स्ट ब्रिज पर उन्होंने भी रथी को कंधा दिया।

चन्दन की मनों लकड़ियों पर शव रखा गया और अग्नि-संस्कार के मंत्रों का उच्चार होने लगा पर जनता मानो पागल हो रही थी। लाखों कण्ठों से घोष हुआ—"अब हमें अन्तिम दर्शन करा दो।" लोकमान्य को कन्धे पर उठाकर उनका अन्तिम दर्शन जनता को कराया गया। फिर अग्नि-संस्कार हुआ। चिता पर घी के पीपे लुढ़काये जा रहे थे।

चिता धू धू करके जल रही थी। हज़ारों कण्ठों से 'जयघोष' हो रहा था। ... धीरे-धीरे अँधेरा छा गया। लोग चिता की परिक्रमा करके घर जाने की तैयारी कर रहे थे—लम्बी साँसें लेकर लौट रहे थे कि इतने में १७-१८ वर्ष का एक मुसलमान युवक यह चिल्लाता हुआ चिता में कूद पड़ा कि—"अरे तिलक महाराज ! तुम तो चले; अब हम कैसे जियेंगे !" पर चिता से उसका शरीर लुढ़ककर नीचे आ गिरा। स्वयं-सेवकों ने उसे खींच लिया और उसके जलते शरीर पर बालू डालकर आग बुझा दी। उस शोकातुर युवक को अस्पताल पहुँचाया।

वह स्मरणीय घटना

भारतीय राजनीति के इतिहास में गणेशशंकर विद्यार्थी के मुसलमानों के खून की प्यास बुझाने के लिए किये हुए आत्म-बलिदान को छोड़ इतना पवित्र दूसरा उदाहरण नहीं है। और ये दोनों उदाहरण भी अलग-अलग प्रकार के हैं। इस घटना ने तो लोकमान्य की उस विभूति को प्रत्यक्ष किया जिसके कारण वह मुसलमानों के भी प्रिय रहे और हिन्दुओं के भी। यही नहीं उस श्मशान-यात्रा में उनके विरोधी चन्दावरकर और नटराजन इत्यादि भी शामिल हुए थे। 'लोकमान्य' जनता में मिल गये थे। उनके मरने पर हजारों ने कुटुम्बी की भाँति १० दिन का सूतक मनाया था।

—चार—

जीवन का रहस्य : विश्लेषण

लोकमान्य का जीवन सदा लड़ाइयों में बीतनेवाला जीवन है!—सैनिक का और सेनापति का एक में। इस ब्राह्मण को जो जीवन के अधिकांश समय में क्षत्रिय रहा, अद्भुत लगन से हम सदा युद्ध-क्षेत्र में ही देखते हैं,—कभी लड़ते कभी व्यूह-रचना करते, कभी शत्रु से हाथ मिलाकर सन्धि करते,—

क्षत्रिय का तेज

सैनिक इसलिए कि उसे लेकर क्षत्रियत्व को धार पर शान दे लिया जाय और फिर युद्धभूमि में नवीन उत्साह से पैंतरे दिखाये जा सकें।

पर इतना ही कहने से ग़लतफ़हमी होती दीखती है। ऐसा नहीं कि उसमें क्षत्रिय ही क्षत्रिय हो। नहीं, उसके क्षत्रियत्व के पीछे ब्राह्मण की सादगी और त्याग है—विद्या है। कभी-कभी यह जन्मजात ब्राह्मणत्व उन्हें दबा भी लेता पर पीछे प्रयत्न कर वह उसे बदल देते। वह प्रकृति एवं संस्कार से क्षत्रिय न थे; परिस्थिति और अभ्यास से क्षत्रिय थे इसीलिए केवल शुद्ध सैनिक वीरता को लेकर वह न चल सके,—शुद्ध राजपूत न हो सके; एक राजनीतिज्ञ एवं रण-दक्ष सेनापति बन गये। उनका प्रतिसहयोग का मध्य मार्ग उनके ब्राह्मणत्व में प्रस्फुटित होने-वाली क्षत्रिय वृत्ति का ही परिणाम था!

× × ×

यह तो हुई एक बात। पर उनमें वह कौन-सी चीज़ थी जिसने उन्हें इतना लोकप्रिय बना दिया था? जीवन का वह मर्म क्या है जिसके कारण उनकी मृत्यु के समय सारी बम्बई पागल हो गई थी,—महाराष्ट्र ने सूतक मनाया था और सम्पूर्ण भारत का हृदय रो पड़ा था? त्याग के तो और भी उदाहरण हमारे स्वतंत्रता—संग्राम में मिलते हैं। पर वहां इतनी लोक-प्रियता क्यों नहीं?

जीवन का मर्म

इसका उत्तर देना सरल नहीं। क्योंकि लोक-प्रियता की भी श्रेणियां होती हैं और लोकप्रियता स्वतः कोई ऐसी महान वस्तु नहीं। पर जब हम 'लोकमान्य' को देखते हैं और उनके जीवन की तह में जाते हैं तब इस निष्कर्ष पर पहुंचने में कठिनाई नहीं होती कि उनकी लोकप्रियता साधारण श्रेणी की नहीं है; वह राष्ट्र की निष्ठा से अभिषिक्त होकर 'लोकमान्यता' में बदल गई है। यह लोकप्रियता का एक सात्त्विक, पवित्र, दिव्य रूप है।

पर इस लोकप्रियता का, जिसे दिल लोक-मान्यता कहना चाहता है और जो स्व० लालाजी और महात्माजी की लोक-प्रियता से अलग और भिन्न श्रेणी की है, रहस्य क्या ?

इसके लिए यदि हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचना चाहें तो हमें तिलक के सारे जीवन का ऊहापोह करना पड़ेगा। सबसे पहली बात तो यह कि वह सदा अपने को जनता की चीज समझते रहे। सदा उसमें मिलकर, उसके होकर रहे। उसके लिए जिये; उसके लिए मरे। उसके कष्ट को अपना कष्ट समझा; उसकी भाषा, रीति-नीति, धर्म, साहित्य सब में समान भाव से रस लेते रहे वह जनता में ओतप्रोत हो गये थे। अपने ही देशवासियों के साथ गिरते पड़ते, उठते, लड़ते, आगे बढ़ते थे। वह उसके बिलकुल सुहृद हो गये थे और सदा जनता की भावनाओं का आदर करते थे! गलत या सही कभी उन्होंने जनता का, उसकी रीति-नीति के लिए, तिरस्कार नहीं किया। आधुनिक भारतीय नेताओं में लोकमान्य का एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है। वही एक ऐसे नेता थे जिन्होंने जनता की संकुचित धार्मिक रीति-नीति पर भी कभी आक्रमण नहीं किया वरन् उसके प्रति सदा सम्मान का भाव रखा; उसकी अवमानना नहीं की। इतना ही नहीं यदि कोई उस पर आक्रमण करता तो वह उस आक्रमण को सहन न कर सकते। उनका कहना था कि जिसे तुम सुधारने चले हो उसकी हँसी उड़ाकर, उसका अपमान करके, उसे अपने से छोटा समझकर तुम उसका सुधार नहीं कर सकते; इसके लिए उसका होकर सुधार करना पड़ेगा। इसीलिए उन्होंने अपने घनिष्ठ मित्र आगरकर को छोड़ा। इस विषय में उनकी नीति रवीन्द्रनाथ के 'गोरा' से मिलती-जुलती थी। बुरा हो या भला बिना जनता के हृदय में प्रवेश किये, बिना देशवासियों में मिलकर उन्हीं का हुए उनके सुधार का बीड़ा लेनेवाले को वह क्षमा नहीं कर सकते थे क्योंकि वह देश-भक्तों एवं सुधारकों की एक अलग जाति बनाना नहीं

लोकप्रिय क्यों ?

चाहते थे। वह जनता के साथ, उसके थोड़ा-थोड़ा आगे चलते और उसे रास्ता दिखाते पर इतना आगे न बढ़ते कि उससे बिलकुल अलग होकर केवल आदर्श एवं पूजा की चीज बन जायँ। इसीलिए लोग उनके प्रति इतने अपनेपन का अनुभव करते थे। और इसीलिए वह इतने लोकप्रिय हो सके।

पर ऐसी लोकप्रियता के साथ कुछ और चाहिए। नहीं तो वह उन्हें इतना महान् न बनने देती। इस लोकप्रियता के साथ उनमें जो लगन, दृढ़ता और उसके लिए असीम कष्ट-सहन की तैयारी थी, वही उनकी इस लोकप्रियता को 'लोकमान्य' बना सकी। त्याग में भी अनेक रंग होते हैं। एक त्याग वह जो त्यागी में एकाएक बिजली की तरह चमककर सारे आसमान पर छा जाता है और भयंकर उल्का-पात की भाँति हमारी दृष्टि से छिप जाता है। भगतसिंह और गोपीमोहन साहा का त्याग कुछ इसी श्रेणी का था।* यह एकाएक जलकर उठा और जबतक हम उसे देखें-देखें, अनन्त में अदृश्य हो गया। यह एक प्रकार का त्याग। दूसरा त्याग वह जो अनपेक्षित, अप्रत्याशित, बिना किसी पुरस्कार की आशा के, केवल अपने को लेकर चलता है; जो अपने में, अपनी मातृभूमि में ओतप्रोत है; जिसको किसी उपयोगितावादी कसौटी पर कसा नहीं जा सकता और जिसमें एक प्रकार की साहसिकता (recklessness), एक प्रकार का पागलपन होता है। वह ('Unsung और Unheard') माता की सेवा करते-करते चुपचाप जगत् के एक कोने में, वन्य पारिजात-पुष्प की नाईं चू पड़ता है। बंगाल के पुराने क्रान्तिकारियों में दो-एक का त्याग इस श्रेणी में आता है। तीसरा एक और त्याग वह है जो विवेक की

त्याग की श्रेणी

---

*यहाँ हम केवल त्याग का उल्लेख कर रहे हैं; उनकी नीति का समर्थन नहीं। नीति की दृष्टि से तो हम उनके विरोधी हैं और शुद्ध अहिंसा के कायल हैं। —लेखक

पगडंडी पर, जनता को लेकर, चलता जाता है और कभी कम नहीं होता। यह एक लौ से जलनेवाले दीपक के समान जलता है। वह इंच इंच करके देश-सेवा की आग में अपना होम कर देता है। यह विधवा के सतत अनाग्रह एवं अप्रतिग्रह में व्यक्त होनेवाले त्याग से मिलता-जुलता है। यह आँधी में, तूफान में, प्रलोभन में, कठिनाइयों में और सुविधाओं में सदा एक रस रहता है और तिल-तिल करके अपने को जलाता है! तिलक का त्याग कुछ इसी श्रेणी का था।

दो विशेषताएँ

जब हम लालाजी के जीवन को देखते और लोकमान्य से उसकी तुलना करते हैं तो यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ता है कि राष्ट्रीय जागरण के इतिहास में दोनों का स्थान एक-सा महत्वपूर्ण है, दोनों ने ही भारतीय जागृति को एक निश्चित रूप देने में बड़ा काम किया है; और 'लाल—बाल—पाल' की जो ध्वनि एक समय भारत के कोने-कोने में गूँज उठी थी वह सार्थक थी, फिर भी यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि तिलक में लालाजी की अपेक्षा दो निश्चित विशेषताएँ थीं। एक तो यह कि जीवन-भर उनकी राजनीति स्वयंवरा सती की भाँति एक ही सिद्धान्त को लेकर चलती रही। प्रति-सहयोग—जैसे को तैसा—'शठे शाठ्यं'—उनकी राजनीति का निचोड़

स्थायी नीति

था और वह जीवन के अन्तिम दिन तक रहा। उनके लिए वह एक मनोवृत्ति का सवाल था और उनका सारा जीवन इसी सिद्धान्त पर निर्मित हुआ है। समर्थ स्वामी रामदास ने एक दिन जिस सिद्धान्त का उपदेश इन—

घटासी आणावा घट।
उद्धटासी पाहिजे उद्धट।
खटनटासि खटनट।
अगत्य करी॥

[दासबोध १९—९—३०]

पंक्तियों में किया था और जिसको लेकर शिवाजी महाराज ने सुदृढ़ शिला पर महाराष्ट्र की नींव डाली और जो एक औसत महाराष्ट्रीय के जीवन में ओतप्रोत है। इसी सिद्धान्त पर लोकमान्य ने अपने जीवन की दीवार खड़ी की थी। इस सिद्धान्त को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा; सदा निबाहा। अवसर के अनुकूल नीति बदलने की ज़रूरत उन्हें न पड़ी क्योंकि प्रति-सहयोग अपने-आप एक काफ़ी विस्तृत नीति है और उसमें प्रतिपक्षी की चाल के अनुसार अपनी चाल में परिवर्तन करने का भाव भी समाविष्ट है। यूरोपीय महायुद्ध जब आरम्भ हुआ तो क्रांतिकारियों को छोड़ प्रायः सभी दल इस पक्ष में थे कि सरकार की सहायता की जाय। लोकमान्य ने गाँधी जी से कहा—"यदि कुछ अधिकार मिल रहा हो तब तो समझो कि इस सरकार की ओर से लड़ने में लाभ भी है; नहीं तो यह सब सहायता साँप को दूध पिलाने के समान होगी।" गाँधीजी ने कहा—"नहीं, इस कठिन अवसर पर हमें सरकार की सहायता अवश्य करनी चाहिए। उसके लिए कोई शर्त नहीं करनी चाहिए। हमारे हक हमें अपने आप मिल जायँगे। क्या यह सल्तनत उन लोगों के साथ भी दगा करेगी जो उसे जीवन-दान देंगे?" लोकमान्य बोले—"आप भले आदमी हैं। आपने इस नौकरशाही के असली रूप को नहीं पहचाना है। मैंने अपनी उम्र के तीस साल इसी नौकरशाही के साथ लड़ते हुए बिताये हैं।"

इसी प्रकार अमृतसर कांग्रेस के अवसर पर गाँधीजी ने कहा—"..........ऐसा नहीं; सरकार शासन-सुधार का वचन दे रही है। सम्राट ने हमें सन्देश भेजा है। इसलिए उचित है कि हम पूरी सचाई से उससे सहयोग करें।" लोकमान्य ने कहा—"इस सरकार की नीयत का भरोसा नहीं। वह जितनी भलाई हमारे साथ दिखावे उतना ही सहयोग हमें उसके साथ करना चाहिए।" यहाँ गाँधी और तिलक का अन्तर स्पष्ट हो गया है। गाँधी से भलाई—सदाशयता की ध्वनि निक-

लती है; तिलक में उनकी अद्भुत राजनीतिज्ञता और राजनीतिक ज्ञान का पता चलता है। 'इस सरकार की नीयत का भरोसा नहीं'—यह अनुभव का निचोड़, तथ्य का वर्णन (स्टेटमेण्ट ऑव् फैक्ट) है, और 'जितनी भलाई वह करे उतना ही सहयोग हमें करना चाहिए,' इसमें तिलक की नीति व्यक्त हुई है। तथ्य का जो वर्णन उन्होंने प्रथम वाक्य ('इस सरकार की नीयत का भरोसा नहीं') में किया है उससे राजनीतिक चालों को समझने एवं परिस्थिति से तथ्य निकालकर भविष्य में होनेवाली बातों का आभास पा लेने की उनकी अपूर्व शक्ति का पता चलता है। इसीलिए हम देखते हैं कि उन्होंने इस वाक्य ('इस सरकार की नीयत का भरोसा नहीं') में जो बात १६१६ में कही उसे ही कुछ दिनों बाद गाँधी जी को भी स्वीकार करना पड़ा। हाँ, उसे स्वीकार करके भी अपनी नीति उन्होंने वही रक्खी।

यह तो हुई एक बात—जीवन में एक राजनीतिक नीति को लेकर चलने की। दूसरी विशेषता जो लोकमान्य में थी और जिसका उल्लेख हम ऊपर कर भी आये हैं, यह है कि जनता के धार्मिक विश्वास एवं सामाजिक संस्कारों का उन्होंने कभी तिरस्कार नहीं किया। अस्पृश्यता के वह समर्थक न थे,—विरोधी ही थे पर इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई आन्दोलन न किया। यही नहीं वरन् जो इस क्षेत्र में अग्रसर थे उनसे उनकी विशेष निकटता कभी न रही। सामाजिक सुधारों के मामले में भी हम उन्हें बहुत संकुचित पाते हैं,—यद्यपि हृदय से वह कई सुधारों को मानते और उनमें विश्वास रखते थे। पर इससे तो प्रश्न और जटिल हो जाता है। इसे हम क्या कहें?—उनकी कमजोरी या उनकी विशेषता? वैसे ऊपर ऊपर से देखते हैं तो यह कमजोरी—जैसा ही मालूम पड़ता है। विश्वास होते हुए भी उसे जन-भय से न प्रकट करना कमजोरी ही है। पर मैंने तो इसकी गणना भी उनकी विशेषता में की है और वह भी

जनता के भावों का आदर

अपने होश-हवास में; उनकी अन्ध-भक्ति के कारण नहीं। हमारा यही निष्कर्ष है अतएव हमारे लिए तो इसकी सफाई देना जरूरी हो जाता है और इसके लिए हमें जरा और गहराई में उतरना पड़ेगा।

सब से पहली बात तो यह—और हम कह दें कि इसके बिना तिलक का जीवन समझा ही नहीं जा सकता—कि तिलक इस विश्वास और आधार को लेकर चले थे कि बिना राजनीतिक सुधारों एवं अधिकारों के सामाजिक सुधार भी नहीं हो सकते। वह सामाजिक, आर्थिक, सब रोगों का कारण गुलामी को ही समझते थे।—आज तो हम सब इसे मानने लग गये हैं।—उनका कहना था कि पराधीनता के कारण हम अपनी शक्ति और अपना सत्त्व भूल गये हैं इसलिए पहले उसे ही दूर करना; दूसरी तरफ ध्यान ही न देना। अन्य क्षेत्रों में पड़ना सूखते पेड़ों की डालियों एवं पत्तों पर पानी छिड़कना है। इससे कुछ होना-जाना नहीं। जब जड़ में पानी पड़ेगा, पौधा अपने-आप हरा हो जायगा। जब मूल में लगे कीड़े निकल जायँगे, सारा वृक्ष हँसने लगेगा। इसलिए यथासम्भव वह सब प्रकार के कार्यकर्ताओं का ध्यान इसी विशेष कार्य और विशेष क्षेत्र में लगाना चाहते थे। और काम उठाकर वह अपना समय एवं शक्ति बाँट देने के विरुद्ध थे। वह स्वतन्त्रता-देवी की मूर्ति ही सर्वत्र देखते थे और दूसरों से भी यही चाहते थे। ऋषि बंकिम ने आकुल हृदय से भक्ति का जो उच्छ्वास एक दिन इस मन्त्र में फूँका था—

एकान्त निष्ठा

तुमि विद्या तुमि धर्म
तुमि हृदि तुमि मर्म।
त्वं हि प्राणाः शरीरे।
बाहु ते तुमि माँ शक्ति,
हृदये तुमि माँ भक्ति,
तोमारई प्रतिमा गड़ि मंदिरे मंदिरे!

वही लोकमान्य के हृदय में उच्छ्वसित एवं प्रकाशित हुआ था। वही लौ, वही आग उनमें लगी थी और वह उन्हें दूसरी ओर देखने न देती थी। उनका जीवन बाज़ार में खड़ा होकर पुकारता—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज !'**

यह तो निष्ठा की दृष्टि से। पर नीति और व्यवहार की दृष्टि से भी यही उनके लिए अनुकूल और उपयोगी था। वह जमाना और था—यह और है। उस समय तैलंग, चिमनलाल सीतलवाड़, सुरेंद्रनाथ बनर्जी-जैसे लोग बालविवाह-निषेधक क़ानून बनाने के विरुद्ध सम्मति देते थे। तिलक को जनता को लेकर चलना था और यह वह जनता का होकर—उसकी रीति-नीति, भक्ति और श्रद्धा लेकर ही कर सकते थे। अतः वह कोई ऐसा काम न करना चाहते थे जिससे जनता उन्हें अपने से भिन्न, किसी अन्य वर्ग का, समझने लगे। वह उतना ही आगे बढ़ते, उतना ही 'डोज़' देते जितना जनता हज़म कर सकती थी। एक चतुर सेनानायक की भाँति वह अपनी सेना को—अपने आदमियों को अपने प्रति श्रद्धावान—वफ़ादार रखना चाहते थे और यह वह उनके विश्वासों एवं संस्कारों पर आघात करके न कर सकते थे। इस दृष्टि से भी वह सामाजिक सुधारों के मामले में ज़्यादा न पड़ते।

व्यवहार की दृष्टि से

इन दो विशेषताओं के कारण दो बातें हुईं। एक तो वह कभी, राजनीतिक क्षेत्र में, समय के पीछे न पड़े; सदा अग्रदल में रहे और दूसरी यह कि जनता की भक्ति अन्त तक उनके साथ रही; कभी कम न हुई। ये दो बातें उनके जीवन में हीरे की तरह चमकती हैं।

× × × ×

तिलक को—मतलब उनके जीवन को—देखने से एक सवाल मन में और उठता है। जब मैं अच्छी तरह उन्हें समझ न पाया था तो यह सवाल मेरे मन में भी उठा था और वह यह कि तिलक के जीवन में हम कोई एक ऐसी उथल-पुथल-कारी महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं देखते। गाँधीजी ने जैसे

एक संशय ?

असहयोग एवं सत्याग्रह के तूफानी सार्वजनिक आन्दोलनों का नेतृत्व किया या स्व० देशबंधु ने जैसे चन्द महीनों के अन्दर अपनी महान व्यक्तिगत शक्ति के भरोसे, सारे देश में वाणी और लेखनी की धारा बहाकर, एक सुसंगठित कुशल पार्लमेण्टरी दल—स्वराज-पार्टी—खड़ा कर दिया, वैसा उनके जीवन में कुछ नहीं है। न उनमें पाल की वाग्मिता है; न मोतीलालजी की विरोधी का कलेजा बैठा देने वाली मारक बहस की शक्ति—'डिवेस्टिंग पावर'—है। जीवन में कहीं प्रकाश का तूफान—बाढ़ नहीं है जो एक ही बार फटकर, चकाचौंध करके उनकी महानता को हमारे सामने स्पष्ट कर दे। इसलिए संशयात्मा पूछ उठता है कि उनके जीवन में वह क्या है जिससे हम राष्ट्र के निर्माण में उन्हें इतना महत्वपूर्ण स्थान देते हैं?

पर बात यह है—और इसी में इसका जवाब भी आ जाता है—कि जीवन में जितने भी महत्वपूर्ण कार्य होते हैं उनके दो रूप होते हैं।

जीवन का कंगूरा और जीवन की नींव

एक वह जो दूर से ही हमारी आँखों के सामने चमक उठता है।—यह जीवन का कंगूरा है जो (जीवन के) नजदीक आये बिना भी दिखाई पड़ जाता है और दूसरा जीवन की नींव है जो पास आने पर भी अदृश्य ही रहती है! राष्ट्रीय जागृति का—स्वतन्त्रमातृमूर्ति का—मन्दिर आज उठ रहा है इसलिए हम उसे उत्सुक दर्शक की भाँति सहज ही देख पाते हैं पर जब मन्दिर की दीवारों का नाम-निशान न था तब उन्हीं दीवारों को उठाने के लिए राष्ट्र-मन्दिर की गहरी, सर्वभक्षी, नींव में जो कंकरियाँ डाली गई उन्हें कितने लोगों ने देखा और देखा भी तो आज कितनों को उनकी याद आती है? आज तो जो कंगूरे उठने लगे हैं उनपर और उनके बनाने वाले कलाविदों पर लोग मुग्ध हैं। इस चकाचौंध में वे लोग भूले जा रहे हैं जिनके बलिदान का यह परिणाम है!

इसीलिए ऐसा संशय हमारे मन में पैदा होता है और इसमें आश्चर्य

की कोई बात नहीं। सृष्टि के आदि से ऐसा ही होता आया है। आज जो विशाल आन्दोलन हो रहा है और जो जागृति हम देखते हैं, उसके मूल में जिनका बलिदान उनके जीवनव्यापी परिश्रम से जोड़कर बैठाया गया है, उनका महत्व यदि हम समझ लें तो संशय क्यों उठे? लगभग ५० वर्ष की निरन्तर साधना, तपस्या और कष्ट-सहन के द्वारा 'लोकमान्य' (तिलक) ने धीरे-धीरे इस मन्दिर की नींव डाली। उसी नींव पर आज यह विशाल भवन खड़ा है। उनका कार्य बड़े धीरज का, निरन्तर परिश्रम का, थका देने वाला—'बोरिंग'—था। उन्होंने जो कुछ किया वह ठोस काम था; वह हमारी राष्ट्रीयता की नींव में जीवित-जाग्रत है, इसीलिए वह महान् है पर इसीलिए हम उसे इतनी स्पष्टता से नहीं देख पाते हैं।

× × ×

जीवन डायरी है!

किसी ने ठीक ही कहा है—"संसार ने लोकमान्य को १८८० का भारत सौंपा और लोकमान्य ने संसार को १९२० का भारत दिया।" इस वाक्य में उनके जीवन का सारा इतिहास और सारी सफलता आ जाती है। उनका जीवन भारतीय राष्ट्रीयता के ४०-५० वर्ष के विकास का प्रतिबिम्ब है। १८५७ के सशस्त्र विद्रोह के समय उनका जन्म हुआ और १९२० के शान्त युद्ध के समय उन्होंने शरीर छोड़ा। उस क्रान्ति से इस क्रान्ति तक राष्ट्रीयता की गाड़ी को पहुँचा कर वह चल दिये। **उनका जीवन १८८० के भारत को १९२० का भारत बनाने के प्रयत्नों तथा उसमें आनेवाली कठिनाइयों की एक डायरी है।** जिसमें हम कभी उन्हें थक कर, निराश होकर बैठते नहीं देखते। कठिनाइयाँ आती हैं और जीवन की धारा को और चौड़ा एवं तीव्र कर देती हैं। काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है कि 'लोकमान्य' तिलक का जीवन गलतफहमी का एक लम्बा ताँता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उनके भाग्य में ही युद्ध बदा था।' पर आश्चर्य तो यह है कि इतने लम्बे युद्ध में हम

उन्हें निराश और खिन्न कभी नहीं पाते। उलटे हम देखते हैं कि जिस समय—मंडाले के स्फूर्ति का अन्त कर देनेवाले वातावरण में निराशा की सब से अधिक संभावना थी और जिस अवधि में उनकी सहधर्मिणी का भी देहावसान हो गया उस समय उन्होंने अपने भाष्य द्वारा गीता को 'कर्मयोगशास्त्र' का रूप देकर यह सिद्ध किया कि फलासक्ति को छोड़कर निरंतर कर्म में लगे रहना ही, भगवान के मत से गीता का रहस्य है।

जीवन का ध्रुवतारा

यहीं 'लोकमान्य' के जीवन का सब से बारीक पर सब से महत्वपूर्ण सूत्र हमारे हाथ में आता है। '**फलासक्ति छोड़कर निरन्तर कार्य करने का**' जो उपदेश अपने गीता-भाष्य में उन्होंने किया वही उनके जीवन का ध्रुवतारा था। इसी नींव पर उन्होंने अपने जीवन का निर्माण किया था। इसीलिए हम देखते हैं कि सफलता में वह पागल नहीं होते और असफलता उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति और स्फूर्ति को दबाने में असमर्थ है!

× × ×

एक और बात भी तिलक के जीवन में ओतप्रोत है। वह अपनी संस्कृति का प्रेम और उसकी श्रेष्ठता का विश्वास है। यद्यपि अंग्रेज़ी

अपना खास रंग

साहित्य में उन्होंने बहुत कुछ सीखा और बहुत प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त की पर उसे अपना लिया, अपने रंग में रँग लिया—उस रंग में स्वयं नहीं रँग गये। छात्रावस्था से ही उनके जीवन में युरोपीय रीति-नीति और फैशन के प्रति एक ज़बरदस्त चिढ़ हम देखते हैं और अन्त तक अपने इस रंग में उन्हें स्थिर पाते हैं। अंग्रेज़ी शिक्षा को उन्होंने अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करने और जहाँ खराबी आगई हो वहाँ से उसे निकालने का अस्त्र और साधन बनाने के लिए ग्रहण किया। इससे अंग्रेज़ी रीति-नीति के प्रति उनकी अवज्ञा नहीं प्रकट होती; अपनी रीति-नीति और आचार के प्रति निष्ठा प्रकट होती है। लोकमान्य के कुछ अंश में गुरु, कुछ अंश में साथी, स्व०

विष्णुशास्त्री चिपलूणकर अंग्रेजी साहित्य को 'शेरनी का दूध' कहा करते थे। लोकमान्य का भी ऐसा ही विश्वास था पर साथ ही यह जानते थे कि हमारे बहुत-से दुर्बल भाई यह शेरनी का दूध हजम नहीं कर पाते। वह उसे हजम करके अपने रक्त में बदल देने के कायल थे और अन्त तक उन्होंने इसे निबाहा। इसके लिए मातृभाषा और उसके साहित्य को जहाँ तक बन पड़ा उत्तेजना भी दी और सदा अपनी संस्कृति की रक्षा में सचेष्ट रहे।

'शेरनी का दूध'

× × ×

इस प्रकार, लोकमान्य के जीवन के विषय में दो-चार बातें कर लेने के बाद अब हम उनका तत्त्व—निचोड़—निकालना चाहते हैं। एक तो यह कि लोकमान्य विद्या-बुद्धि और जन्म से यद्यपि ब्राह्मण थे पर प्रवृत्ति, चेष्टा, अभ्यास और परिस्थिति के कारण उन्होंने जीवन में क्षत्रिय धर्म की प्रतिष्ठा की—या यों कह लें कि ब्राह्मणत्व की अपेक्षा उनके जीवन में क्षत्रियत्व की प्रधानता है। पर चूँकि ब्राह्मण के संस्कार एवं ब्राह्मण की प्रतिभा उन्हें मिली थी इसलिए इस क्षत्रियत्व में भी सात्विकता की आभा है और दोनों मिल कर उन्हें राजर्षि के तेज से दीप्त करते हैं।

निष्कर्ष

क्षत्रियत्व ने उन्हें तेज प्रदान किया था और ब्राह्मणत्व ने उनमें त्याग के संस्कार डाले थे। जब वह अखाड़े में—मैदान में उतरते तो उनका क्षत्रिय रूप दिखाई पड़ता। उस समय न किसी से वह दया चाहते और न स्वयं उस पर दया करते। उस समय तो विरोधी को पटकान देना—चित कर देना ही उनका लक्ष्य हो जाता था। उस समय उनके अन्दर सैनिक और योद्धा प्रबल हो उठता और युद्ध में वह एक प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव करते। पर इसका यह मतलब नहीं कि वह अनुदार या संकुचित हृदय के थे। ऐसा होता तो ताज्जुब न था पर उनके जीवन के पीछे—परदे में—ब्राह्मणत्व का जो संस्कार था वह उन्हें सदा बचा लेता। उसने उन्हें

उदारता भी थी, और जहाँ तक व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध था वहाँ तक तो उनमें 'ब्राह्मण' की 'स्पिरिट' ही प्रधान थी—ऐसा भी कह सकते हैं। इसीलिए वह अनुदारता से बच गये और इसीलिए हम देखते हैं कि जिन आगरकर से इतना तीव्र मतभेद रहा कि दोनों को अपनी घनिष्ठ मित्रता छोड़कर अलग होना पड़ा उन्हीं आगरकर की मृत्यु के समय वह रो पड़े थे और उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि हमारा कोई अत्यन्त घनिष्ठ सुहृद खो गया। इसी प्रकार जिन गोखले से उनकी एक दिन न पटी, इन्हीं के कार्यों की प्रशंसा में उनकी ज़बान न थकती थी और उनके सार्वजनिक सम्मान के लिए वही सबसे पहले अग्रसर हुए थे। गोखले की मृत्यु के बाद जो भाषण उन्होंने किया था उससे उनकी सदाशयता प्रकट होती है * इसी प्रकार जिन भण्डारकर से शास्त्रीय विवाद करते एवं उनकी युक्तियों का खण्डन करते, उनके प्रति अत्यन्त आदर का—गुरु-भाव रखते। इससे यह स्पष्ट है कि वह युद्ध के लिए युद्ध में रस नहीं लेते थे। उद्देश्य-सिद्धि के लिए, कर्तव्यवश, वैसा करते थे; उनके हृदय में वही ब्राह्मण की उदारता थी।

---

* श्मशान-यात्रा के जुलूस के सामने जब लोकमान्य बोलने खड़े हुए तो लोगों ने तालियाँ बजाईं। लोकमान्य बोले—"यह हर्ष का—ताली बजाने का—समय नहीं है। यह आँसू बहाने का समय है। श्रीयुत गोखले के देहावसान से हमारी जो कभी पूर्ण न होनेवाली हानि हुई है उसके लिए शोक करने का यह समय है। वह भारत का हीरा, वह महाराष्ट्र का रत्न, वह कार्यकर्ताओं का राजकुमार आज इस श्मशान-भूमि पर अनन्त विश्राम ले रहा है। उसकी ओर देखो और उसका अनुसरण करने की कोशिश करो। ...... एक विजयी वीर की भाँति अपना नाम अमर कर आज गोखले हमारे बीच से चले गये। ...... तुममें से प्रत्येक को उनका उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए।"

दूसरा निष्कर्ष, जो अपने-आप उनके जीवन से निकल आता है, यह है कि आदर्श और व्यवहार का ठीक-ठीक समन्वय करके वह युद्ध-क्षेत्र में चलते थे। भावुकता में आदर्श के लिए पागल वह कभी न हुए; न कोरे व्यावहारवादी की भाँति आदर्श की अवहेलना ही उन्होंने की। गाँधी जी-जैसे आदर्शवादी वह न थे। इस सम्बन्ध में अपने ढंग को समझाते हुए गांधी जी के आदर्श का उन्होंने मनोरंजक वर्णन किया था—"समुद्र में जहाज़ सदा ध्रुव को अपना लक्ष्य मानकर चलता है पर वह कभी ध्रुव तक नहीं पहुँच पाता;—कराँची, बम्बई या दाभोल—जैसा कोई दुनियावी बन्दरगाह ही उसका ध्येय होता है। उसी प्रकार व्यवहार की उपेक्षा करके केवल धर्म का ही विचार करके निश्चित किया हुआ ध्येय सदा अधूरा माना जाता है! ध्रुवतारे की ओर ध्यान तो अवश्य रखना चाहिए; उसके बिना काम नहीं चल सकता पर यह सदा याद रखिए कि जहाज़ आपको न तो ध्रुव पर ले जाता है और न उसे आप वहाँ ले ही जा सकते हैं।"

आदर्श और व्यवहार का समन्वय

इस व्यवहार-कुशलता के कारण ही राजनीति में उनकी अद्भुत गति थी और इसी के कारण वह स्वयं सैनिक का कार्य करते हुए भी राष्ट्रीय सेना के नायक रहे। इस व्यवहार-कुशलता के कारण ही सामाजिक सुधार के मतभेदों से भरे हुए प्रश्न को उन्होंने नहीं उठाया और इसी व्यवहार-कुशलता का यह परिणाम था कि उनके साथियों में कितने ही मुसलमान भी थे; अपने धर्म में कट्टर होते हुए भी उनको हसरत मोहानी और शौकतअली अपना राजनीति का गुरु मानते थे और, यदि मैं ग़लत नहीं समझता तो, सच या झूठ मोहानी आज भी कहते कुछ ऐसा ही हैं!

तीसरा निष्कर्ष उनके जीवन से यह निकलता है कि वह राजनीतिक सुधारों में भारतीयता को लोप होते देखना नहीं चाहते थे। बल्कि राजनीति में आने और देश को स्वाधीन करने की जोरदार प्रेरणा उनके अन्दर जगी

थी यह इसलिए कि वह मानते थे कि अँग्रेज़ों की अधीनता में हमारा सबसे अधिक अकल्याण जो हुआ है वह यही कि हम अपना सत, अपना महत्व, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की विशेषताएँ भूल गये हैं। इसीलिए उनके आन्दोलन का ढंग और उनका उद्देश्य शुद्ध भारतीय था। माडरेटों की भाँति उसपर युरोप की छाप कहीं नहीं दिखाई देती।

उनका दिल कहाँ था?

चौथी बात यह कि लोकमान्य जिस रूप में हमारे सामने आये उसमें परिस्थितियों का बड़ा हाथ था। उनकी प्रतिभा असल में साहित्य-सेवा, इतिहास-शोधन एवं संस्कृति सेवा के अनुकूल थी। हाँ, यह ज़रूर कि देश की पराधीनता के लिए वेदना उनमें शुरू से थी और उसे ही वह सब रोगों की जड़ मानते थे। इसलिए राजनीति की ओर उनकी प्रवृत्ति तो थी ही। उनके हृदय में जो संस्कार थे वह सात्विक ब्राह्मण के थे—जैसा कि ऊपर कहीं कहा भी जा चुका है—पर परिस्थिति एवं देश-दशा की अनुभूति ने उन्हें दबा दिया। और कौन कह सकता है कि यदि मतभेद के कारण उनको 'दक्षिण शिक्षा-समिति' (Deccan Education Society) और फर्गुसन कालेज से अलग न होना पड़ा होता तो उनके जीवन का क्या रूप होता? क्योंकि वह अपनी सारी शक्ति एवं सारा समय आजीवन उसके लिए अर्पित कर चुके थे और उनके इसी बात पर—कि हमें अपनी सारी शक्ति एवं समय संस्था के ही कार्य में लगाना चाहिए—ज़ोर देने से अलग होने वाली अवस्था पैदा हुई। इसके अलावा भी राजनीति के क्षेत्र में आने और उसे पूरी गहराई के साथ ग्रहण कर लेने पर भी वह उसे अपने जीवन की स्थायी चीज़ न समझते थे। उनका अपना हृदय जिसमें बोले, वह तो शिक्षा एवं संस्कृति का ही क्षेत्र था। इसलिए जब उनसे एक मित्र ने पूछा कि स्वराज होने पर अपनी सरकार में आप किस विभाग के मंत्री होना पसन्द करेंगे तो उन्होंने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया था "राज-नीति से मेरा मन ऊब जाता है। स्वराज प्राप्त होते ही मैं फिर कहीं

गणित का अध्यापक हो जाऊँगा और शान्तिपूर्वक विद्यानन्द में लीन होना पसन्द करूँगा।" पर जब तक देश में करोड़ों आदमी दाने-दाने को तरस रहे हों तब तक वैसा वह न कर सकते थे। तिलक—जैसे प्रतिभाशाली पण्डित के लिए यह त्याग शायद सबसे बड़ा त्याग था।

इन सब बातों का भी निष्कर्ष निकालकर कहना चाहें तो कह सकते हैं कि लोकमान्य एक महान् विद्वान, व्यावहारिक राजनीतिज्ञ और देश की चिन्ता में सदा लगे हुए, राष्ट्रीयता की गाड़ी को सतत आगे बढ़ाने वाले एक महान् देश-भक्त और नेता थे। वह मालवीय जी की भाँति शुद्ध भावोद्रेक न थे, न गाँधी जी या जवाहरलाल की भाँति एक भाव—'आइडिया'—थे; वह मोतीलालजी या पटेल की भाँति एक संस्था थे। गाँधीजी और मोतीलालजी दोनों को मिलाकर यदि आधा कर दिया जाय तो जो कुछ निकलेगा वह बहुत करके 'लोकमान्य' से मिलता-जुलता होगा।

तिलक = (मोतीलालजी + गांधीजी) ÷ २

—पाँच—

संस्मरण

तिलक की लोकमान्य उपाधि बिलकुल सार्थक थी। जन-हृदय पर उनका अपूर्व अधिकार था। ग़रीब और अपढ़ किसानों में भी, जो भली-भाँति जानते भी न थे कि तिलक हैं क्या चीज़, उनके विषय में अनेक कहानियाँ प्रचलित हो गई थीं, काका कालेलकर अपने अनुभव में आई एक घटना का उल्लेख यों करते हैं—

लोकप्रियता

"मैं जब काश्मीर में साधु के वेश में घूमता था, तब वहाँ मुझे एक आदमी ने पूछा—"स्वामी बादशाह! आप कहाँ के रहने वाले हैं?" उत्तर मिला—"बम्बई।" मैंने सोचा काश्मीर-जैसे दूर देश में इससे अधिक स्पष्ट उत्तर देना व्यर्थ है। पर मैंने सोचने में भूल की। उस

आदमी ने फिर मुझसे दूसरा सवाल पूछा—"बम्बई कहाँ पर है? नखलौ (लखनऊ) के पास?" इतना बेचारे को भूगोल-ज्ञान था! उसने सोचा बहुत से बहुत बम्बई लखनऊ के बराबर होगा। फिर उसने दूसरा प्रश्न पूछा—"आप कौन हुए हैं?" मैंने कहा—"महाराष्ट्रीय ब्राह्मण"। यह उत्तर सुनते ही उस बम्बई को लखनऊ समझनेवाले आदमी ने फिर पूछा—"तो तिलक महाराज कब छूटेंगे?" जिस आदमी का भूगोल-ज्ञान इतना 'अगाध' (!) था, उसे भी इतना ज्ञान तो था ही कि तिलक महाराज नाम के कोई महाराष्ट्रीय देश-भक्त सरकार के साथ लड़कर जेल गये हैं।"

'पूना का राजा'

इसी प्रकार देहली में जब लोकमान्य भारत-सचिव श्री माण्टेगू से मिलने गये थे तब उनका जुलूस निकालने की सरकार ने मुमानियत कर दी थी। उस समय अपढ़-कुपढ़ राहगीर आपस में बातचीत करते थे—"आज पूना का राजा आने वाला है। सरकार उससे बहुत डरती है।"

× × ×

समाज सुधार के विषय में

लोकमान्य को जीवन भर लोग ऐसा कट्टर ब्राह्मण समझते रहे जो छूत-छात और जाँत-पाँत को बहुत महत्व देता हो। पर असल में बात ऐसी न थी। इस भ्रम के कारणों का विवेचन विस्तार के साथ ऊपर में कर चुका हूँ। वस्तुतः उनके विचार अनेक सामाजिक विषयों में बहुत उन्नत और उदार थे पर देश सेवा के कार्य में पड़े हुए लोगों को इन बातों की तरफ ध्यान देने की आवश्यकता वह न समझते थे। राजनीतिक क्षेत्र में लोकमान्य के शिष्य और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आने वाले श्री वी० ओ० चिदम्बरम् पिल्ले ने सूरत कांग्रेस के समय (१९०७ ई०) की एक घटना का जिक्र किया है जिससे इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। वह लिखते हैं—

"सूरत में जहाँ हम लोग ठहरे हुए थे, वहाँ एक दिन की बात है। दो-पहर का भोजन देर से तैयार था पर गुरुदेव उन दर्शनार्थियों की भीड़ को छोड़कर नहीं आ सकते थे जो हजारों की संख्या में उनका चरण छूने को आ रहे थे। जब बहुत देर हो गई—तीन बज गये और दर्शनार्थियों का ताँता लगा ही रहा तो सूरत के मित्रों ने उन लोगों को थोड़ी देर ठहरने के लिए कहा और गुरुदेव को, अरविन्द बाबू को, मुझे तथा कुछ और लोगों को भोजन के लिए लिवा ले गये। यह समझकर कि हम लोग कई जातियों के हैं और मेरे गुरु शायद हम लोगों के साथ बैठना पसन्द न करेंगे, सूरती मित्र ने (लोकमान्य से) पूछा—"क्या आपके भोजन का प्रबन्ध दूसरे कमरे में करूँ?" इस पर गुरुदेव ने उत्तर दिया—"**देशभक्तों की एक ही जाति और एक ही धर्म होता है।**" इसके बाद हम लोगों के साथ बैठकर उन्होंने भोजन किया। यही उनकी "कट्टरता" थी।"

फरवरी १६१५ की एक और घटना का जिक्र करते हुए श्री पिल्ले ने लिखा है—"मैंने समाज-सुधार आन्दोलन के विषय में उनकी (लोकमान्य की) सम्मति माँगी। वह बोले—"यह बड़ा अच्छा आन्दोलन है।" मैंने उनसे पूछा कि "अगर आप ऐसा समझते हैं तो उसमें क्रियात्मक रूप से भाग क्यों नहीं लेते?"

शामिल क्यों नहीं?

उन्होंने कहा कि "एक आदमी को एक ही लक्ष्य सामने रखना चाहिए और अपनी सारी शक्ति उसी में लगानी चाहिए। यदि वह एक से अधिक लक्ष्य लेकर चलेगा तो उसकी शक्ति बँट जायगी और फलस्वरूप वह एक उद्देश्य भी सिद्ध न कर सकेगा।" इसके बाद मैंने पूछा कि "क्या वर्तमान जाति-व्यवस्था राष्ट्रीय ऐक्य में बाधक नहीं है?" उन्होंने कहा—"हाँ, है। कुछ आदमी, जिनमें सरकारी नौकरी करने वाले कुछ लोग भी शामिल हैं, वर्तमान जाति-व्यवस्था की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न कर ही रहे हैं तो फिर हम उस काम में क्यों दखल दें? खास कर तब जब दूसरी दिशा में हमारे पास करने के लिए काफी काम है।"

यह है सामाजिक सुधारों के झगड़े में न पड़ने का उनका दृष्टिकोण।

× × ×

१९०६ की बात है। उस साल 'प्रिंस ऑव् वेल्स' भारत आनेवाले थे। उनका स्वागत किया जाय या नहीं, इस बात को लेकर कांग्रेस में काफ़ी मत-भेद था। लोकमान्य तथा उनके अन्य साथी (लालाजी इत्यादि) कांग्रेस के खुले अधिवेशन में इस प्रस्ताव का विरोध करने वाले थे। गोखले, जो उस वर्ष अध्यक्ष थे, चाहते थे कि सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास हो। इसके लिए वह चाहते थे कि लोकमान्य इत्यादि थोड़ी देर करके, यह प्रस्ताव पास हो जाने के बाद, कांग्रेस पंडाल में आवें। तिलक महाराज और लालाजी इसे स्वीकार न करते थे। जब गोखले ने देखा कि तिलक अपने निश्चय से इधर-उधर नहीं होंगे तो उन्होंने अपनी पगड़ी उतार कर लोकमान्य के चरणों पर रख दी। इसके बाद कुछ कहने की आवश्यकता न पड़ी। गोखले जो चाहते थे वही हुआ!

प्रेम से जो कराला!

× × ×

जब देशभक्त लाला लाजपतराय प्रथम बार पूना में लोकमान्य के घर गये तब लोकमान्य के घर में कोई अनुचर या नौकर उन्होंने नहीं पाया। उनकी धर्मपत्नी स्वयं रोटी बनाती, चक्की पीसती और बर्तन साफ करती थीं। लालाजी उनकी इस जीवन की सादगी पर मुग्ध हो गये। वस्तुतः लोकमान्य का सारा जीवन ही एक तपस्वी का जीवन था। काका कालेलकर ने भी ऐसी घटनाओं का जिक्र अपने लेख में किया है। जब १८८० में 'न्यू इङ्गलिश स्कूल' शुरू हुआ तब लोकमान्य को ३०) मासिक वेतन मिलता था। एक दिन उनके किसी मित्र ने कहा—"इस तरह तो हम उतने पैसे भी न बचा सकेंगे जिनसे मरने पर हमारा अग्नि-संस्कार हो सके।" लोकमान्य ने कहा—"इसकी चिन्ता जितनी समाज को होनी चाहिए, उतनी

सादगी और त्याग

मुझे न होनी चाहिए। उसे ग़रज़ होगी तो वह हमारी लाश को फूँक देगा। यदि सम्मान के खयाल से नहीं तो कम से कम बदबू हटाने के लिए तो ज़रूर वह हमारी लाश जला देगा !" यह थी उनकी त्याग की भावना।

जब बम्बई का दैनिक 'राष्ट्रमत' शुरू हुआ तब उसके संपादक श्री सीताराम पंत दामले कहने लगे—"आफिस के लिए इतनी मेज़, इतनी कुर्सियाँ चाहिएँ।" लोकमान्य ने कहा—"भाई, जब हम लोगों ने 'केसरी' और 'मराठा' पत्र शुरू किये तब हमारे पास यह ठाठ-बाट नहीं था। पत्रों से हमें कानी कौड़ी भी नहीं मिलती थी। हम अपने बिछौने को लपेटकर उसीपर लिखने बैठ जाते। वही हमारी मेज थी! उन पर रखकर लिखने के कारण हमारे लेखों में कुछ न्यूनता नहीं आती थी।"

× × ×

लोकमान्य के त्याग के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं पर त्याग की भी श्रेणियाँ होती हैं। अपने जीवन का बलिदान कर देना श्रेष्ठ त्याग है पर इस प्रकार के त्याग में यश के यथेष्ट पुरस्कार की आशा की जा सकती है किन्तु मनुष्य के जीवन में कभी-कभी ऐसा अवसर आता है जब निर्दोष होते हुए भी दूसरों को निन्दा से बचाने, या लोक-कल्याण के लिए कोई-कोई अपने सिर अपराध का बोझ ले लेते हैं। दूसरों की दृष्टि में ग़लत समझे जाने का खतरा उठाकर भी जो ऐसा कर सकते हैं वे महान् हैं। यह त्याग बहुत ही ऊँची श्रेणी का है। स्नेह के सिलसिले में, व्यक्तिगत जीवन में, तो ऐसे त्याग के उदाहरण मिलते हैं पर सार्वजनिक जीवन में ऐसे उदाहरण बहुत कम देखे जाते हैं। सूरत कांग्रेस के समय लोकमान्य ने ऐसा ही महान् त्याग किया था। स्व० मोतीलाल घोष ने इस घटना का ज़िक्र यों किया था—

महान् त्याग

"दिसम्बर १९०७ की सूरत कांग्रेस के भंग होने का सारा दोष विरोधियों ने लोकमान्य पर लगाया है। पर इस विषय में बिना मुझसे

सलाह लिये उन्होंने एक क़दम आगे नहीं रखा था ।..........राष्ट्रीय पक्ष के लोग तो केवल इतना चाहते थे कि मनोनीत अध्यक्ष (श्री—पीछे 'सर'—रास बिहारी घोष) ने वायसराय की कौंसिल की एक बैठक में उन लोगों के सम्बन्ध में जो अपमानजनक शब्द कहे थे उन्हें वह वापस लें अथवा कांग्रेस में विरोध करने की इजाजत दें । जब यह बात माडरेट नेताओं के सामने रखी गई तो वे आग-बबूला हो गये । सर फीरोज़शाह मेहता का व्यवहार तो खास तौर से अनुचित था । यहाँ तक कि जब तिलक पहले से निश्चित समय पर समझौते की बातें करने के लिए उनके घर पर गये तो उन्होंने मिलने से इन्कार कर दिया । इस प्रकार जब समझौते का रास्ता माडरेट नेताओं द्वारा बन्द कर दिया गया तब यही उपाय शेष रह गया कि खुली कांग्रेस में अध्यक्ष के नाम का प्रस्ताव होने पर उसका विरोध किया जाय । तिलक ने इस आशय की नोटिस पहले से ही स्वागत-समिति के सभापति को दे दी कि 'मैं खुले अधिवेशन में इस प्रस्ताव का विरोध करूँगा ।'

"यदि राष्ट्रीय पक्ष का यह उचित अनुरोध मान लिया जाता तो सब बातें शान्तिपूर्वक समाप्त हो जातीं क्योंकि वे संख्या में कम थे और उनका प्रस्ताव अवश्य ही अस्वीकृत होता किन्तु दोनों दल उत्तेजित हो उठे थे । तिलक को प्रस्ताव पेश नहीं करने दिया गया और उधर तिलक उसे पेश करने पर तुले हुए थे; उन्होंने तबतक मंच पर से हटने से इन्कार किया जबतक उन्हें बोलने न दिया जाय या ज़बर्दस्ती पकड़कर हटा न दिया जाय । उनके इस हठ पर माडरेट दल के कुछ लोगों का दिमाग़ आसमान पर चढ़ गया । वे लोकमान्य पर टूट पड़े और उन्हें खींचने लगे । इसी समय एक मराठा जूता किसी ने फेंका । कुछ लोगों का कहना था कि वह तिलक पर फेंका गया था और दूसरे कहते थे कि उनके विरोधियों के लिए था । खैर; यह जूता सर फीरोज़शाह मेहता के लगा और वहाँ से छटककर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के मुँह

पर लगा। बस, एक तहलका मच गया और दोनों पक्षों के असहिष्णु लोग एक दूसरे पर कुर्सियाँ फेंकने लगे। कांग्रेस अधिवेशन स्थगित होगया।

"कोई भारतीय इस दुःखद घटना पर शर्मिन्दा हुए बिना विचार नहीं कर सकता। दोनों ही दल इस घटना के लिए ज़िम्मेदार थे, यद्यपि प्रत्येक दल दूसरे को दोषी समझता था। तिलक अपने साथ हुए इस अनुचित व्यवहार पर बहुत क्रुद्ध थे। उस समय मैंने उनसे कहा —"तिलक, देखो केवल तुम्हीं इस परिस्थिति को सुधार सकते हो। किन्तु इसके लिए तुम्हें अत्यधिक आत्म त्याग—आत्मनिन्दा—करना पड़ेगा। मैं जानता हूं और मुझे विश्वास है कि तुम इसके लिए तैयार हो।......तुम्हारे लिए एक महान् और दिव्य कार्य करने का अवसर उपस्थित हुआ है। वे तुम्हारा रक्त चाहते हैं। कांग्रेस की रक्षा के लिए तुम उन्हें क्यों न वह रक्त दो? मैं जानता हूं कि तुम इस दुःखद घटना के कर्ता नहीं हो किन्तु वे तो तुम पर कलंक का धब्बा लगाकर तुम्हें बदनाम करना चाहते हैं। क्या तुम मुझसे लिखित वादा कर सकते हो कि 'मैं सारी घटना की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेने को तैयार हूं और यदि कांग्रेस की रक्षा होती हो तो मैं इस बात की सार्वजनिक रूप से घोषणा करने को तैयार हूं?' तुम्हारे लिए एक महान् त्याग होगा, जिसका तुम्हें गर्व होना चाहिए। निश्चय ही ऐसा करते समय तुम्हें अनुभव होगा कि तुम अपने सच्चे एवं हृद्गत विश्वास के साथ अन्याय कर रहे हो पर राष्ट्रीय महासभा भंग हो जाय इसकी अपेक्षा क्या यह अच्छा न होगा कि तुम अपने ऊपर यह अन्याय कर लो!" इस बात पर बड़ी बहस छिड़ी। तिलक के अधिकांश समर्थक इस तरह तिलक को बलिदान करने के बिलकुल विरुद्ध थे। तिलक ने एक मिनट सोचा; उनके चेहरे पर दुःख की हँसी की एक रेखा चमक गई पर उन्होंने निर्णय कर लिया और कहा—"लो यह प्रतिज्ञा।" यह कहकर उन्होंने एक काग़ज़ पर इस आशय के शब्द लिख दिये—'यदि दूसरा पक्ष

कांग्रेस का अधिवेशन जारी रखने को तैयार हो तो मैं अपने ऊपर इस घटना की सारी ज़िम्मेदारी लेता हूं।' मुझे ठीक-ठीक शब्द तो याद नहीं हैं पर आशय यही था।.......इसे लेकर मैं मित्रों के साथ माडरेट नेताओं के पास गया पर वे तो कुछ सुनने को ही तैयार न थे। वे क्रोध से उन्मत्त हो रहे थे और उनके साथ विवेक की बातें करना संभव न था।"

इस घटना से तिलक की महान् त्याग-वृत्ति का पता लगता है।

× × ×

अनासक्ति

लोकमान्य गीता के परम उपासक और उसके भाष्यकार थे। उन्होंने गीता के कर्मयोग का संदेश भारत को दिया था। स्वयं अपने जीवन को उन्होंने कर्ममय कर डाला था। पर, जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूं, वह सब-कुछ कर्तव्य समझकर, अनासक्त होकर करते थे। उन्होंने अपना सब कुछ देवता के चरणों में अर्पण कर दिया था। इसीलिए उनके जीवन में हम अनासक्ति के अत्युत्कृष्ट दृष्टान्त पाते हैं। मण्डाले जेल में जब उन्हें पत्नी के देहावसान का समाचार मिला तो ज़रा भी विचलित न हुए। इसी प्रकार एक बार जब शिवाजी के स्मारक के सम्बन्ध में रायगढ़ गये थे तो उनके पुत्र की तबियत बहुत ख़राब थी। रायगढ़ पहुँचते-पहुँचते उसकी ख़तरनाक अवस्था का तार उन्हें मिला पर उन्होंने तार खोल कर देखा तक नहीं। अपना काम करते रहे। जब वहाँ का काम ख़त्म हो गया तब जेब से तार निकालकर पढ़ा।

× × ×

क़ानूनी ज्ञान

लोकमान्य ने यद्यपि कभी वकालत नहीं की किन्तु उनका क़ानूनी ज्ञान अद्भुत था। १८९७ में जब उनपर पहली बार राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया तब अपने क़ानूनी ज्ञान से उन्होंने अपने अंग्रेज़ बैरिस्टरों की काफ़ी सहायता की थी। और उनपर तिलक की प्रतिभा, तीव्र बुद्धि, योग्यता और क़ानूनी

ज्ञान का बड़ा अच्छा असर पड़ा था।*

सबसे बड़ी बात यह कि उनका अद्भुत व्यक्तित्व अदालत में भी वैसा ही प्रभावशाली रहता था इसलिए अदालती प्रदर्शनों से उनकी स्वतंत्रता में कभी कमी नहीं आती थी बल्कि कभी-कभी वह बड़ा कड़ा और मुँह तोड़ जवाब देते थे। जब लोकमान्य ने इंग्लैण्ड में सर वेलेण्टाइन शिरोल पर मुकदमा चलाया था तब लार्ड कार्सन से उनकी कई बार झड़प हो जाती थी। एक बार कार्सन ने लोकमान्य की ओर घूमकर कहा—"मि० तिलक, क्या आप सचमुच हमें यह विश्वास कराना चाहते हैं कि बंग-भंग, सिर्फ एक प्रांत के दो भौगोलिक खण्डों में बँटवारा करने से बमों को बनाने और लोगों पर फेंकने का आन्दोलन चल गया है?" तिलक की आँखें चमक उठीं। वह बोले—"हाँ अवश्य ही। क्या यही बात आयर्लैण्ड में घटित नहीं हुई?" कार्सन आयरिश थे इसलिए सुनकर जल भुन गये!

---

* बैरिस्टर चौधरी, जो तिलक के मुकदमे में उपस्थित थे, लिखते हैं—

"Mr. Pugh and Mr. Garth were greatly impressed with the great ability, Keenness of intellect, strong common sense, spirit of independence, and the remarkable knowledge of law that Tilak displayed in course of the consultation. × × × both Mr. Pugh and Mr. (afterwards Sir William) Garth expressed great admiration for Tilak's command over the English language, and the close and logical reasoning by which he controverted the charge, brought against him and his political activities. Mr. Garth was a Conservative in politics, and his interest in other things seldom went beyond his profession and horses. Yet he got so enthusiastic over Mr. Tilak's correspondence in the columns of the Times of India that he obtained some extra copies for taking them home so that he might show them to his father, Sir Richard Garth, the ex-Chief Justice of Calcutta High Court. He told me several times that he might not agree with Tilak's politics but there was no question that he was a very remarkable man."

लोकमान्य का जन-हृदय पर तो असाधारण अधिकार था ही पर सरकार पर भी उनका अत्यधिक आतंक था। डा० रदरफोर्ड (पार्लमेण्ट के भूतपूर्व सदस्य) की इस सम्बन्ध में भारत के सर्वश्रेष्ठ ब्रिटिश अधिकारी से बातें हुई थीं। उससे पता चलता है कि सरकार लोकमान्य से कितना डरती थी—

प्रभाव

अधिकारी – तिलक के बारे में आपके क्या विचार हैं?

डा० रदरफोर्ड—मैं उन्हें एक महान् देश-भक्त समझता हूं जो उचित रीति से अपने देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहा है।

अधिकारी—हम लोगों को गोखले तथा अन्य माडरेटों से भय नहीं है पर तिलक एवं अन्य उग्रदल वाले भारत में ब्रिटिश राज्य के लिए खतरा हैं और हम तिलक को पकड़ना चाहते हैं।

इस बात-चीत के ६ महीने के अन्दर ही लोकमान्य को ६ वर्ष की सज़ा मिली थी।

× × ×

एक बार की बात है कि सिन्ध के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री वीरूमल बेगराज ने फूलों की माला लोकमान्य को पहनाई। लोकमान्य ने उसे हाथ में लेकर कहा—"वीरूमल! राष्ट्रीय कार्यकर्ता के लिए यह एक मँहगी चीज़ है। किसी को जनता से पुष्प-माला ग्रहण करने का तबतक हक़ नहीं है जबतक वह प्रत्येक फूल के लिए अपने रक्त का एक प्याला देने को तैयार न हो!"

सार्वजनिक सम्मान की क़ीमत

कुछ और बातें

ऊपर हम लोकमान्य के राजनीतिक जीवन को लेकर कुछ लिखते रहे हैं। पर उनकी साहित्य-सेवा एवं हमारी संस्कृति एवं इतिहास के उद्धार का उनका प्रयत्न कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं; एक दृष्टि से तो उनका अधिक महत्व है। उनके 'ओरायन' (अग्रहायण) और 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज' नामक ग्रंथ उनकी अद्‌भुत गवेषणा-शक्ति एवं प्रतिभा के नमूने हैं। आज यद्यपि इस क्षेत्र में और भी खोज हुई है और युरोपियन सभ्यता की खोज करने वाला विद्वानों का एक दल लोकमान्य के सिद्धान्तों का सप्रमाण खण्डन कर चुका है किन्तु इससे उनकी प्रतिभा की असाधारणता अन्यथा नहीं होती।

'गीता रहस्य'

पर लोकमान्य का जो ग्रंथ चिर-काल तक हमारे बीच जीवित रहेगा वह तो उनका 'गीता-रहस्य' है। यह इस युग का महान् ग्रन्थ है। काका कालेलकर ने ठीक ही लिखा है—"प्रत्येक युग में एक न एक युग-प्रवर्तक ग्रन्थ उत्पन्न होता है। यदि यह कहा जाय कि 'गीता रहस्य' भी एक ऐसा ही ग्रन्थ है तो अत्युक्ति न होगी।"

हिन्दू शास्त्र ग्रन्थों में गीता सदा ही लोकमान्य रही और उसपर आज तक जितने भाष्य हुए हैं उतने संसार के किसी ग्रन्थ पर न हुए होंगे। वह सम्पूर्ण भारतीय तत्वज्ञान का निचोड़ है। साधारण आदमी के लिए भी, जो वेदान्त एवं उपनिषद की गहराई में प्रवेश नहीं कर सकते, वह एक निर्भ्रान्त मार्ग-प्रदर्शक है। वह प्रकाश का पुञ्ज है; वह आत्मा का दिव्य पंख है। व्यावहारिक और तात्विक दोनों दृष्टियों से, दोनों प्रकार के जीवन में, गीता हमारे चिरकल्याणमय मित्र एवं गुरु की भाँति है। स्वयं शुद्ध ज्ञान रूप भगवान् ही सद्‌रूप से इसमें

व्यक्त हुआ है। इसमें कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का अपूर्व समन्वय देखकर हम मुग्ध हैं। यही एक पुस्तक है जहाँ ज्ञान में कर्म का निषेध नहीं, केवल फलासक्ति के त्याग का आदर्श है। यहाँ ज्ञान के लिए कर्म बाधक नहीं, उलटे भगवान् ने उसे ज्ञानार्जन का एक अङ्ग बना लिया है।

गीता एक कामधेनु की भाँति जो जो चाहता है उसे वही देती है। किसी ने ज्ञान एवं विराग का निष्कर्ष उससे निकाला; किसी ने उससे भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध की। लोकमान्य ने सारी कथा की 'स्पिरिट'—प्रेरक भावना—का ऊहापोह करके यह निष्कर्ष निकाला कि भगवान् ने निराश और पथ से विचलित होते हुए अर्जुन को कर्म में नियोजित होने का ही बार-बार आदेश किया है और इस कर्म की वितृष्णाओं एवं मोह जालों में कभी न पड़े इसलिए उसे फलासक्ति का त्याग करने का उपदेश किया है। वस्तुतः यह जीवन के पुरुषार्थ के विषय में निराश, कठिनाइयों से भरे पथ को छोड़कर क्षणिक वैराग्य से मोहाविष्ट आत्मा के प्रति, निरन्तर कर्म-प्रवाह में पड़कर अनासक्त भाव से जीवन-युद्ध में जयी होने का उपदेश है। लोगों का यह खयाल था कि कर्म-मात्र बन्धन-प्रद है इसलिए सब कर्मों का त्याग करने में ही कल्याण है। लोकमान्य ने यह सिद्ध किया कि कर्म से भागकर हमारी कहीं गति नहीं है इसलिए उसे करते हुए भी फलासक्ति का त्याग करने से वही तात्पर्य निकलता है।

'गीता-रहस्य' को देखने से यह भी विदित होता है कि लोकमान्य ने उसके लिखने में कितना परिश्रम किया है। स्थान-स्थान पर हम उन्हें पश्चिम के तत्त्वज्ञान की विविध शाखाओं की गम्भीर आलोचना और उनसे भारतीय तत्त्व-ज्ञान की बारीकियों की तुलना करते देखते हैं। इसके लिखने के समय उन्हें सैकड़ों ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन करना पड़ा था।

वस्तुतः 'गीता-रहस्य' ने लोकमान्य को अमर कर दिया है। जैसे आज से हजारों वर्ष पूर्व भगवान् ने मोहाविष्ट हो कर्तव्य के पथ से भागते

हुए अर्जुन को इसके द्वारा जीवन का प्रकाश दिया वैसे ही लोकमान्य ने अकर्मण्यता एवं आलस्य के अतल-जल में डूबते हुए भारत को फिर वीरता-पूर्वक जीवन के संघर्ष में भाग लेने का उपदेश किया। यह उनकी भारत को एक बड़ी देन है।

× × ×

जहाँ तिलक-युग का अन्त होता है वहीं से गांधी-युग का आरंभ होता है। इसलिए बहुत-से लोगों ने तिलक और गांधी की तुलना की है।

तिलक और गांधी

पर एक तो दो महापुरुषों की तुलना करना ही खतरे से खाली नहीं फिर तिलक और गांधी तो मानव-जीवन की दो भिन्न प्रवृत्तियों को प्रकाशित करते हैं, इसलिए वे तो अपने-अपने क्षेत्र में महान् हैं; उनकी तुलना हो नहीं सकती। गांधी एक पैग़म्बर-'प्राफ़ेट'—हैं; तिलक एक योद्धा, एक रणदक्ष सेनापति और जनता के नेता थे। तिलक में नेपोलियन की 'स्पिरिट' थी; गाँधी में टाल्सटाय की प्रेरणा है। तिलक प्रत्यक्षवादी (Realist) थे; गाँधी आदर्श-वादी (Idealist) हैं। नीत्शे के तीनों रूपक—ऊँट, शेर और शिशु—तिलक के जीवन में व्यक्त हुए हैं। ऊँट सहिष्णुता एवं प्रतिरोध (Resistence) के लिए; शेर साहस एवं दिलेरी के लिए और शिशु दूरदर्शिता-'विज़न'—के लिए!

इस तरह हम देखते हैं कि तिलक का जीवन उस योद्धा सेनापति का जीवन है जो गिरता-पड़ता, अपनी सेना को उत्साहित करता उसे पहाड़ियों एवं खाइयों से पार ले जाता है और फिर एक मैदान में खड़ा करके उसका चार्ज दूसरे कमाण्डर को दे स्वयं वहाँ से चिर-विश्राम ग्रहण करता है। इस दृष्टि से हमारी निराशा की अँधेरी घड़ियों में उनका जीवन बिजली की भाँति हमारे सामने सतत् कर्म में लगे रहने की एक प्रकाश-रेखा छोड़ जाता है। वह लोहे का एक ऐसा जलता पिण्ड है जो कभी शीतल नहीं होता और जो हम से दूर होकर भी अपनी गर्मी से हम को बल देता है!

जीवन तालिका

१८५६ ई०	२३ जुलाई	जन्म; माता पार्वती बाई के पेट से। आरंभ में घर पर सामान्य शिक्षा।
१८६१ ”	विजयादशमी	प्राइवेट पाठशाला में बिठाये गये।
१८६४ ”	....	यज्ञोपवीत।
१८६६ ”	....	पूना के सिटी स्कूल में भरती हुए। इसी साल माता का स्वर्गवास हो गया।
१८६९ ”	...	पूना हाई स्कूल की पाँचवीं कक्षा में भर्ती हुए।
१८७१ ”	(वैशाख)	तापी बाई (बाद में सत्यभामा बाई) के साथ विवाह।
१८७२ ”	....	मैट्रिक परीक्षा पास की। इसी वर्ष (३१ अगस्त को) पिता का देहान्त हो गया।
१८७३ ”	....	डेकन कालेज में भर्ती हुए।
१८७६ ”	....	'आनर्स' के साथ प्रथम श्रेणी में बी० ए० किया।
१८७९ ”	....	कानून की परीक्षा पास की। कानून की शिक्षा के समय ही इन्होंने अपने मित्र आगरकर के साथ निश्चय किया कि जन-सेवा में जीवन लगावेंगे; सरकारी नौकरी न करेंगे।

१८८० ई०	१ जनवरी	श्री चिपलूणकर के साथ 'न्यू इंग्लिश-स्कूल' की स्थापना।
१८८१ "	....	'केसरी' और 'मराठा' निकले।
१८८२ "	८ फरवरी	कोल्हापुर के मामले में अपमान का मुक़दमा तिलक पर चलाया गया।
	१७ जुलाई	आगरकर और तिलक को ('केसरी' और 'मराठा' के सम्पादक की हैसियत से) चार-चार महीने की सज़ा हुई।
	२६ अक्तूबर	दोनों जेल से छूटे।
१८८४ "	२४ अक्तूबर	'दक्षिण शिक्षा-समिति' (डेकन एज्यूकेशन सोसायटी) की स्थापना
१८८५ "	२ जनवरी	'समिति' की ओर से फर्गुसन कालेज की स्थापना।
१८८८ "	१६ जुलाई	क्राफर्ड-प्रकरण का आरम्भ।
१८९० "	१४ अक्तूबर	मत-भेद के कारण अध्यापन से इस्तीफ़ा।
	१५ दिसम्बर	सोसायटी की आजीवन सदस्यता से इस्तीफ़ा।
१८९१ "	....	'केसरी', 'मराठा' का स्वामित्व तिलक ने खरीद लिया।
१८९२ "	....	'ओरायन' की रचना।
१८९३ "	....	गणपति-उत्सव का आरम्भ किया।
१८९४ "	....	शिवाजी उत्सव का आरम्भ किया।
१८९५ "	....	बम्बई-कौंसिल के सदस्य हुए।
१८९६ "	....	अकाल में सेवा और आन्दोलन।
१८९७ "	....	भयंकर प्लेग में सेवा और जन-पक्ष का समर्थन।

७

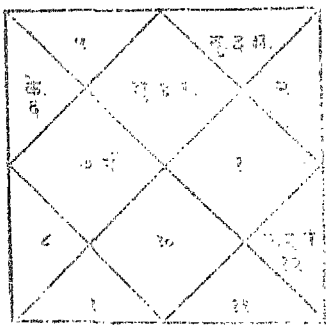
	२२ जून	प्लेग कमिटी के प्रेसीडेण्ट श्री रैण्ड का चाफेकर-द्वारा खून ।
	२७ जुलाई	कुछ लेखों पर राजद्रोह के जुर्म में तिलक की गिरफ्तारी ।
	४ अगस्त	जमानत पर छुटकारा ।
	८ सितम्बर	हाईकोर्ट में जस्टिस स्ट्राची के सामने मुकदमे का आरंभ ।
	१४ सितम्बर	१८ महीने सपरिश्रम कारावास की सजा ।
	१७ सितम्बर	हाईकोर्ट में पुनर्विचार की दरख्वास्त ।
	२४ सितम्बर	दरख्वास्त खारिज ।
	१९ नवम्बर	प्रिवी कौंसिल में अपील की अर्जी । अपील खारिज ।
१८९८ "	६ सितम्बर	जेल से छुटकारा । इसके बाद कांग्रेस में प्रभाव बढ़ने लगा । १९०५ तक तिलक राष्ट्रीय पक्ष के अन्यतम नेताओं में हो गये थे ।
१९०७ "	दिसम्बर	सूरत-कांग्रेस की दुःखद घटनाएँ ।
१९०८ "	२४ जून	कुछ लेखों के लिए राजद्रोह के अभियोग में गिरफ्तारी ।
	१३ जुलाई	जस्टिस दावर के इजलास में मामले का आरंभ ।
	२२ जुलाई	६ वर्ष का निर्वासन एवं १०००) जुर्माना ।
१९१२ "	७ जून	जब मण्डाले जेल में थे तभी घर पर पत्नी का देहान्त ।

१९१६ "	....	होमरूल आन्दोलन में जबर्दस्त भाग लिया। राष्ट्रीय महासभा के लखनऊ-अधिवेशन में दोनों पक्षों में मेल। मुसलमानों से समझौता।
१९१९ "	...	अमृतसर कांग्रेस में सम्मिलित हुए एवं 'कांग्रेस प्रजावादी-दल' की योजना बनाई।
१९२० "	२० जुलाई	साधारण ज्वर आया पर बढ़ता ही गया।
	३१ जुलाई	रात को १२ बजकर ४० मिनट पर देहावसान।

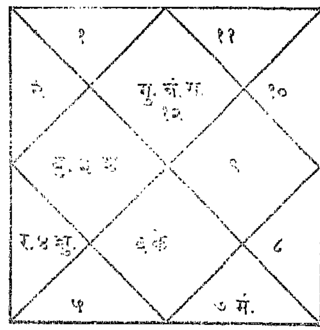
लोकमान्य की जन्म एवं राशि-कुण्डली *

शाके १७७८ आषाढ़ मासे कृष्णपक्षे तिथौ ६ सौम्य वासरे घ० २१ प० २५ उत्तराभाद्रपदा नक्षत्रे घ० ४ प० ३३ सूर्योदयात गत घ० २ प०५

जन्म कुण्डली



राशि-कुण्डली



जन्मकाल के स्पष्ट ग्रह

र०	चं०	मं०	बु०	गु०	शु०	श०	र०	के०	ल०
३	११	६	२	११	३	२	११	५	३
८	१६	४	२४	१७	१०	१७	२७	२७	१९
१९	३	३४	२९	५२	८	१८	३९	३९	२१
५१	४६	३७	१७	१६	२	७	१६	१६	३१

* कुण्डलियों एवं वंश-वृत्त के लिए लेखक, श्री न० चि० केलकर एवं 'प्रभा'—सम्पादक का कृतज्ञ है।

[२]

तिलक का वंश-वृक्ष

केशव
|
दामोदर [दादाजी]
|
कृष्णाजी
|
केशव
|
कृष्णाजी [मृत्यु शके १६८७] — अन्य तीन पुत्र
|
केशव या केशो पन्त — अन्य दो पुत्र
|
रामचंद्र पन्त [जन्म सन् १८०२, मृत्यु १८७२] — अन्य तीन पुत्र
|
गंगाधर पन्त [जन्म ता० २३–८–१८२०
मृत्यु ३१–८–१८७२
पत्नी पार्वतीबाई, मृत्यु २४–७–१८६६

(अन्य तीन पुत्र) → गोविंदराव [जन्म १८३५ ई०
मृत्यु १९०४ ई०]

|
बलवन्तराव [जन्म २३–७–१८५६
मृत्यु ३१–७–१९२०
पत्नी सत्यभामाबाई मृत्यु ७–६–१९१२]
|
सौ० कृष्णाबाई [जन्म १८८० ई०] = [वि०गं०केतकर वकील नासिक]

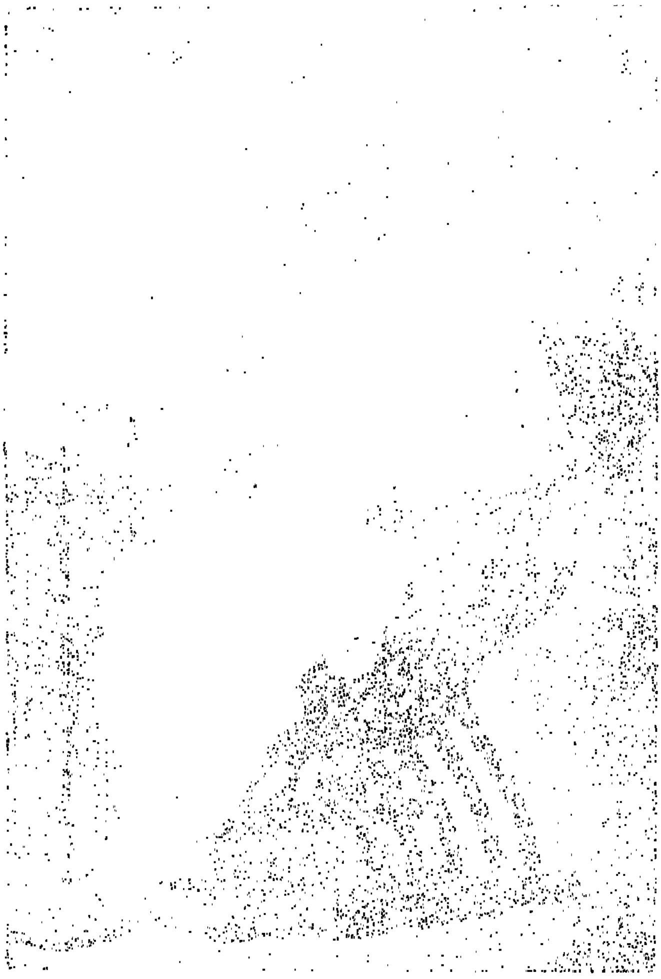
विश्वनाथ [जन्म १८८६ मृत्यु १९०३]

सौ० दुर्गाबाई [जन्म १८८९ ई०] = [पो०रा०वैद्य सरकारी इंजीनियर]

सौ० मथुराबाई [जन्म १८९१] = [डा०श्री०मो०साने अध्यापक]

रामचंद्र जन्म १८९४

श्रीधर [जन्म १८९६]



मोतीलाल नेहरू

मोतीलाल नेहरू

['त्यागमूर्ति' : 'राजपुरुष']

जन्म	मृत्यु
६ मई १८६१ ई०	६ फरवरी १९३१ ई०

: त्यागमूर्ति :

"*The Patriot who gave his all to India.*"

—*St. Nihal Singh.*

"इस देशभक्त ने अपना सर्वस्व भारत को अर्पण कर दिया।"

—संत निहालसिंह।

: 'राजपुरुष' :

"..........*his features instinct with the spirit of combat, a figure emblematic of.*

Thrones, dominations, princedoms, powers."

—*Al-Kafir.*

"उसकी आकृति पर संघर्ष की—मल्लता की छाप है;—एक पुरुष जो सिंहासनों का, शासन का, राज्य का, शक्ति का प्रतीक है।"

—अल-काफ़िर।

"A taut, stockily built man, his mighty head set square and challenging, erect with just a suspicion of defiance, his sparse well-groomed white hair brushed close to the crown,

With Atlantean shoulders fit to bear
The weight of mightiest monarchies

and a terrible jaw which has never yielded to any body and is not going, at this time of life, to yield to such a thing as old age, he stands like a block of granite foresquare to all the winds that blow—as if the sweet-scented manuscript of his youth would never close—his features instinct with the spirit of combat, a figure emblematic of—

Thrones, dominations, princedoms, virtues, powers" *

—*Al-Kafir*

—एक—

तूफ़ान और आँधी के वे दिन !

आँधी उठ चुकी थी। देश के हृदय में लड़ने का—मर मिटने का साहस भर रहा था। युवकों की आँखें चमकती थीं। आकाश में घटाएँ घिरती जा रही थीं। बादल—बरसनेवाले बादल गरजते और चिनगारियाँ चमकाते इकट्ठे हो रहे थे। जान पड़ता था, जल-थल एक करके छोड़ेंगे। पुराने नेताओं के पैर उखड़ रहे थे; नये मैदान में चमकने लगे थे। राज-

* पं० मोतीलाल के जीवित रहते (१९२८ ई० में) लिखा गया था।

नीति के घने जंगल में कुछ सूझता न था पर तूफान ने प्रत्येक वृक्ष को अस्थिर कर दिया था। बहुत दिनों से, बुजुर्ग की तरह उम्र का बोझ उठाये हुए वृक्ष आँधी में जीवन-मरण के बीच झोंके खा रहे थे और आँधी लानेवाली शक्तियों को कोस रहे थे कि बुढ़ापे में, शान्ति से पूर्व जीवन की स्मृतियों का गौरव-गान करते-करते तथा नवागन्तुकों को सावधानी एवं गम्भीरता के उपदेश देते-देते, चार दिन की ज़िंदगी शेष कर देने के वक्त, यह कहाँ का तूफ़ान खड़ा हुआ!

इस आँधी के बीच, अपने उथल-पुथल हो रहे जीवन में, पहली बार मैंने मोतीलालजी को काशी में देखा। कई नेताओं को देख चुका था—लोकमान्य को भी, लालाजी को भी। ये भारतीय राजनीति को व्यक्तित्व से प्रकाशित करनेवाले नेता हुए हैं। पर इनको देखकर दूसरा ही भाव उपजा था। व्यक्तित्व का कोई तात्कालिक असर उनके दर्शन से नहीं होता था। पर मोतीलालजी तो, इस लिहाज़ से, बेजोड़ थे। उनके सिर को देखते हुए जान पड़ा, एक असाधारण पुरुष को देखा है!

—दो—

अद्भुत व्यक्तित्व

निस्सन्देह मोतीलालजी का व्यक्तित्व सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक नेताओं में अद्वितीय था। उनका ग्रीक (यूनानी) काट का चेहरा, उनकी गठन, उनके दृढ़ जबड़े, ज्योतिर्मयी आँखें और ऊँचे कंधों को देखते ही एक अपरिचित के मन पर भी उनके महत्त्व की छाप पड़ती थी,—जैसे वह साधारण से भिन्न हों। उनके चेहरे से खान्दानी बड़प्पन टपकता था। गांधी को न जानने वाला मुसाफ़िर सिर्फ़ देखकर यह नहीं समझ सकता था कि यह एक महापुरुष है,—उनके ढाँचे में कोई ऐसी बात नहीं थी पर मोतीलाल को साधारण आदमी, प्रथम दर्शन में भी, न जानने पर भी, अपनी श्रेणी का

समझ ही न सकता था। वह खुद भी अपने को सामान्य कभी न समझते थे। अनेक बार ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व की महानता प्रकट होती है। १६२६ या ३० की बात है। श्री जेम्स वान शेक (James Van Shyke) नाम के एक अंग्रेज़ पत्रकार भारत में यात्रा के लिए आये थे। उन्होंने पहले कभी मोतीलालजी को देखा न था। उन्होंने मोतीलालजी के प्रथम दर्शन का ज़िक्र किया है जिससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का पता चलता है—

"गरमी पड़ रही थी। रेलगाड़ी दौड़ी जा रही थी। कई स्टेशनों पर मैंने भीड़ देखी। एक बार मेरी निगाह प्लेटफ़ार्म पर खड़े, मामूली पोशाक पहने, एक आदमी पर पड़ी। पता नहीं क्यों मुझे अनुभव हुआ कि यह तो असाधारण आदमी है—ऐसा आदमी जो जनता का होकर भी जनता से भिन्न हो। जैसे कोई युरोपीय हो! × × × पीछे मैंने उस आदमी को 'भोजन के डब्बे'—'डाइनिंग सैलून'—में बड़ी बेतकल्लुफ़ी से बैठे देखा। मामूली हिन्दुस्तानी कपड़ा पहने इस बेतकल्लुफ़ी के साथ 'डाइनिंग कार' में बैठने वाला दुर्लभ आदमियों में से एक मालूम हुआ। × × × अन्त में मुझसे न रहा गया। मैंने उसके पास जाकर पूछा—"क्षमा कीजिएगा, क्या मैं इस सम्बन्ध में आपकी राय जान सकता हूँ कि जिन दंगों के बारे में हम विदेशों में पढ़ते हैं, उनका अन्त कब होगा?" × × वह हँसा; ओठ दबाया। मुखपर अद्भुत दृढ़ता थी। बोला "इनमें अधिकांश तो निर्माण किये जाते हैं!" × × × एक मिनट सोचकर मैं बोला—"वही सही पर आपकी सम्मति में इनका अन्त कब होगा?" उसने कहा—"युवक, यह तबतक चलता रहेगा जबतक अंग्रेज़ सफलता-पूर्वक हमारा प्रतिरोध कर सकेंगे।" मैं केवल बात को आगे बढ़ाने के ख़याल से बोला—"पर वे तो काफ़ी मज़बूत हैं,—क्या ऐसा नहीं है?" उत्तर मिला—"ओह, पर हम ३० करोड़ भी तो हैं!" कहते-कहते विजय की ज्योति

उसकी आँखों में दिखाई पड़ी। × × × बड़े-बड़े स्टेशनों पर मैं देखता कि आदमियों के दल के दल इस व्यक्ति के डिब्बे पर आते। अन्त में बम्बई का 'विक्टोरिया टर्मिनस' आया। प्लेटफार्म पर आदमियों की कतार की कतार खड़ी थी; बैण्ड बज रहे थे; जयकार से आकाश गूँज रहा था; फूल-माला लिये लोग खड़े थे। कितने ट्रेन की छत पर चढ़ गये; कुछ डिब्बों में घुसे। अन्त में मैंने देखा कि यह सब उसी आदमी के लिए है। मैंने दो-एक से पूछा—"यह कौन हैं?" तब आश्चर्यजनक वाणी में मुझे बताया गया कि "हरएक आदमी इन्हें जानता है—यह मोतीलाल नेहरू हैं'।"

× × ×

सन् १९१० में प्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय पत्रकार सेंट निहालसिंह अमेरिका से भारत आये। वह श्री (अब सर) सच्चिदानंदसिंह के यहाँ ठहरनेवाले थे। श्रीसिंह ने उन्हें मोतीलाल के यहाँ ठहरने का प्रबंध किया। सेंट निहालसिंह से उनका परिचय न था पर उनके यहां युरोपीय ढंग के भोजन तैयार करने वाले अच्छे से अच्छे रसोइये थे अतः सच्चिदानंद सिंह ने आराम के खयाल से उन्हें वहीं टिकाया। मोतीलालजी को पहली बार देखकर उनपर जो प्रभाव पड़ा, उसके बारे में वह लिखते हैं—"× × मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। पण्डितजी लम्बे और एकहरे बदन के थे। वह तीर की भाँति सीधे और पहलवान की भाँति सुगठित दिखते थे। × × × उनका ललाट चौड़ा और ऊँचा था। उस पर गहरे विचार ने अस्पष्ट रेखाएँ खींचनी शुरू कर दी थीं। धनुषाकार भौंहों के नीचे से दो काली आँखें चमक रही थीं—जिनके पीछे मस्तिष्क की आग होगी। वे दयापूर्ण आँखें थीं। वे दुनिया की ओर अत्यन्त सहिष्णुतापूर्वक देखती थीं। उनमें संसार के प्रति विनोद के भाव भी भरे थे। वे रंगीली भी हो सकती थीं और आवश्यकता होने पर असंतोष से जल भी सकती थीं। नाक से शक्ति और उच्च भावना का पता चलता

था। × × × ओठ 'अरिस्टोक्रेट' के ओठ थे; पतले और भारतीय चित्रकला में चित्रित धनुष की भाँति! × × × ठुड्डी में योद्धा के चिह्न थे और अन्य अंगों की ग्रीक--युनानी—पवित्रता से उसका पूर्ण सामञ्जस्य था।"

एक दूसरे लेखक ने लिखा था—

"जब-जब देश के भाग्य-निर्माता नेताओं को देखने का अवसर मुझे मिला है, तब-तब उन्हें देखकर मेरे मन में यह जिज्ञासा उठती रही है कि साधारण व्यक्तित्व में इतनी महानता कैसे आ गई। मैंने अक्सर महात्माजी की ओर लोगों को उँगली उठाकर आश्चर्य एवं कुतूहल के साथ पूछते देखा—सुना है—"यही महात्मा हैं?" इसी प्रकार वल्लभभाई को देखकर किसान का भ्रम होने की संभावना सदा रहती है किन्तु बहुत-से ऐसे भी हैं जिनके विषय में ऐसा नहीं होता। मोतीलाल जी भी उन्हीं में से एक थे। बिना परिचय के उन्हें पहली बार देखने पर भी दर्शक पर यही प्रभाव पड़ता था कि उसने एक महत्वपूर्ण व्यक्ति देखा है।"

"उनकी दृढ़ता-बोधक ठुड्डी, चौड़ा माथा, प्रकाशमान आँखें आदमी पर अंग-रक्षकों एवं क़ीमती लाल कालीनों से अधिक प्रभाव डालती थीं। उनका व्यक्तित्व ऐसा विजयशील (overpowering) था कि अधिकांश व्यक्ति उनके साथ बैठकर अपने को हवाना सिगार की तरह अनुभव करते थे। × × × उनके व्यक्तित्व के आगे बड़े-बड़े अपने को कमज़ोर पाते थे। केवल उनकी दृष्टि जवाब ('रिटार्ट')के समान थी। उनका जवाब ऐसा होता था मानों किसी ने बरछी घुसेड़ दी हो।'

"एक बार की बात है कि एक मूर्ख मनुष्य सभा में बीच-बीच में बोलकर विघ्न डालने की कोशिश करता था—कोशिश शब्द मैं इसलिए लिख रहा हूं कि उनके व्याख्यान में विघ्न डालने में कोई सफल न हो सकता था। पण्डितजी ने उससे कुछ कहा नहीं। सिर्फ़ एक बार आँखें

तरेर कर उसकी ओर देखा। आँखों ने काम कर दिया। अन्त तक फिर वह आदमी कुछ बोलने की हिम्मत न कर सका।"*

निस्सन्देह उनकी राजनीति उनके व्यक्तित्व में केन्द्रित थी। भारतीय राजनीति के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अध्ययन की चीज़ था। वह जिस वातावरण में पले थे वह राजसिक था इसलिए हुकूमत और अधिकार उनके लिए स्वाभाविक हो गये थे।

—तीन—

वह विलास एवं वैभव !

एक ज़माना था जब उनके विलास एवं वैभव की कहानियाँ कही जाती थीं। विलास नाचता था; वैभव गाता था। कभी पार्टियाँ सज रही हैं; कभी गायन हो रहा है; मदिरा के प्याले इस तरह चल रहे हैं, मानों फारसी कवि उमर खय्याम की भावना सिद्ध होकर पृथ्वी पर उतर आई हो। उस समय के 'इलाहाबाद के नवाब' का क्या पूछना था। विलास एवं वैभव का वह ज़माना, जो कहावत एवं दृष्टान्त के रूप में प्रचलित था, आज कहानी हो गया है।

सन् १९१० में जब सन्त निहालसिंह पहली बार उनसे मिले थे तब वह वैभव की दोपहरी में था। कपड़े लंदन में सिलते थे, पैरी में धुलते थे। वह लिखते हैं—"उनके सुन्दर सुगठित मस्तक पर बाल किसी शौक़ीन एवं चतुर नाई-द्वारा काटे और बड़ी होशयारी से सँवारे गये थे। उनकी पोशाक ऊपर से नीचे तक अंग्रेज़ की भाँति थी। उनको देखकर ऐसा मालूम होता था मानों अभी-अभी † बाण्ड स्ट्रीट, लंदन के किसी

---

* श्री बी० डी० धनपाल — लीडर, ९ फरवरी १९३१।

† लंदन का यह एक बड़ा ही मँहगा और फैशनेबुल मोहल्ला है जहाँ बड़े-बड़े दर्ज़ीख़ाने हैं।

विख्यात दर्जीखाने से निकलकर आ रहे हों। × × × भोजन के साथ मदिरा का प्रवाह जारी था। यद्यपि मैं शुरू से ही मदिरा नहीं पीता पर उसकी विविधता को देखकर कहा जा सकता था कि (उन दिनों के) आनंद भवन का मद्य-भाण्डार यूरोप के प्रसिद्ध मदिरालयों से कहीं अच्छा था।"

उनके विलास-वैभव का क्या ठिकाना था। सर रास विहारी घोष ने उनकी तरह लाखों कमाये। वह भारत के चोटी के वकीलों में हुए हैं। मरते समय ४० लाख तो केवल संस्थाओं को ही दान कर गये पर इस सम्बन्ध में वह भी मोतीलाल की बराबरी न कर सकते थे। एक बार की बात है कि मोतीलाल जी कलकत्ता आने और सर रास विहारी का आतिथ्य ग्रहण करने वाले थे। सर रास विहारी ने उनके लिए सब प्रकार की सुविधा कर रखी थी फिर भी उन्हें संकोच ही था। वह बोले—"मेरे मकान में मोतीलाल को वह आराम न मिलेगा।" इस पर जो लोग उपस्थित थे, मज़ाक समझकर अविश्वास की हँसी हँसने लगे। सर रासविहारी ने उत्तर दिया—"तुम लोग नहीं जानते कि मोतीलाल इलाहाबाद में किस तरह रहते हैं, इसीलिए तुम हँस रहे हो!"

जिसने ऐसे राजसिक वैभव को तिनके के समान छोड़ दिया उस पुरुष की जीवन-कथा जानना हमारे लिए कर्तव्य-सा है। आओ, उधर भी नजर डाल लें।

—चार—

जीवन-कथा

नेहरुओं के पूर्वज पं० राजकौल बादशाह फ़र्रुख़सियर के शिक्षक के रूप में दिल्ली आये थे। उसी समय से इनका वंश दिल्ली में बस गया और अब भी कुछ अंशों में वहाँ है। कई पीढ़ियों के बाद गंगाधर जी हुए; वे बहुत दिनों तक दिल्ली के कोतवाल रहे। इनके तीन पुत्र हुए—नंदलाल, बंशीधर, मोतीलाल।

वंश परिचय

फरवरी सन् १८६१ ई० में जब मोतीलाल जी गर्भ में थे, पिता का देहावसान हुआ। इनका जन्म ६ मई १८६१ ई० को दिल्ली में हुआ। इनके बड़े भाई नंदलाल जी ने बड़े प्रेम से इनका पालन किया।

शिक्षा

बारह वर्ष की उम्र तक इनकी शिक्षा इस्लामी मकतब में हुई। इस काल में इन्होंने फारसी—अरबी अच्छी तरह सीख ली जिसकी छाप अन्त तक इनके जीवन पर रही। १८७५ ई० में गवर्नमेण्ट हाई स्कूल कानपुर में भरती हुए और १८७३ ई० में प्रथम श्रेणी में इण्ट्रेंस परीक्षा पास की। उन दिनों कानपुर में कोई कालेज न था अतः फिर प्रयाग आकर म्योर सेण्ट्रल कालेज में भरती हुए। यह बड़े तीव्र बुद्धि के विद्यार्थी थे; विद्यार्थियों के नेता माने जाते थे। प्रिंसपल मि० हैरिसन इन्हें बहुत मानते थे; उन्होंने शायद एक बार कहा भी था कि 'मि० नेहरू एक दिन अवश्य ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होंगे।' यहाँ बी० ए० तक पढ़ा पर बीमार पड़ जाने से बी० ए० की परीक्षा में न बैठ सके। फिर वकालत पढ़ने लगे और सिर्फ़ तीन महीने में १८८२-८३ की वकील हाई-कोर्ट की परीक्षा ससम्मान सर्वप्रथम पास की।

वकालत

सन् १८८३ ई० (२१ साल की उम्र) में कानपुर में वकालत शुरू की। बहुत जल्द चल निकली। यहां के प्रमुख वकील पं० पृथ्वीनाथ से इनका खूब हेल-मेल हो गया। उनकी सलाह से १८८६ ई० में हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करने के विचार से प्रयाग आये। प्रयाग में इनके बड़े भाई नंदलाल जी पहले से ही वकालत कर रहे थे। उनके साथ यह भी करने लगे। पहले यह मीरगंज मुहल्ले में रहते थे; वहीं जवाहरलाल का जन्म हुआ पर बाद में लक्ष्मी की कृपा होने पर स्व० सर सुन्दरलाल के एलगिन रोड वाले बँगले में चले गये। पीछे मुरादाबाद के राजा श्री परमानंद का बँगला खरीदा। यह बँगला पहले सर सैयद अहमद के पुत्र जस्टिस महमूद का था। वह भी इन्हें बच्चे की तरह मानते थे। यही बँगला आगे चलकर

सुप्रसिद्ध 'आनन्द-भवन' (आज का 'स्वराज-भवन')हो गया।

इनके प्रयाग आने के कुछ ही दिनों बाद पं० नंदलाल का हैजे से देहान्त हो गया। मरते समय उन्होंने सारे कुटुम्ब का भार सौंपते हुए इनसे कहा—"मोतीलाल, यह खानदान तुमको सुपुर्द करता हूँ; इस बाग़ के तुम माली हो; इसको सजाना, इसको बढ़ाना, इसकी रक्षा करना, इसके फूल अलग न होने पावें और इसके जाम का शीराज़ा बिखरने न पावे।" पं० मोतीलालजी ने इस थाती की खूब रक्षा की। एक-एक बच्चे पर वह जान देते थे।

देहान्त के समय नंदलाल जी के हाथ में बहुत-से मुक़दमे थे। इन्होंने उनके मुक़दमों को जीतकर उनके मुवक्किलों को भी अपना बना लिया। पहले-पहल इनकी प्रसिद्धि एक प्रयागवाल के मुक़दमे में हुई, जिसपर ७ जुर्म लगाये गये थे। उन्होंने उसे सब से बरी करा दिया। जज ने स्वयं फैसले में लिखा—"इस मुक़दमे में अभियुक्त को बचाने का सारा श्रेय पं० मोतीलाल जी को है। किसी भी अभियुक्त का, जिस पर ७—७ जुर्म लगाये गये हों, सभी जुर्मों से बरी हो जाना बड़ा कठिन है। इस अभियुक्त को बरी करना पं० मोतीलाल जी ऐसे वकील का ही काम है। नेहरू जी ने जिस विद्वत्ता और खोज के साथ अभियुक्त के पक्ष का समर्थन किया और उसकी पैरवी की वह सर्वथा प्रशंसनीय है।" इस के बाद यह खूब चमके। अंग्रेज़ी के प्रमुख पत्रों ने इनकी प्रशंसा की और तात्कालिक चीफ जस्टिस सर जॉन एज की इन पर कृपा हो गई। जब सन् १८९६ ई० में हाईकोर्ट के जजों को पहली बार वकीलों में से एडवोकेट बनाने का अधिकार मिला तो जिन चार वकीलों को चुना गया उनमें उम्र के लिहाज से यह सब से छोटे थे। यह विजय पर विजय पाते गये और थोड़े ही दिनों में इनकी गिनती सर्वोच्च वकीलों में होने लगी। सन् १९२१ ई० तक यह वकील असोसिएशन के सभा-पति रहे। इसके बाद तो वकालत करनी ही छोड़ दी।

प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण लखनाराज का एक मामला बाद में भी इन्हें लेना पड़ा जो प्रिवी कौंसिल तक गया और इन्होंने मुवक्किल को जिताया। असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद चेम्बर प्रैक्टिस करने लगे और १९३० का सत्याग्रह-आंदोलन आरंभ होने तक करते रहे। सन् १९२८ ई० में प्रसिद्ध 'सर्चलाइट' के मामले में इनकी बहस का ढंग देखकर अदालत और वकील विस्मित रह गये। सन् १९२९ ई० में कायस्थ पाठशाला और इंदौर के सेठ सर हुकुमचंद के मुक़दमों की पैरवी करने गये तो अदालत में भीड़ लगी रहती थी। इसके बाद महाराज दरभंगा ने खास तौर पर आपको अपने मुक़दमे में वकील किया। इन्होंने कांग्रेस कार्यकारिणी की अनुमति से इस मुक़दमे को लिया और इसकी तीन-चौथाई आय कांग्रेस को दे दी। प्रयाग हाईकोर्ट के सुप्रसिद्ध वकील और बाद में चीफ़ जस्टिस इक़बाल अहमद ने कहा था—"माई लार्ड, बिना अतिशयोक्ति के मैं कह सकता हूं कि अपने सारे जीवन में मैंने उनसे बड़ा एडवोकेट और अद्भुत वकील नहीं देखा। वास्तव में वह वकील पेशे के मित्र थे। उन्हीं के समान व्यक्ति इस पेशे के सम्मान और पद की मर्यादा बढ़ाते हैं।" इसी प्रकार उनकी मृत्यु के बाद, वकीलों के सामने बोलते हुए चीफ़ जस्टिस सर ग्रिमउड मियर्स ने कहा था—"आप में से बहुतों को इटावा के मुक़दमे में उनकी अद्भुत पैरवी याद होगी जिसमें वह रानी किशोरी की तरफ़ से वकील थे। सारे संसार का कोई वकील उस मुक़दमे को उनसे ज्यादा अच्छा नहीं लड़ सकता था।"

सन् १८८८ ई० में राष्ट्रीय महासभा का चौथा अधिवेशन जार्ज यूल के सभापतित्व में प्रयाग में हुआ था। तभी से उसमें शामिल होने लगे। १८९२ ई० में जब फिर अधिवेशन प्रयाग में हुआ तो वह स्वागत-समिति के एक पदाधिकारी थे। इसके बाद प्रायः सभी अधिवेशनों में शामिल होते रहे। १९०३ में जवाहरलाल के साथ बम्बई अधिवेशन में शामिल हुए। सर हेनरी काटन

सार्वजनिक जीवन

सभापति थे। यहीं गरम-नरम के भेद की नींव पड़ी। यह पूरे नरम थे। सन् १६०६ ई० में इंग्लैण्ड से लौटकर कलकत्ता कांग्रेस में शामिल हुए। यहाँ दोनों दलों का मत-भेद स्पष्ट था। बिपिनपाल, अरविन्द घोष और तिलक सदल-बल माडरेटों से सत्ता छीनने आये थे। बंग-भंग के कारण वातावरण और अशान्त हो उठा था। पर मुख्य प्रस्ताव पर मालवीयजी, मोतीलालजी तथा युक्तप्रान्त की सहायता से नरम दल की हार होते-होते बची। सन् १६०७ ई० में युक्तप्रांतीय कान्फ्रेंस का प्रथम अधिवेशन प्रयाग में हुआ। मोतीलालजी सभापति हुए। उस समय भी ब्रिटेन की न्यायप्रियता में इनका विश्वास अटल था और बायकाट, क़ानून-भंग इत्यादि से चिढ़ थी। इनके भाषण से उस समय लोग निराश भी हुए। सन् १६१३ में फिर लखनऊ की प्रांतीय कान्फ्रेंस के सभापति हुए। १६०६ से १६१६ तक बराबर सर्वभारतीय कांग्रेस-कमिटी के प्रमुख सदस्यों में इनकी गिनती होती थी। प्रायः सात वर्ष तक युक्तप्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी थे। समाज-सुधार-सम्बन्धी अपने उग्र सामाजिक विचारों के कारण सामाजिक सम्मेलन एवं पटेल बिल—कमेटी के अध्यक्ष भी चुने गये। बहुत दिनों तक सेवा-समिति, प्रयाग के उपाध्यक्ष रहे। इन संस्थाओं के अतिरिक्त विद्या-मंदिर हाई-स्कूल कमेटी, होमरूल लीग और बार असोसिएशन के सभापति भी रहे।

'लीडर'

सन् १६०६ ई० में कई मित्रों के सहयोग से 'लीडर' नामक अंग्रेज़ी दैनिक निकाला। यह उसके प्रथम मैनेजिंग चेयरमैन हुए। उसके हिस्सेदार भी थे। सन् १६१० ई० में पत्रों का मुँह बन्द कर देने को सरकार तुली थी। उस समय इन्होंने कहा था—"जबतक मेरे मकान में एक ईंट के ऊपर दूसरी ईंट खड़ी है, तबतक मैं 'लीडर' के स्वतंत्रता के लिए लड़ने के अधिकार की रक्षा करूँगा।" पीछे मत-भेद के कारण यह 'लीडर' से अलग हो गये।

सन् १९०९ ई० में मार्ले-मिण्टो सुधारों का आरम्भ होने पर यह कौंसिल के सदस्य हो गये। वहाँ भी समय-समय पर निर्भीकतापूर्वक सरकार के अनुचित कार्यों की आलोचना करते रहे।

व्यवस्थापक के रूप में

सन् १९१७ ई० में रुड़की इंजीनियरिंग कालेज के गोरे प्रिंसपल ने भारतीय विद्यार्थियों के प्रति अनुचित बातें कहीं। उसके घृणित व्यवहार पर इन्होंने कौंसिल में निन्दा का प्रस्ताव पेश किया। सरकार ने मामले को गंभीर होता देख इन्हें उत्तर देने का मौका न दिया। इस पर विरोध में कौंसिल-भवन छोड़कर चले आये पर गवर्नर एवं सर सुन्दरलाल के मनाने पर फिर गये। सन् १९१८ ई० में युक्तप्रांतीय कौंसिल में जब राय-बहादुर आनंदस्वरूप ने माण्टेगू—चेम्सफर्ड सुधार-योजना के समर्थन का प्रस्ताव पेश किया तो इन्होंने उसका विरोध किया। १३ अगस्त १९१८ ई० को इन्होंने कौंसिल के सम्मुख एक और विचारणीय प्रस्ताव उपस्थित किया था। वह यह कि गवर्नर कौंसिल के सदस्यों में से एक प्रधान मंत्री चुन ले। और शेष मंत्रिमण्डल का चुनाव उसकी इच्छा पर छोड़ दे। मंत्रिमण्डल कौंसिल की अनुमति से ही कार्य-संचालन करे। मंत्रियों के वेतन का बजट प्रति वर्ष कौंसिल-द्वारा निश्चित हुआ करे। उस समय के लिहाज़ से ये प्रस्ताव कितना आगे बढ़े हुए थे! १९१४ से १७ तक यह प्रयाग म्युनिसिपल बोर्ड में भी रहे।

महायुद्ध के समय महात्माजी की तरह इन्होंने भी सरकार की बड़ी सहायता की। प्रान्तीय प्रकाशन-विभाग के सदस्य रहे और भारतीय रक्षा दल ('इण्डियन डिफेंस फोर्स') का संगठन किया तथा अन्य प्रकार से भी सरकार को बड़ी सहायता पहुँचाई।

सरकार की सहायता

प्रयाग में होमरूल लीग की एक शाखा खुली जिसके यह सभापति थे। सर सप्रू, चिंतामणि एवं जवाहरलाल भी इसमें थे। प्रयाग में इस

लीग ने खूब ज़ोर पकड़ा। गोरे अखबार 'पायोनियर' ने व्यंग करते हुए 'होमरूल लीग के ब्रिगेडियर जेनरल' नाम से इनका ज़िक्र किया। सन् १९१७ ई० में प्रांतीय सम्मेलन के विशेष अधिवेशन के सभापति हुए।

होमरूल लीग और 'इण्डिपेण्डेण्ट'

प्रान्त में स्वतंत्रता एवं निर्भीकतापूर्वक जनता के अधिकारों के लिए आवाज़ बुलन्द करने वाले दैनिक का अभाव इन्हें खल रहा था। फल-स्वरूप अपने विचारों के प्रचारार्थ, महाराजा साहब महमूदाबाद के सहयोग से, इन्होंने 'इण्डिपेण्डेण्ट' नामक अंग्रेज़ी दैनिक पत्र निकाला। ५ फ़रवरी १९१८ ई० को वसन्तपंचमी के दिन उसका जन्म हुआ। निकलने के पूर्व 'वान गार्ड' और 'इण्डिपेण्डेण्ट' दो नाम सुझाये गये थे। पंडित जी ने दूसरे को पसन्द किया। इसी समय की बात है कि एक दिन श्री (बाद में सर) सच्चिदानंदसिंह ने मज़ाक में कहा—"भाई जी, मैं समझता हूँ आपका पत्र हमारे क्षेत्र में 'ब्लैकगार्ड' के नाम से पुकारा जायगा।" पंडित जी ने तुरन्त जवाब दिया—"तुम माडरेट लोग सदा ग़लत ही समझते हो। यह सब 'माडरेटों' से 'स्वतंत्र' रहेगा।"

'इण्डिपेण्डेण्ट' पर मोतीलाल जी बहुत ध्यान देते थे। उसकी विजय को अपनी विजय समझते थे। पंजाब के सैनिक शासन के दिनों में वह सम्पादकीय लेखों को, प्रेस में जाने के पूर्व, स्वयं देखते थे। उन्हें सैयद हुसेन (जो आजकल मिश्र में हमारे राजदूत हैं)—जैसे योग्य सम्पादक भी मिल गये थे। एक दिन उन्होंने सैयद हुसेन से एक लेख की भाषा और मुलायम करने को कहा और तीन चार ऐसा करने पर भी जब वह छपा तो इतना कड़ा था कि पंजाब और बर्मा में यह अंक ज़ब्त कर लिया गया। इस लेख में सम्पादक ने उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि 'आतिश' के इन शेरों को उद्धृत किया था—

> छुपेगा कुश्तों का ख़ून क्योंकर,
>
> क़रीब है यारो रोज़े महशर।

जो चुप रहेगी ज़बाने खंजर,

लहू पुकारेगा आस्तीं का ॥

सैयद हुसैन के सम्पादकत्व में 'इण्डिपेण्डेण्ट' खूब चमका। कुछ दिनों तक 'लीडर' इसके आगे धुंधला हो गया था पर आरंभ से ही इस पर सरकार की कुदृष्टि पड़ गई। सरकार ने प्रेस ज़ब्त कर लिया; फिर भी बहुत दिनों तक हस्तलिखित निकलता रहा। अन्त में असहयोग-अन्दोलन में पिता-पुत्र दोनों के जेल जाने पर बन्द हुआ।

महासमर की समाप्ति हुई। प्रतिहिंसा ने थककर दम लिया। विश्व की त्रस्त आँखें निराशा से भरी थीं। दलित राष्ट्र स्वतंत्रता की आशा से उद्दीप्त हो रहे थे। भारत ने, अपनी इतिहास-प्रसिद्ध उदारता के साथ, अपने बच्चों का इस दिन के लिए उत्सर्ग किया था; पेट काट-काटकर करोड़ों रुपये प्रतिहिंसा की ज्वाला की शान्ति के लिए उसने दिये थे। अब मौक़ा आया था; वह आशा के साथ इंग्लैण्ड की ओर देख रहा था। ऐसे समय विप्लववादियों को दबाने के नाम पर रौलट ऐक्ट—काला कानून—सर्वजनिक विरोध पर भी पास हुआ—बिना मुक़दमा चलाये, जिसे चाहे उसे जेल में ठूँस देने के लिए। जिस समय चातक स्वाति की आशा से चोंच खोलकर ऊपर देख रहा था, उसी समय बिजली कड़की और उस पर पत्थर आ गिरा। इस अद्भुत पुरस्कार को देखकर भारत पागल हो उठा। जो काम अरविन्द और सुरेन्द्रनाथ, विपिनपाल और तिलक न कर सके थे वह शासकों के गहरे अन्याय ने धक्के देकर कर दिखाया। गांधी ने विरोध का झण्डा बुलन्द किया। जवाहरलाल शामिल हो गये; उनके साथ मोतीलाल जी भी। पंजाब में आन्दोलन ने भीषण रूप धारण किया। कई जगह सरकार ने गोलियाँ चलाई। कई जगह पशुता का ताण्डव हुआ। उस समय लाजपतराय अमेरिका में थे। पंजाब लावारिस हो रहा था। उस समय श्रद्धानन्द, मोतीलाल एवं मालवीयजी ने उसकी जो सेवा

कत्ल-हत्याकाण्ड

की, वह अकथ है। हज़ारों रुपये तारों में खर्च कर दिये। सारा देश बिगड़ गया; अकड़कर खड़ा हो गया। मोतीलालजी ने प्रयाग में भाषण देते हुए कहा कि कोई शासन-सुधार भारत को स्वीकार न होगा, जबतक राजबंदी छोड़ नहीं दिये जाते और हत्याकाण्ड की जाँच नहीं होती सरकार ने दोनों शर्तें मान लीं। कुछ राजबंदी छोड़ दिये और जाँच के लिए हण्टर कमेटी बैठाई गई। सरकारी जाँच में पोल एवं ढील देख कांग्रेस ने मोतीलालजी की अध्यक्षता में जाँच-कमेटी बैठाई। दिसम्बर १९१९ ई० में अमृतसर में महासभा का अधिवेशन हुआ। यही सभापति बनाये गये। वस्तुतः १९१८ ई० में ही यह इस पद पर दिल्ली अधिवेशन के लिए चुने गये थे। जनता की इच्छा लोकमान्य को बनाने की थी पर वह आन्दोलन के लिए विलायत जा रहे थे। उन्होंने लिखा—"मैं यह ज़रूरी काम छोड़ नहीं सकता। हाँ, अपना एक प्रतिनिधि छोड़े जाता हूं। आप मेरा अनुरोध मानें और इस वर्ष उसे ही अध्यक्ष बनावें। वह प्रतिनिधि और कोई नहीं, युक्तप्रान्त के प्रसिद्ध नेता माननीय (आनरेबुल) पं० मोतीलाल हैं। उनका राजनीतिक ज्ञान असाधारण है। देश की वर्तमान दशा की उन्हें अच्छी जानकारी है। उन-सा योग्य सभापति आपको ढूंढे भी न मिलेगा।" तदनुसार पण्डित जी से प्रार्थना की गई पर उन्होंने अस्वस्थ होने तथा कार्य की अधिकता के कारण अस्वीकार कर दिया। तब मालवीय जी अध्यक्ष बनाये गये।

अमृतसर कांग्रेस ने सुधारों को 'अपर्याप्त, असंतोषप्रद और निराशाजनक' तो बताया पर सहयोग करने का निश्चय किया। सरकार ने राजबंदी छोड़ दिये थे और जाँच कमेटी बैठा दी थी। इस कार्य के कारण कांग्रेस के निश्चय में भी नरमी आ गई पर यह नरमी कबतक टिकने वाली थी? अमृतसर के राष्ट्रीय तीर्थ से शहीदों के खून से तर मिट्टी लोग अपने-अपने घरों को ले गये और उसने आग जलाने का काम किया।

कांग्रेस और हण्टर कमेटियों की रिपोर्टें प्रकाशित हुईं। हण्टर कमेटी की जाँच से भारतीयों को सन्तोष न हुआ पर हण्टर कमेटी ने जो कुछ निर्णय किया था वह भी कार्य-रूप में परिणत नहीं हुआ। ब्रिटिश जनता ने डायर के गुणगान करके हण्टर कमेटी-द्वारा की हुई निन्दा की पूर्ति के लिए उसे तीन लाख रुपये उपहार दिये। इसने ज़ख्म पर नमक छुरक दिया। सहन-शक्ति की सीमा हो गई। गांधी ने अपना अस्त्र सम्हाला। असहयोग-आंदोलन का आरम्भ हुआ। इधर मोतीलाल का विश्वास भी अंग्रेज़ों से उठ गया। गांधी के सम्पर्क से त्याग, सादगी और पवित्रता आई। जवाहरलाल गांधी के कट्टर समर्थक हो गये थे। यह सब था पर अबतक मोतीलाल जी दिल में माडरेट ही बने थे। इसीलिए १९२० ई० के कांग्रेस के कलकत्ता विशेषाधिवेशन में स्व० देशबन्धु के साथ इन्होंने असहयोग कार्य-क्रम का विरोध किया और विपिनचंद्र पाल के संशोधन का समर्थन; पर बहुमत से कांग्रेस ने महात्माजी का प्रस्ताव मान लिया। दिसम्बर में महासभा का अधिवेशन नागपुर में हुआ। वहाँ दास बाबू और मोतीलाल जी सदल-बल विरोध करने पहुँचे पर अधिवेशन आरम्भ होने के पहले अद्भुत घटना घटी; सबमें मेल हो गया। दोनों नेताओं ने बड़े उत्साह से असहयोग का समर्थन किया। और नागपुर कांग्रेस के बाद देश में जो प्रचण्ड आँधी उठी, उसमें दोनों ने अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं।

असहयोग

इसके फल-स्वरूप मोतीलालजी का सारा जीवन बदल गया। कहाँ आनन्द-भवन का वह राजकीय विलास, जहाँ नित्य यूरोपीय और भारतीय अतिथियों को दावतें दी जातीं; जहाँ राजा-महाराजा गवर्नर सभी भोजन कर चुके थे; जहाँ शराब ढला करती थी और सेण्ट निहालसिंह के शब्दों में "आनन्द-भवन की मदिरा का भाण्डार यूरोप के अनेक प्रसिद्ध सुरालयों से अच्छा था।" जो फैशन का नेता था; जिसके कपड़े लन्दन में सिलते और

जीवन-परिवर्तन

पेरिस में धुलते थे; उसने अपने को एक दम बदल दिया। आनंद-भवन कल्पना का—परियों के देश का एक महल था। उसके मालिक की हज़ारों की दैनिक आय थी। अपने हाथ से बनाई इस इमारत को ढहा देना बड़ा भारी त्याग था। पर पण्डितजी तेजस्वी थे। जिस क्षेत्र में रहे, सदा आगे रहे। भोग में, विलास और वैभव में आगे थे; त्याग में भी पीछे न रह सकते थे। यह उनके स्वभाव के विपरीत था। नागपुर से लौटते ही वकालत छोड़ दी और विदेशी वस्त्रों की आलमारियों की आलमारियाँ आग में डाल दीं। वह दृश्य अपूर्व था। जो-कुछ अपना न था; विदेशी था वह एक-एक करके जल रहा था। सूनी आँखों से लोग देखते। मोतीलालजी ने अपने जीवन को एकदम बदल दिया। सन् १९२१ ई० के जून या जुलाई में रामगढ़ से उन्होंने महात्माजी को एक पत्र लिखा था। यह बड़ा महत्वपूर्ण पत्र है। इसमें हम त्याग-पिपासु और साधक मोतीलालजी के दर्शन करते हैं। इनमें भी अतीत की थोड़ी झलक है; प्राचीन एकदम भूला नहीं है; वैभव मर कर भी स्मृति में रँगा हुआ है फिर भी यात्री की दिशा स्पष्ट है। वह लिखते हैं—

"आप यह जानकर प्रसन्न होंगे कि मैं यहाँ किस प्रकार का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। पहले मेरे साथ पहाड़ पर दो रसोई-भण्डार आया करते थे—एक अंग्रेज़ी, दूसरा हिन्दुस्तानी। खेमे में छोटी हाज़री खाकर रायफलें, पिस्तौलें और गोली-बारूद से अच्छी तरह सुसज्जित होकर जंगल के लिए चल देता था; कभी-कभी शिकारियों की एक छोटी-सी फ़ौज भी साथ ले जाता था, और सामने पड़नेवाले निर्दोष जनवरों को संध्या काल तक मारता था। इस बीच में 'लंच' और चाय जंगल में ही घर की-सी सज-धज और सावधानी के साथ परोसी जाती थी। चित्ताकर्षक ब्यालू खेमे को हम लोगों के लौटने की प्रतीक्षा करती हुई मिलती थी और उसके साथ पूरा न्याय करके हम लोग 'न्यायी' की नींद सोते थे। जीवन के सम-पथ में कोई व्यतिक्रम नहीं होता था। हाँ एक बेवकूफ़ लड़की के

ऊपर, जो जब-तब कुछ गरीब जानवरों के प्राणों की रक्षा कर देती थी, चिढ़ अवश्य होती थी और अब पीतल के कुकर ने (जिसे दिल्ली में उस समय खरीदा था जब हम सब लोग तिब्बी कालेज की स्थापना के सम्बन्ध में वहाँ एकत्र हुए थे) दो बैरों का स्थान ले लिया है । नौकरों की फ़ौज के स्थान पर केवल एक नौकर है और वह भी विशेष कुशल नहीं है । गाड़ियों भरी भोजन-सामग्री के स्थान पर तीन छोटे थैले हैं जिनमें दाल, चावल और मसाला है (इन थैलों को कमला ने खादी के स्थान पर विदेशी कपड़ों का बना दिया है और इसके लिए मैं उसे कभी क्षमा नहीं करूँगा) । अंग्रेज़ी ठाट-बाट का जलपान, लंच, ब्यालू, ढेर के ढेर फल, सुबह-शाम की चाय और जब-तब मिल जाने वाले दो-एक अण्डे, इन सब के स्थान पर अब केवल एक ही बार दोपहर में भोजन होता है, जिसमें दाल, चावल, साग और कभी-कभी खीर (एक साथ पका हुआ दूध और चावल) रहती है । शिकार का स्थान टहलने ने ले लिया है और रायफ़ल एवं बंदूकों का पुस्तकों, पत्रिकाओं और समाचारपत्रों ने । एडविन आर्नल्ड का 'पवित्र गान' मुझे बहुत प्रिय है और मैं उसे तीसरी बार पढ़ रहा हूँ । जब ज़ोर का पानी बरसता है, जैसा कि इस समय बरस रहा है, तो बेवकूफ़ी से भरे पत्र लिखने के अतिरिक्त और कुछ काम नहीं रहता । किन्तु वास्तव में पूछिए तो मैंने जीवन में अब से ज्यादा आनन्द कभी नहीं पाया । केवल चावल चुक गया है और मैंने ब्राह्मण की तरह जगत्नारायण (जो यहाँ मेरे पास ही हैं) के मिनिस्ट्रियल भण्डार से भिक्षा की याचना की है ।"

युद्ध में

असहयोग-आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा । सारा राजकीय वैभव त्याग कर मोतीलाल जी युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़े। उनके आने से आंदोलन में जान आ गई । सैकड़ों ने नौकरियाँ छोड़ दीं; वकीलों के कमरे मुवक्किलों से खाली हो गये । बहुतों को तो घर लौटने को ताँगे का किराया भी मुश्किल हो गया । युक्तप्रांत और

बंगाल में आंदोलन ने तूफ़ानी रूप पकड़ा। इसी समय युवराज (प्रिंस ऑव् वेल्स) का आगमन हुआ। सरकार ने बड़ा इन्तज़ाम कर रखा था; धमकी, प्रलोभन एवं खुशामद का बाज़ार गर्म था। साम, दाम, दण्ड, भेद सब आज़माये जा रहे थे। यह कांग्रेस और सरकार के बीच की रस्सा-कशी थी। जिस दिन—१२ नवम्बर को—युवराज ने बम्बई में पदार्पण किया, उस दिन कांग्रेस की आज्ञा से सारे भारत में हड़ताल रही। जन-हृदय पर कांग्रेस के अधिकार की यह अपूर्व घोषणा थी। सरकार घबड़ा गई। कई जगह १४४ धारा का प्रयोग करके सभाएँ बंद कर दी गईं; कई जगह कांग्रेस को ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दिया गया। फिर क्या था? योद्धा खम ठोंककर मैदान में उतर आये। घमासान मच गया। आसाम, बंगाल, युक्तप्रांत और पंजाब में 'वालंटियर कोर'—स्वयं सेवक दल—ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिये गये। प्रतिवाद-स्वरूप कांग्रेस कार्यकारिणी ने निश्चय किया कि प्रत्येक कांग्रेस कमेटी अपना 'वालंण्टियर कोर'-स्वयं-सेवक दल—सगठित करे और कांग्रेस-वादी इसमें नाम लिखावें। मोती-लाल जी सब से पहले सपरिवार वालंण्टियर बने। फलतः ६ दिसंबर को जवाहरलाल, भतीजों तथा सहयोगियों के साथ, गिरफ़्तार कर लिये गये। फिर बीच में गोलमेज़ कान्फ्रेंस की भी बात चली पर पण्डित जी ने महात्मा जी को पहले की शर्तों पर दृढ़ रहने को लिखा। यद्यपि स्वास्थ्य ख़राब हो गया था फिर भी छूटते ही महासभा के महामंत्रित्व का काम सम्हाला।

१९२१ की अहमदाबाद कांग्रेस अपूर्व थी। स्वच्छ धवल खादी का पण्डाल कितना सादा पर कितना सुन्दर लगता था। क़दम-क़दम पर कांग्रेस नगर की रचना में महात्माजी के व्यक्तित्व की छाप थी। कुर्सियों का क्रम हटाकर ज़मीन पर बैठने की प्रथा चलाई गई। मानसिक दृष्टि से भी यह अधिवेशन देश की एकता और उत्साह का नमूना था। उसमें महात्माजी ने कांग्रेस-मंच से सरकार को जो ज़बर्दस्त चुनौती दी थी

अहमदाबाद कांग्रेस और उसके बाद

यह इतिहास में स्मरणीय रहेगी। 'या तो हमें स्वराज दो अन्यथा हम तुम्हारे साथ असहयोग करेंगे; तुम्हारा शासन-तंत्र चलाना असम्भव कर देंगे।' इस अधिवेशन में महात्माजी स्वराज-युद्ध के सर्वेसर्वा—डिक्टेटर—बनाये गये और किसी न किसी रूप में अंत तक रहे। महात्माजी ने गुजरात के बारडोली तालुके को सविनय कानून-भंग के लिए विशेष रूप से तैयार किया था। सत्याग्रह शुरू ही होनेवाला था कि युक्तप्रांत के गोरखपुर ज़िले के चौरीचौरा नामक स्थान पर दंगा हो गया। इसमें पुलिस के बहुत-से आदमी मारे गये। महात्माजी के दिल पर इस हिंसात्मक घटना की ऐसी चोट लगी कि इसे उन्होंने परमात्मा का संकेत समझकर क़ानून-भंग की लड़ाई स्थगित कर दी। लड़ाई बन्द हो जाने से देश में सन्नाटा छा गया। जैसे तेज जाती हुई गाड़ी को एकाएक रोक देने से स्वयं उस गाड़ी को ज़बर्दस्त धक्का लगता है वैसे ही स्वराज्य-आन्दोलन को भी धक्का लगा। देश में सुस्ती छा गई; उत्साह मन्द पड़ गया। इस प्रतिक्रिया से सरकार ने फ़ायदा उठाया। महात्माजी को गिरफ़्तार करके मुकदमा चलाया गया। संसार के इतिहास में यह एक ऐतिहासिक मुकदमा है। इसमें उन्हें ६ वर्ष की सजा हुई। ३० हज़ार स्त्री-पुरुष असहयोग-आंदोलन में जेल गये थे। १९२२ ई० में जब नेता जेल से बाहर आये तो देखा कि स्थिति बहुत बिगड़ गई है; बहिष्कार का मामूली काम चलना भी कठिन हो गया। ७ जून को लखनऊ में कार्यकारिणी की की बैठक हुई। कांग्रेस ने मोतीलालजी के सभापतित्त्व में 'सत्याग्रह-जाँच-समिति' क़ायम की। इसका काम सम्पूर्ण परिस्थिति की जाँच करके समयानुकूल कोई कार्यक्रम बनाना था। पण्डितजी के साथ हकीम अजमलख़ाँ, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद और श्री राजगोपालाचार्य उसके सदस्य थे।

कमेटी ने सारे देश का दौरा किया; देश की परिस्थिति की भली-भाँति जाँच की। कमेटी की रिपोर्ट १९२२ की कांग्रेस के कुछ दिन

पहले प्रकाशित हुई। रिपोर्ट में यह था कि देश सामूहिक रूप से सविनय अवज्ञा के लिए तैयार नहीं है और कांग्रेस को सरकारी कार्यों में अड़ंगा डालने के विचार से कौंसिलों पर कब्ज़ा करना चाहिए। इस रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही एक तहलका मच गया; कांग्रेस-वादियों में बड़ा मत-भेद था। परिवर्तन-वादी और अपरिवर्तन-वादी दो दल बन गये। दिसम्बर में देश-बन्धु की अध्यक्षता में गया में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। कमेटी की रिपोर्ट विषय-निर्धारिणी ने अस्वीकार कर दी। महासभा में केवल एक संशोधित प्रस्ताव पेश हुआ पर महासभा ने कौंसिलों के पूर्ण बायकाट का ही निश्चय किया। इसपर देशबन्धु एवं मोतीलालजी इत्यादि ने मिल कर कांग्रेस के अन्दर एक दल का संगठन किया जिसका सिद्धान्त कौंसिलों में घुसकर उसे तोड़ना था। बीच में दोनों दलों में कई बार समझौते के प्रयत्न हुए पर विफल रहे। अन्त में इस समस्या पर विचार करने के लिए १९२३ ई० में दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। यहाँ लाला लाजपतराय, मुहम्मदअली और डा० किचलू इत्यादि के ज़ोर डालने से कौंसिल-प्रवेश की आज्ञा कांग्रेस ने दे दी।

स्वराज दल का जन्म

देशबंधु के अध्यवसाय एवं मोतीलालजी के दिमाग़ ने देश में कांग्रेस-वादियों की एक ज़बर्दस्त पार्टी (स्वराज-दल) खड़ी कर दी।

बड़ी कौंसिल के रंगमंच पर

सन् १९२३ ई० में असेम्बली एवं कौंसिल के चुनाव हुए। स्वराजदल ने प्रायः सभी स्थानों पर अपने उम्मीदवार खड़े किये थे। मोतीलालजी बड़ी कौंसिल और देशबंधु बंगाल-कौंसिल के लिए खड़े हुए। दोनों चुने गये। मोतीलालजी तो बिना विरोध चुने गये। पहली बार असेम्बली में एक सुगठित शक्तिमान दल के दर्शन हुए। अपनी प्रतिभा, अनुशासन, दृढ़ता और राजनीतिज्ञता से उन्होंने स्वराजदल को जो रूप दिया वह देश के इतिहास की एक श्रेष्ठ कहानी है। असल में तो मोतीलालजी के जौहर

बड़ी कौंसिल (असेम्बली) में ही खुले। सरकार भी उनका लोहा मानती थी। जब वह उठते तो सरकारी सदस्य इधर-उधर देखने लगते और भवन में सन्नाटा छा जाता। उनकी मृत्यु के बाद, ६ फरवरी १९३१ को, सरकार की ओर से सर जार्ज रेनी ने उनका वर्णन करते हुए कहा था—

"उनका नेतृत्व प्रत्येक आदमी पर प्रभाव उत्पन्न करता था। वह एक प्रसिद्ध वकील और वक्ता थे और प्रथम कोटि के नेता थे। ऐसी दशा में यह स्वाभाविक ही था कि वह जहाँ जाते, अगली श्रेणी में रहते। उनकी तीव्र प्रतिभा, विवाद में चतुरता और युद्ध-कला में निपुणता ऐसी थी कि सरकार के लिए वह एक खतरनाक विरोधी थे। × ×"

इस समय सारे देश में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक झगड़ों का तूफान मचा हुआ था। यह मोतीलालजी ही थे कि इस आँधी में निश्चल रहे, स्वराजदल की नीति में साम्प्रदायिकता की आँच न आने दी। कुछ लोग अलग हो गये। सन् १९२६ के चुनाव में मालवीयजी, लाला लाजपतराय तथा अन्य नेताओं ने राष्ट्रीय दल के नाम से एक दल बनाया किंतु इस बार भी अन्य दलों की अपेक्षा स्वराजदल ही संख्या एवं शक्ति दोनों दृष्टियों से असेम्बली में प्रधान रहा। फिर अवसर पर अन्य दलों को मिलाकर भी सरकार को हराने में मोतीलालजी न पड़ने चूकते थे।

सन् १९२७ ई० में लखनाराज के मुकदमे के सम्बन्ध में, इंग्लैण्ड गये। वहीं से निमंत्रित होकर सोवियट शासन के दसवें वार्षिकोत्सव में शामिल होने के लिए रूस गये। ८ नवम्बर १९२७ ई० को, जब वह यूरोप में ही थे, साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा हुई। इसके सारे सदस्य अंग्रेज थे, एक भी भारतीय न था। इस अपमान ने भारतीय राजनीतिक वातावरण में जादू का असर किया। बरसों की बिखरी

कमीशन साइमन का बायकाट

हुई शक्तियाँ फिर एक झण्डे के नीचे मिलकर खड़ी हुईं। दिसम्बर में मद्रास कांग्रेस ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया और एक दूसरे प्रस्ताव-द्वारा कार्य-कारिणी को आज्ञा दी कि वह विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके एक स्वराजी शासन-विधान तैयार करे और मार्च तक सर्वदल सम्मेलन की बैठक दिल्ली में बुलाकर रिपोर्ट को उसके सामने उपस्थित करे।

देश में साइमन-कमीशन का ज़बर्दस्त बायकाट हुआ। प्रायः सभी दल वाले इस मामले में एक थे। मोतीलाल जी ने अपनी सारी शक्ति बायकाट के पक्ष में लगा दी थी। देश में फिर राष्ट्रीय एकता का एक अपूर्व दृश्य दिखाई दिया।

नेहरू रिपोर्ट और सर्वदल-सम्मेलन

इसके पहले देश को कुछ लोगों ने साम्प्रदायिकता के कीचड़ में ऐसा उलझा रखा था कि ज्यों-ज्यों वह निकलने का प्रयत्न करता त्यों-त्यों और उलझता जाता। सर्वदल-सम्मेलन की पहली बैठक १२ फरवरी से २८ फरवरी तक दिल्ली में हुई। मुस्लिम लीग की ओर से अड़ंगा डाला जाने लगा। उसने ५ शर्तें पेश कीं और किसी भी समझौते के पूर्व उन शर्तों का मानना अनिवार्य करार दे दिया। सफलता की आशा न देख, मुस्लिम माँगों के आधार पर दो उप-समितियाँ सिन्ध-विच्छेद और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त की गईं। मई में सम्मेलन की दूसरी बैठक बम्बई में हुई। इस बीच हिन्दू महासभा भी मुस्लिम माँगों के विरोध में कई प्रस्ताव पास कर चुकी थी; परिस्थिति और उलझ गई थी। उपसमितियों की रिपोर्ट भी तैयार न थी। इसलिए सम्मेलन ने भिन्न-भिन्न दलों के प्रतिनिधियों की एक कमेटी बना दी और उसे यह काम सौंपा गया कि वह हर तरह की समस्याओं, विशेषतः शासन-विधान से सम्बन्ध रखनेवाली साम्प्रदायिक समस्याओं, पर विचार करे। इसी कमिटी ने मोतीलाल जी की अध्यक्षता

में महीनों तक कठिन परिश्रम करके जो रिपोर्ट तैयार की वह 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से विख्यात है। यह रिपोर्ट मोतीलाल जी की राजनीतिक दूरदर्शिता एवं रचनात्मक प्रतिभा का उज्ज्वल नमूना है। इसमें भारत के लिए औपनिवेशिक ढंग के शासन की योजना बड़े विस्तार से बनाई गई थी। भारतीय शासन-विधान की गूढ़ समस्याओं को हल करने का यह पहला सफल प्रयत्न था। यह लार्ड बर्कनहेड की चुनौती का उत्तर था। रिपोर्ट अगस्त में लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन के सामने पेश हुई और मुसलमानों तथा पूर्ण स्वतंत्रतावादियों के विरोध के बीच भी स्वीकृत हुई। रिपोर्ट को अन्तिम रूप देने के लिए कलकत्ता में कांग्रेस के अवसर पर सर्वदल-सम्मेलन का अधिवेशन करना निश्चित हुआ।

कलकत्ता कांग्रेस

पण्डित जी की असाधारण राजनीतिक प्रतिभा पर रीझकर देश ने दुबारा उन्हें राष्ट्रपति निर्वाचित किया। कलकत्ता में उनका जैसा स्वागत हुआ वैसा किसी सम्राट् को भी नसीब न होगा। कुछ ही दिन पूर्व ब्रिटिश शासन के प्रतिनिधि मण्डल—साइमन कमीशन—का जैसा बहिष्कार हुआ था, मोतीलालजी का वैसा ही स्वागत हुआ। वह भी कैसा दृश्य था। राजकीय पुरुष का वह राजकीय स्वागत था। २००० वालण्टियर एक ढंग की वर्दी पहने हुए, ५० घुड़सवार और २०० साइकल सवार राष्ट्रपति की गाड़ी के आगे-आगे थे। प्रधान सेनापति सुभाष बोस की शान निराली थी। वह बिलकुल फौजी अफसर मालूम पड़ते थे। राष्ट्रपति की गाड़ी में ३६ घोड़े जुते थे; यह इस बात की सूचना थी कि राष्ट्र दूसरे किसी राजा को नहीं जानता; कांग्रेस का अध्यक्ष ही उसका राजा है। स्थान-स्थान पर फाटक बने हुए थे; बैण्ड बज रहा था। फूलों की वर्षा से सड़कें दिखाई न देती थीं। एक अपूर्व दृश्य था!

कलकत्ता में सर्वदल-सम्मेलन का अन्त हो गया। कांग्रेस ने नेहरू-रिपोर्ट स्वीकार करते हुए सरकार को एक वर्ष का समय दिया कि इस

चीन्ध या तो वह रिपोर्ट में निर्दिष्ट शासन-विधान को स्वीकार करे अन्यथा ३१ दिसम्बर १६२६ की आधी रात के बाद कांग्रेस अपना ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर देगी।

सन् १६२६ ई० में घोर आन्दोलन हुआ। स्वतंत्रता-वादी अगले वर्ष के लिए तैयारी करने लगे। नेहरू-रिपोर्ट राष्ट्रीय माँग के रूप में देश की सैकड़ों सभाओं एवं सम्मेलनों से दोहराई गई। इसी समय साइमन कमीशन ने दूसरी बार भारत-भूमि पर पाँव रक्खा। इस बार भी उसका घोर बहिष्कार हुआ। भारत का कोना-कोना जाग उठा। मोतीलाल जी टूटते हुए शरीर और बुढ़ापे को भूल गये। राष्ट्रीय उत्साह ने उन्हें जवान बना दिया था; उन्होंने रात-दिन एक कर दिये।

सन् १९२९ ई०

इधर यह हो रहा था, उधर भारतीय स्थिति पर बातचीत करने के लिए तात्कालिक वाइसराय लार्ड इरविन विलायत गये। वहाँ से वह अक्तूबर में भारत लौटे। पहली नवम्बर को उन्होंने असेम्बली में एक घोषणा की जिसका सारांश यह था कि "ब्रिटिश सरकार भारत को क्रमशः औपनिवेशिक मर्यादा का शासनाधिकार देने का वादा करती है। इसके लिए देशी राज्यों की समस्या का हल करना भी ज़रूरी है जिससे समस्त भारत की एकता स्थापित रह सके। इसलिए कमीशन तथा भारतीय केंद्रीय समिति की रिपोर्टें मिलने और प्रकाशित हो जाने के बाद तथा सम्राट्-सरकार के, भारत-सरकार की सलाह से, उपस्थित सम्पूर्ण सामग्री के प्रकाश में भारतीय समस्या पर विचार कर लेने के अनन्तर, ब्रिटिश भारत के विभिन्न दलों तथा देशी राज्य के प्रतिनिधियों को, परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग या एकत्र, सलाह मशविरे के लिए निमंत्रित किया जायगा। आशा की जाती है कि इस विचार विनिमय के फलस्वरूप जो बातें पार्लमेण्ट के सामने उपस्थित होंगी उनके सम्बन्ध में आमतौर पर स्वीकृति के भाव प्रकट किये जायँगे।"

घोषणा से लोगों को बड़ा असंतोष हुआ। कांग्रेस के पहले महात्मा जी और मोतीलालजी वायसराय से मिले कि अब भी कोई रास्ता निकल आवे पर वायसरायने किसी प्रकार का वादा करने से इन्कार कर दिया।

फलस्वरूप लाहौर-कांग्रेस में देश की उद्‌बुद्ध युवक शक्ति का प्रथम दर्शन हुआ। ३१ दिसम्बर १९२९ की आधी रात तक सरकार के उत्तर की प्रतीक्षा की गई परन्तु उधर से क्या होना-जाना था। विवश होकर कांग्रेस को पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की घोषणा करनी पड़ी। बूढ़े सेनापति का हृदय खिल गया। लड़ना और विजय करना, उनकी प्रकृति में दाखिल हो गया था। उस दिन वह बच्चे हो रहे थे। सिर पर सरहदी कुल्ला और नीचे लुंगी बाँधकर मोतीलाल जी स्वयंसेवकों के बीच नाच रहे थे। इस दृश्य को देखकर दर्शकों की आँखों में प्रसन्नता के आँसू आ गये!

लाहौर कांग्रेस

लाहौर-कांग्रेस में पिता ने पुत्र को देश का मुकुट पहनाया। कांग्रेस ने यह प्रस्ताव भी पास किया कि कांग्रेस के नाम पर चुने गये सब लोग कौंसिलों एवं असेम्बली से इस्तीफा दे दें। इस प्रश्न पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ। कई कांग्रेस-वादी कौंसिल बहिष्कार के पक्ष में न थे। परन्तु मोतीलाल जी का दृढ़ मत था कि पूर्ण स्वतंत्रता का युद्ध किसी सरकार की बनाई कौंसिलों में नहीं लड़ा जा सकता। स्वराज-दल के अधिकांश सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। जो कांग्रेस-वादी न थे पर कांग्रेस के नाम पर चुने गये थे उनमें से भी अधिकांश ने इस्तीफा दे दिया। कुछ ऐसे विश्वासघाती भी निकले जिन्होंने आदेश की परवा न की।

सत्याग्रह-संग्राम

नेता सत्याग्रह-संग्राम की तैयारी में जुट गये। २६ जनवरी १९३० ई० को सारे भारत में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया; सभाओं में स्वतंत्रता की घोषणा दोहराई गई। कांग्रेस-कार्यकारिणी ने सत्याग्रह संचालन का सारा अधिकार महात्मा जी को दे दिया था। १२ मार्च को महात्मा

जी नमक-कानून तोड़ने के लिए, अपने चुने हुए सहयोगियों के साथ, साबरमती से दाँडी के लिए रवाना हुए। ६ अप्रैल को सारे भारत में नमक-कानून भंग किया गया। १४ अप्रैल को राष्ट्रपति जवाहर लाल गिरफ़्तार हुए; वल्लभभाई तो पहिले ही गिरफ़्तार हो चुके थे। जवाहरलाल के बाद फिर राष्ट्र की बागडोर मोतीलाल जी के हाथ में आई। उन्होंने प्रयाग में विराट् सभा के बीच नमक बनाया। फिर तो आनंद-भवन के सामने सड़क पर दिन में चार-चार बार नमक बनवाते। सारे शहर में यह नमक बिकने लगा।

नमक-कानून भंग तो देश की भावुकता को जगाने के लिए था। इसलिए थोड़े दिनों बाद पण्डितजी ने जड़ को पकड़ा और विलायती कपड़े तथा विदेशी वस्तु-बहिष्कार का ज़बर्दस्त आंदोलन शुरू किया विलायती कपड़े की बड़ी-बड़ी आढ़तें बंद हो गईं; दुकानों में माल बंद करके कांग्रेस की मुहर लग गई। मिल-मालिकों से समझौता मोतीलाल जी की इस दिशा में सबसे बड़ी विजय थी। इस समझौते के अनुसार मिल-मालिकों ने स्वदेशी सूत व्यवहार करने, एवं प्राय: देशी पूँजी एवं देशी प्रबंध से मिल चलाने की प्रतिज्ञा की। जिन मिलमालिकों ने प्रतिज्ञा की उन्हें कांग्रेस की ओर से स्वदेशी का प्रमाणपत्र दिया गया। शेष का बहिष्कार हुआ। आज तक अधिकांश मिलें उस समझौते का पालन कर रही हैं।

सत्याग्रहियों के साथ पुलिस एवं फौज के दुर्व्यवहार की रिपोर्ट जगह जगह से आ रही थी। धरासणा और शोलापुर के अत्याचार सामने थे। अतः कांग्रेस-कार्यकारिणी ने एक प्रस्ताव पास करके हिन्दुस्तानी पुलिस और फौज से भारतीय होने के नाते देश के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन करने की अपील की। सरकार इसे कैसे सह सकती थी? कांग्रेस-कार्यकारिणी गैर-कानूनी घोषित कर दी गई। प्रथम स्थानापन्न राष्ट्रपति मोतीलालजी गिरफ़्तार कर लिये गये। उन्हें ६ महीने की सज़ा हुई।

आन्दोलन ने तूफ़ानी रूप धारण किया। किसी को यह आशा न थी। सरकार को तो थी ही नहीं, स्वयं महात्माजी को पता न था कि देश इतना तैयार है। साठ हज़ार से अधिक आदमी जेल गये। इधर दमन हो रहा था, उधर गोलमेज़-कान्फ्रेंस की तैयारियाँ हो रही थीं। इसके दो सदस्यों—सर तेज बहादुर सप्रू और श्री जयकर—कांग्रेस एवं सरकार के बीच संधि कराने के इरादे से वायसराय से मिले और फिर अनुमति लेकर महात्माजी एवं मोतीलालजी से भेंट की। फिर विशेष सलाह-मशविरे के लिए मोतीलालजी एवं जवाहरलालजी महात्माजी के पास यरवदा जेल ले जाये गये। वहाँ मुख्य मुख्य नेताओं ने गंभीरता-पूर्वक विचार किया पर सरकार के निश्चित वादे के अभाव के कारण कुछ फल न निकला।

जेल में मोतीलाल जी का स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। उनका दमे का रोग फिर उभड़ आया। यरवदा जेल से लौटकर, नैनी जेल पहुँचते ही, उन्हें ज़ोरों का बुखार आया। दमा यहाँ तक बढ़ा कि फेफड़ों में सूजन पैदा हो गई और थूक के साथ खून आने लगा। कलकत्ता के प्रसिद्ध डाक्टर सर नीलरत्न सरकार ने जेल में उनकी परीक्षा की। अन्य डाक्टरों ने भी देखा और सम्मति दी कि रोग बहुत बढ़ गया है। इसपर सरकार ने ८ सितम्बर को जेल से पण्डित जी को छोड़ दिया।

रिहाई और देहावसान

छूटकर भी मोतीलाल जी विश्राम न पा सके। बम्बई के विदेशी-वस्त्रविक्रेताओं से समझौता किया। कलकत्ता के पास दक्षिणेश्वर में प्रसिद्ध वैद्य कविराज वाचस्पति का इलाज कराया; उससे कुछ लाभ हुआ पर इन्हीं दिनों बंगाल के कांग्रेस-वादियों में जो मत-भेद हो गया था, उसे दूर करने में उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ा। फलतः दशा खराब होती गई। मसूरी में भी जाकर रहे पर विशेष लाभ न हुआ। इधर कुटुम्ब के अधिकांश लोग जेल में थे, इसका भी उन पर असर हुआ था।

उधर गोलमेज सम्मेलन समाप्त हो चुका था। सर सप्रू और जयकर इत्यादि ने प्रधान मन्त्री—श्री रैम्से मैकडानल्ड—से मिलकर भारत में अनुकूल वातावरण पैदा करने के लिए नीति-परिवर्तन का अनुरोध किया। सरकार थक गई थी और जानती थी कि कांग्रेस के सहयोग बिना कुछ भी सम्भव नहीं है। अतः उसने कहना मान लिया। २६ जनवरी १६३१ को वायसराय ने विशेषाधिकार से, बिना शर्त कांग्रेस कार्य-कारिणी के सब सदस्यों को छोड़ दिया। महात्मा जी यरवदा से सीधे बम्बई और वहाँ से प्रयाग आये। अन्य नेता भी प्रयाग पहुँचने लगे। फरवरी के आरम्भ में पण्डित जी के प्रायः सभी सहयोगी और मित्र उनकी रुग्ण-शय्या के समीप आ पहुँचे।

गांधीजी का विचार बम्बई में कार्यकारिणी की बैठक करने का था। यह सुनकर पण्डित जी ने सबको रुलाते हुए कहा था—"भारत के भाग्य का निर्णय स्वराज्य-भवन में करो। मेरे सामने करो और मेरी मातृभूमि के अन्तिम सम्मान-पूर्ण समझौते में मुझे भी भाग लेने दो।" युद्ध में उन्हें मज़ा आता था और अन्तिम समय में इच्छाशक्ति के बल पर वह मृत्यु से भी हफ्तों लड़े। अन्त में कार्यकारिणी की बैठक स्वराज-भवन में ही बुलाई गई। यद्यपि डाक्टरों ने पूर्ण विश्राम की सलाह दी थी किन्तु उनका दिल मनाता न था और कार्यकारिणी के प्रत्येक विषय में वह अपनी सम्मति देते रहते थे। जब कुछ सदस्य उनसे मिलने गये तो उन्होंने कहा था—**मैं रोग से लडूँगा; मैं मृत्यु से लडूँगा और सब के ऊपर दासता-रूपी राक्षस से लडूँगा।"**

कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं जिनसे भावी पर विश्वास करने को जी चाहता है। मोतीलाल जी के सम्बन्ध में भी यही हुआ। लखनऊ में उनका देहावसान होना लिखा था। वैसा ही क्रम उपस्थित हुआ। शरीर की परीक्षा के लिए एक्स-रे की आवश्यकता थी। प्रयाग में उसका कोई प्रबन्ध न था। इसलिए ४ फरवरी को मोटर से उन्हें

लखनऊ ले आया गया। घर के लोग तथा महात्मा जी साथ साथ थे। लम्बी यात्रा के कारण शरीर की सूजन बढ़ गई और साथ ही हृदय की निर्बलता भी। महात्मा जी ने उनसे कहा—"यदि आप स्वस्थ हो जांय तो मैं स्वराज ले लूँगा।" उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—"स्वराज तो मिल ही गया है। जब ६० हजार पुरुष, स्त्री और बच्चों ने इतना अद्भुत त्याग किया है और जनता ने शान्ति से गोलियां एवं लाठियां सह ली हैं तो स्वराज के अतिरिक्त और नतीजा ही क्या हो सकता है?" दूसरे दिन डाक्टरों ने परीक्षा की और राय दी कि इस निर्बलता की अवस्था में एक्स-रे परीक्षा नहीं हो सकती।

दोपहर तक दशा कुछ अच्छी रही। शाम से फिर बिगड़ने लगी। चेहरा पीला पड़ने लगा; दृष्टि शक्ति क्षीण होने लगी। आधी रात के समय कुछ नींद आई पर बाद में बेचैनी बढ़ने लगी। जवाहरलाल, डा० विधानचन्द्र राय, डा० जीवराज मेहता, श्री आर० एस० पण्डित इत्यादि शय्या के पास बैठे थे। उस समय भी पण्डित जी इतने सावधान थे कि जागनेवालों को बार-बार सोने के लिए कहते थे। प्रातःकाल ६ बजे के लगभग उन्होंने पानी माँगा। कण्ठ सूख गया था पर वह पानी अन्दर न जा सका। प्रातःकाल ६ बजकर ४० मिनट पर भारत के भाग्याकाश का प्रकाशमान चंद्रमा अस्त हो गया।

× × ×

अन्त्येष्टि क्रिया

जिस समय पण्डितजी मृत्यु से लड़ रहे थे उस समय भी पण्डित जी को राष्ट्र एवं उसके सेवकों का ध्यान था। गढ़वाली पलटन के जिन सिपाहियों को देश-सेवकों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के कारण १५-१५ साल कड़ी कैद की सजा मिली थी उनके परिवार की सहायता करने के लिए उन्होंने महात्माजी से विशेष अनुरोध किया।

११ बजे के लगभग उनका शव राष्ट्रीय पताका-अंकित कफन से ढककर फूल-मालाओं से लदी एक मोटर में रखा गया। जवाहरलाल एवं मोहनलाल सक्सेना ने अरथी को सँभाला; श्री पण्डित ने ड्राइवर का काम लिया। उसके पीछे दूसरी मोटर में महात्माजी, माता स्वरूप-रानी और मीरा बहन बैठीं।

मोटर बादशाह बाग, कैसरबाग, अमीनाबाद आदि से गुजरती हुई प्रयाग को रवाना हुई। रास्ते में तथा मकानों पर जनता के सिर ही सिर दिखाई देते थे। फूल-मालाओं की वर्षा हो रही थी।

तीसरे पहर अरथी आनंद-भवन पहुँची। वहाँ सुबह से ही जनसमूह रास्ता देख रहा था। लगभग ६० हजार की भीड़ थी। यहाँ आने पर कुछ समय के लिए दर्शनार्थ पण्डितजी का मुख खोल दिया गया और अन्त्येष्टि की कुछ ज़रूरी रस्में पूरी की गईं। फिर अरथी का जुलूस आनन्द-भवन से त्रिवेणी-संगम के लिए रवाना हुआ। पहले कटरा से जान्स्टनगंज एवं बहादुरगंज होकर जुलूस जाने को था पर भीड़ बढ़ जाने से सीधे किले की सड़क से ६॥ बजे शाम को त्रिवेणी पहुँचा। वहाँ भी अपार भीड़ थी। अरथी के पहुँचते ही 'इन्क़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगने लगे। पण्डित जी के कितने ही फोटो उतारे गये। शास्त्रीय विधियाँ पूरी हो चुकने पर शव चिता पर रक्खा गया। महात्माजी ने भी चिता में चंदन की लकड़ी के कुछ टुकड़े डाले।

हाय! वह दृश्य कैसा हृदयबेधक था। राष्ट्र का मस्तिष्क अपनी कला दिखाकर अनन्त के गर्भ में समाता जा रहा था और उसे जाननेवाले, उसे प्यार करने वाले, अपने से अपने अपनी असमर्थता और बेबसी पर कलेजा मसोसकर रह जाते थे। जवाहरलाल तो न जाने किस दुनिया में पहुँच गये थे; आँखों में एक बूँद आँसू नहीं। चिता धू-धू करके जल रही है; लपटों की आँच से शरीर जल रहा है पर मानों इसकी इन्हें खबर नहीं। यह दुःख की पराकाष्ठा थी! दूसरों ने देखा और वहाँ से हटाया

उनकी मृत्यु से देश-भर में हाहाकार मच गया। सर्वत्र हड़ताल हुई। सरकार तक को उनका अभाव अनुभव हुआ। देश ही क्यों विश्व के कोने-कोने में शोक मनाया गया। बापू को छोड़ शायद ही किसी भारतीय नेता की मृत्यु पर ऐसे विश्वव्यापी शोक मनाया गया हो। भारत के अतिरिक्त लंका, जापान, मोमबासा, मारिशश, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, बेलजियन कांगो, दक्षिण-अफ्रीका, मध्य अफ्रीका, मलाया, टंगानिका, इराक, अमेरिका, श्याम, अदन, केनिया, नेटाल इत्यादि दूर-दूर देशों में भी शोक मनाया गया। शोक-सूचक प्रस्ताव पास हुए। मृत्यु के सम्बन्ध में वायसराय, राजे-महराजे, तथा देश-भक्तों के हज़ारों तार एवं पत्र जवाहरलाल के पास आये थे। सचमुच इतना अभाव किसी नेता का अनुभव न हुआ था। मुझे खुद अपनी याद है कि मैंने सुना तो कलेजा बैठ गया; ऐसा मालूम हुआ मानों अपनी कोई अत्यन्त मूल्यवान चीज खो गई हो।

उनकी चिता दिखाकर महात्माजी ने ठीक ही कहा था—"**यह चिता नहीं, राष्ट्र यज्ञ का हवन कुण्ड है।**" और इस हवन कुण्ड में इससे ऊँची आहुति ग़रीब देश क्या दे सकता था?

—पाँच—

उनकी विशेषताएँ

यों तो उनमें अनेक गुण थे पर उनकी देशभक्ति उनके जीवन में सब से अधिक प्रकाशित है। देश का प्रश्न आने पर वह व्यक्तिगत मत-भेद को भूल जाते थे। बस शत्रु को चित करके—पटकान देने की चिन्ता उन्हें रहती थी। इस सम्बन्ध में एक घटना की याद आती है। १९२५ ई० में व्यक्तिगत तथा राजनीतिक कारणों से स्व० लाला लाजपतराय स्वराज्य-दल से अलग हो गये थे। उनके इस संबंध-विच्छेद को लेकर उनमें और मोतीलालजी में अवांछनीय

देशभक्ति

और कभी-कभी अत्यंत तीव्र एवं कटु विवाद उठ खड़ा होता था। मित्रों के बहुत यत्न करने पर भी तीन वर्ष तक दोनों नेता कभी एक-दूसरे से न बोले। पर मौक़ा आया जब देश-दशा को ध्यान में रखकर यह ऐतिहासिक कलह शान्त हो गया।

शिमले में असेम्बली की बैठक हो रही थी। 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' पेश होनेवाला था। लाला जी अपने एक मित्र के साथ, जो असेम्बली—बड़ी कौंसिल—के सदस्य थे, आये। रास्ते में लाला जी ने उनसे कहा कि "इस समय स्वराजियों को और हमारे दल को मिल जाना चाहिए। ....जहाँ तक मूल कार्यक्रम से सम्बन्ध है, हममें और स्वराज दल में कोई फ़रक नहीं है। यदि हम मिलकर काम करेंगे तो बहुत अधिक शक्तिमान रहेंगे।" यह कहकर उन्होंने लम्बी साँस ली।

"पर इसमें बाधा क्या है?"—मित्र ने पूछा। लाला जी बोले—"मैं और मोतीलाल जी। मैं कभी कभी अनुभव करता हूं कि क्या यह हमारे लिए अयोग्य नहीं है कि हम अपने व्यक्तिगत मत-भेदों को, देश-हित के लिए समानरूप से प्रयत्नशील दलों के बीच में लावें?"

इस प्रकार बातचीत करते दोनों ने असेम्बली में प्रवेश किया। पर यह क्या? सामने बरामदे में ही मोतीलाल जी खड़े थे। वहाँ और कोई न था। लालाजी आँख बचाकर निकल जाना चाहते थे। उन्होंने समझा कि संयोग से ही ऐसा हुआ होगा। पर बात ऐसी न थी। मोतीलाल जी राष्ट्रीय दल (नैशनलिस्ट पार्टी) के इस नेता की खोज में जान-बूझ कर वहाँ खड़े थे।

"लाला जी, मुझे तुरन्त आपकी ज़रूरत है। मुझे तअज्जुब है कि हम लोग बात कर सकेंगे या नहीं........!"

इसके पहले कि पण्डित जी वाक्य पूरा करते, लाला जी 'क्लोक रूम' में घुस गये। पण्डित जी कुतूहल-वश वहीं खड़े रहे। घबड़ाये नहीं। उनके ढंग से मालूम होता था कि वह पहले से ही इसके लिए तैयार

थे; लाला जी की इस घबड़ाहट एवं संकोच को वह विनोदपूर्ण आँखों से देख रहे थे; उसका मज़ा ले रहे थे। कुछ समय बाद लालाजी बाहर निकले। दोनों की आँखें मिलीं — जैसे दो बिछुड़े हुए प्रेमी मिले हों। लालाजी मुस्कराये। दोनों के मुख से बोली न निकली—दोनों मौन थे। लाला जी ने अपनी बाहें पण्डितजी के गले में डाल दीं। यह शब्दों की भाषा से कहीं अधिक स्पष्ट था! फिर दोनों मित्र हो गये।

इसके बाद दोनों नेता एक मंत्रणा-गृह (कमिटी रूम) में १५ मिनट तक बातचीत करते रहे और जब वहाँ से हाथ में हाथ दिये निकले और सदस्यों की 'लाबी' में प्रवेश किया तो लोग आश्चर्य से आँखें फाड़कर देखने लगे और सरकारी सदस्य कर्तव्य-विमूढ़ से हो गये। उनको कभी यह आशा न थी।

यह व्यक्तिगत मत-भेद पर देश भक्ति की विजय का एक नमूना है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वास्तव में उनका देश-प्रेम अद्भुत था। इसके लिए उन्होंने भोग-विलास, वैभव एवं राजसिक सुख सब कुछ छोड़ दिया; इस वेदी पर उन्होंने अपना ऐश्वर्य, अपना प्रिय कुटुम्ब, अपना प्यारा लाल जवाहर चढ़ा दिया; यहाँ तक कि स्वयं अपनी बलि देकर माता के मस्तक को ऊँचा उठाया।

× × ×

वह लड़कपन से तेजस्वी और निर्भीक थे। वास्तव में वह शासक-कोटि के पुरुष थे। उनके जीवन पर इन सद्गुणों की छाप है और जवाहरलाल के अन्दर इन गुणों का जो अद्भुत विकास दिखाई देता है, वह उनके पिता की ही देन है। उनकी तेजस्विता उनका एक अंग बन गई थी; उनसे अलग न हो सकती थी। मृत्यु के पूर्व भी कांग्रेस कार्य-कारिणी पर प्रभाव डालकर उन्होंने सरकारी घोषणा के सम्बन्ध में असन्तोष-प्रदर्शक प्रस्ताव पास कराया था। वह झुकना न जानते थे और बहुत-से

तेजस्विता एवं निर्भीकता

लोगों की भाँति मेरा भी ऐसा खयाल है कि, यदि वह जीवित होते तो दिल्ली का समझौता न हो सकता। वह उन आदमियों में थे जो जबतक शत्रु के मुँह से कहला नहीं लेते कि मैं हार गया तबतक चैन नहीं लेते। उनकी तेजस्विता कमज़ोर समझौते को कभी स्वीकार न कर सकती।

इस सम्बन्ध में दो-एक घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। संभवतः १६०२ की बात है। उन दिनों कलक्टर ही म्युनिसिपलटी का सभापति होता था। इस हैसियत से इलाहाबाद के कलेक्टर का कहना था कि पण्डित जी ने अपनी दीवार म्युनिसिपलिटी की ज़मीन पर चढ़ाकर बना ली है। दरअसल यह झूठी बात थी; पण्डित जी ने ऐसा नहीं किया था पर उसे तो इसी बहाने इनको दबाना था। किसी पिछली घटना से अपमान का अनुभव कर वह खार खाये बैठा था और इस बात पर तुला हुआ था कि दीवार गिरवाकर और पण्डित जी को जेल भिजवाकर ही दम लूँगा। इधर पण्डित जी भी दृढ़ थे कि देखें कैसे दीवार गिरती है। यह झगड़ा बढ़ता ही गया। सब लोगों में एक आतंक छाया हुआ था। उस जमाने में कलेक्टर से दुश्मनी मोल लेना इन्द्र से दुश्मनी मोल लेने के समान था पर पण्डित जी टस से मस न हुए। कलक्टर को मुँह की खानी पड़ी; दीवार ज्यों की त्यों रह गई।

उनमें राजपूती शान थी; वह प्रकृति से ही निर्भीक थे। कोई ऐसा काम नहीं, जिसमें झुकनेवाले साबित हुए हों। असेम्बली-बमकाण्ड के समय इसका परिचय मिला। पहले बम का गिरना था कि भवन खाली हो गया; लम्बी लम्बी स्पीचें देने वालों ने रास्ता नापा; इधर उधर के दरवाजों से निकल गये। पर मोतीलाल जी न केवल अपनी जगह पर ज्यों के त्यों बैठे रहे वरन् ज़रा देर बाद ही वह सरकारी बैंचों की तरफ यह सोचकर बढ़े कि देखें क्या हुआ और कोई घायल हुआ हो तो उसे सहायता दें। वह अपनी एवं स्वराष्ट्र-सदस्य (होम मेम्बर) की सीट के बीच में पहुँचे थे कि दूसरा बम गिरा, जिसके बाद रिवाल्वर

की दो गोलियां चलने की आवाज सुनाई पड़ी किन्तु इस दूसरे बम से भी वह डरे नहीं, न पीछे लौटे ।

यह उनकी निर्भीकता थी !

वह अद्भुत लगन के आदमी थे। जिस क्षेत्र को अपनाया उसको विजय करके उसके शासन बन गये। कार्य करने की उनमें अद्भुत शक्ति थी। १६२३ और २६ के निर्वाचन काल में मैंने उन्हें सुबह से रात को १०-१० बजे तक लगातार काम करते देखा था। इतना जबर्दस्त दिमाग़ी परिश्रम करना उन्हीं का काम था। इसपर मज़ा यह कि परेशान एवं चिन्तित होना वह जानते न थे।

संघटन शक्ति एवं कार्य-शक्ति

स्वराज-दल भारत के आधुनिक इतिहास में उनकी एक बड़ी सृष्टि है। इसके पहले भारत में ऐसा संघटित राजनीतिक दल दूसरा न था। राजनीतिक दलों के युग के वह विधाता थे। संघटन की उनमें ज़बर्दस्त शक्ति थी। एक ही साल के अन्दर उन्होंने राजनीतिक भारत का नक़्शा पलट दिया।

× × ×

अनुशासन एवं युद्ध-नीति के तो वह आचार्य थे। अपने दल में ज़रा भी शिथिलता वह बर्दाश्त न कर सकते थे। वह सड़े गले अंग को काट कर फेंक देने की नीति के पक्षपाती थे। स्वराज-दल में उनकी आज्ञा पर विवाद न हो सकता था। वह शासक की कोटि के थे। राजनीतिक दाँव-पेच को जानते थे इसलिए विरोधी को सर उठाने का मौका न देते थे। जिस समय उसे अक्रमण की सब से कम संभावना होती उस समय आक्रमण करते और उसे आश्चर्य से अभिभूत—पराजित कर देते थे। वह अद्भुत योद्धा थे और युद्ध में—लड़ने में, ज़ोर अज़माने में उन्हें मज़ा आता था। शत्रु को चित देख वह आत्म-विश्वास से मुस्कराते और उसकी बेचैनी का आनन्द लेते थे। 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' के समय उन्होंने जो ढंग ग्रहण

अनुशासन एवं युद्ध-नीति

किया वही उनकी युद्ध नीति का उदाहरण है। सब राष्ट्रीय दलों को तो मिला ही रखा था फिर भी उन्होंने जड़ पर ही आघात किया। विरोध करने की जगह उन्होंने 'प्वाइण्ट ऑव् आर्डर'—प्रस्ताव के असंगत होने का सवाल उठाया। सरकार विरोध के लिए प्रस्तुत थी पर उसे पता न था कि ऐसा सवाल उठाया जायगा; न और सदस्यों को पता था। मोतीलाल जी ने १९१९ के भारत-शासन क़ानून (गवर्नमेंट ऑव् इंडिया ऐक्ट) से उद्धरण देकर दिखाया कि अंग्रेजों के अधिकार, स्वाधीनता एवं सुविधा को नष्ट करने वाला ऐसा कानून बनाने का असेम्बली को कोई अधिकार नहीं। उन्होंने अंग्रेजों के स्वतंत्रता के अधिकार के नाम पर आवाज़ उठाई। मोतीलाल जी अंग्रेजी अधिकारों के अस्त्र का उपयोग करेंगे; विरोधी, सरकारी सदस्य इसका स्वप्न भी न देख सकते थे। यह उनका अपना खास तरीका था; आत्मरक्षा आक्रमण के रूप में सामने आती थी जिससे युद्ध का नक़शा ही बदल जाता था। वह ऐसे अस्त्र का प्रयोग करते थे जिसकी विरोधी कल्पना ही न कर सकता था। इसलिए जब वह खड़े होते तो विरोधी उनके मुख की ओर भय, आश्चर्य एवं घबड़ाहट दृष्टि से देखते थे। प्रतिद्वन्द्वी उनके आक्रमण से घबड़ा जाता था और इसके पहले कि होश-हवास दुरुस्त करे पण्डितजी के अस्त्रों से अपने को बिंधा हुआ—ज़मीन पर गिरा हुआ पाता था!

× × ×

साम्प्रदायिकता से रहित हृदय

उनमें हिन्दू-मुसलमान का भेद-भाव न था। साम्प्रदायिकता उनको छू तक न गई थी। उनकी प्रकृति का पोषण ही ऐसे वातावरण में हुआ था। बहुत-से लोग तो उन्हें मुसलमानों का हामी कहते थे। उनके अनेक मुसलमान मित्र थे और राष्ट्रीय नेताओं में मुसलमान उन पर सबसे ज्यादा विश्वास करते थे। हिन्दू महासभा के आन्दोलन के समय एक सज्जन ने पूछा—"पण्डितजी, आप महासभा के सदस्य क्यों नहीं हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—"महज़ इसलिए कि मैं मुस्लिम लीग का सदस्य नहीं हूँ!" वह पूर्ण राष्ट्रवादी थे। राष्ट्रवाद भी वह जो मानव प्रेम में बाधक न हो। हिन्दू होने के कारण उन्होंने कभी हिन्दुओं का पक्षपात नहीं किया; वह प्रकृति से हिन्दू-मुसलमान में भेद करने में असमर्थ थे। यही नहीं, जैसा कि ('इण्डियन पैबुलस ऑन् द इंग्लिस शी शोर' के लेखक) सैयद अजफल हुसैन ने लिखा था—"उनके जीवन में कई ऐसे अवसर आये हैं जब वह हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के प्रति अधिक उदार रहे हैं।"

× × ×

अपने वैभवपूर्ण जीवन के पूर्वार्द्ध में—१६२० के पहले हम उन्हें यूरोपीय रंग-ढंग एवं वेश-भूषा में सराबोर देखते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उनमें भारतीय भावनाएँ मर गई थीं। नहीं; उस समय भी बीज हृदय में पड़ा हुआ था। वह हृदय से यूरोपीय नहीं थे जैसा कि कई लोगों ने लिखा है। यूरोपीय रंग-ढंग के नीचे उनकी भारतीयता छिपी हुई थी। इस सम्बन्ध में उनके परिचय में आनेवाले एक सज्जन लिखते हैं—

यूरोपीय परिच्छद में भारतीय हृदय

"यद्यपि पण्डित जी उस समय पाश्चात्य सभ्यता में निमग्न थे किन्तु उनके भीतर भारतीयता की वह ज्योति टिमटिमा रही थी जो आगे चल कर देश-व्यापी ज्वाला फैलाने वाली थी। मुझे याद है कि अपने बाग के लता-गृह में उन्होंने जो कृत्रिम शैल बनवाया था उसमें शिवजी की एक प्रतिमा रक्खी थी, जिसकी जटा से गंगा निकलकर उस निकुञ्ज में वक्र-गति से फैल गई थीं। फुहारे भी उन्होंने विलायती न लगाकर जयपुर से मँगाये थे और उनका ढंग भी देशी था—शायद बीच में एक ऊँचा फ़ुहारा था और उसके चारों ओर दिग्गज बने थे, जो अपने उठाये हुए शुण्डों से धारा निकालते थे। इतना ही क्यों, उन्होंने अपने निवास का नामकरण ही "........विला" या "........कैसिल" न करके 'आनंद-भवन' क्यों रक्खा!

"'नये आनन्द-भवन' का भारतीय स्थापत्य तो उनकी उस अन्तरात्मा का मूर्त्त रूप है, जो महात्माजी की अनुयायिता में उनके हृदय में उद्बुद्ध हो उठी थी।

"आज तो हम वैद्यक—हकीमी के क़ायल भी हो रहे हैं; उस समय तो ये चिकित्सा-प्रणालियाँ जंगलियों की चीज़ समझी जाती थीं किन्तु साहबी रंग में रँगे पण्डित जी ने इनका व्यवहार कभी न छोड़ा था।

"यही हाल देशी व्यायाम का भी था। वे नित्य डण्ड-बैठक किया करते थे। * ऐसी छोटी-छोटी बातों को मैं बहुत महत्त्व देता हूँ क्योंकि इनसे मनोवृत्ति का पूरा पता चलता है' †

इसी प्रकार सन्त निहालसिंह ने १९१० ई० के अपने प्रथम परिचय का उल्लेख करते हुए लिखा था—"वह निश्चिन्त, रसिक भारतीय, जो उच्च फ़ैशन का आदी था, जिसने अपने अपने पुत्र को 'पब्लिक स्कूल' के ढंग की शिक्षा पाने को इंग्लैण्ड भेजा था—पश्चिम का अन्ध भक्त न था। उसके मूल में पर्याप्त पूर्वीय संस्कृति थी। वह फ़ारसी और उर्दू कविता पर फ़िदा था और स्वयं लम्बी कविताएँ सुना सकता था। X X।"

"वह समझता था कि हम लोग पश्चिम से कई बातें, अपने लाभ के लिए, ले सकते हैं। पर वह यूरोप की बुराई-भलाई दोनों से परिचित था। उसने भौतिक क्षेत्र को छोड़ अन्य बातों में कभी उसका महत्व स्वीकार न किया। उसके विचार से कई विषयों में यूरोप-वासी, भारतीयों के चरणों में बैठकर कुछ सीख सकते थे।" X

---

* पिछले काल में स्वास्थ्य की ख़राबी एवं कार्याधिक्य से यह सब छूट गया था।

† राय कृष्णदास: 'हंस' फरवरी १९३१ ई०।

X 'The Patriot Who Gave His All to India': Modern Review March 1931.

मोतीलालजी की दूरदर्शिता अप्रतिम थी। वह महीनों पहले से, आगे होनेवाली घटनाओं को देख सकते थे। सैयद अफजल हुसैन ने एक घटना का ज़िक्र किया है जिससे उनकी दूरदर्शिता और अद्भुत राजनीतिक प्रतिभा का पता चलता है। वह लिखते हैं—

दूरदर्शिता

"निर्वाचन के समय युक्तप्रांतीय कौंसिल के लिए जौनपुर के नवाब मुहम्मद यूसुफ़ (बाद में मिनिस्टर) के विरुद्ध स्वराज-दल की तरफ़ से उन्होंने मौलवी मुहम्मद हुसैन को खड़ा किया था। वह चुनाव इलाहाबाद—जौनपुर मुस्लिम ग्राम्य निर्वाचन-क्षेत्र से था। पण्डित जी का नाम भर मौलवी साहब को वोट दिलाने और श्री मुहम्मद यूसुफ़ को हराने के लिए काफ़ी था। बड़ा कठिन मुकाबला था। मैं नवाब यूसुफ़ के लिए काम कर रहा था। कोई शिया-सुन्नी का सवाल, चुनाव में जीतने के ख़याल से, खड़ा नहीं किया जा सकता था। मैं गहरे पानी में था पर संयोग-वश ऐसा हुआ कि जरूरी काम से पण्डितजी को बस्ती * चला जाना पड़ा। इसके पहले उन्होंने मौलवी साहब के लिए कुछ काम नहीं किया था। फल यह हुआ कि नवाब यूसुफ़ चुने गये। जब मैं पण्डित जी से मिलने गया तो इस चुनाव में उनका विरोध करने के कारण, मारे शर्म के दबा जा रहा था परन्तु उनके व्यवहार में कोई परिवर्तन न दिखाई दिया। उसी तरह मेरी पीठ पर हाथ फेर कर बोले—"तुम्हारे यूसुफ़ भाग्यवान हैं। वह केवल सदस्य ही नहीं हुए हैं; इस बार मिनिस्टर भी होंगे।" मैंने अपने मित्र नवाब यूसुफ़ से पण्डितजी की यह भविष्यवाणी कह सुनाई थी। मैं जानता था कि वह व्यर्थ नहीं बोलते, जो कुछ कहते हैं समझकर कहते हैं। वह सारी स्थिति का अद्भुत अध्ययन और ज्ञान रखते हैं। इसीलिए वह महीनों बाद घटित होनेवाली घटनाओं को देख सकते थे।"

* युक्तप्रान्त का एक शहर और ज़िला।

इसे बहुत कम लोग जानते हैं कि पण्डितजी फ़ारसी और उर्दू साहित्य के अच्छे पण्डित थे। फ़ारसी साहित्य का तो उनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। उर्दू कविता में वह 'आतिश' और 'ग़ालिब' को श्रेष्ठ समझते थे और 'अनीस' उनके प्रिय कवि—'फ़ेवरिट'—थे। इसी प्रकार फारसी में हाफ़िज़ और नज़ीरी का उनका अच्छा अध्ययन था। उनके बारे में उनकी बहुत ऊँची सम्मति थी। ये दोनों उनके प्रिय कवियों में से थे। अंग्रेज़ी साहित्य में उनकी वैसी गति तो न थी पर उसकी बारीकियों को वह खूब समझते थे। खुद उनकी भाषा बड़ी चुस्त, मँजी हुई, सरल और प्रभावकारी होती थी। वकालत ने शान देकर छुरी को तेज़ कर दिया था।

साहित्यिक अभिरुचि और गुण-ग्राहकता

गुण-ग्राहकता की वृत्ति भी पण्डितजी में खूब थी। यद्यपि विरोधी के साथ वह बड़ा ही निष्ठुर—निर्दय व्यवहार करते थे किन्तु गुणों की क़द्र करना नहीं भूलते थे। योग्यता की क़द्र करते थे और उसके लिए रुपये पानी की तरह बहाते थे। जब 'इण्डिपेण्डेण्ट' निकालने वाले थे तब उन्होंने एक प्रसिद्ध पत्रकार को पत्र एवं तार-द्वारा उसका सम्पादनभार ग्रहण करने को कहा। लिखा—"आफ़िस में आकर डेस्क की गुलामी करने की आवश्यकता नहीं—इसकी भी ज़रूरत नहीं कि आप कुछ न कुछ रोज़ लिखें ही। मुख्यतः नीति इत्यादि पर ध्यान रखना होगा। अपना वेतन, अपने-आप, आप जितना चाहें चुन लें!" इतनी उदारहृदयता से सिवा उनके दूसरा कौन लिख सकता है? वह आदमी को उठाना जानते थे; खूब उठाते थे। हाँ यह अवश्य है कि कृतघ्न को वह क्षमा न कर सकते थे। उसे मटियामेट करके छोड़ते थे।

एकुन्द

मोतीलाल जी बड़े हाज़िरजवाब थे। उन्होंने बड़ी हाजिर तबीयत पाई थी। पर एक बार की बात है कि उन्हें भी कुछ जवाब नहीं सूझ पड़ा। असेम्बली की बैठक थी। पंडितजी किसी सम्बन्ध में भाषण देते हुए कह रहे थे—"मुझे स्वराज्य

की धुन सोते-जागते लगी रहती है। सुबह हो, दोपहर हो, शाम हो या रात हो, मैं सदा स्वराज की ही बात सोचता रहता हूँ।"

इसी समय कोई बोल उठा—"तब आप चर्खा किस समय चलाते हैं?"

यह सुनकर सब हँस पड़े। पंडित जी को हँसी आ गई।

× × ×

व्यंग के तो वह बादशाह थे। उनके व्यंग सीधे चोट करते थे—बड़े मार्मिक होते थे। क्या कांग्रेस, क्या मित्र-मंडली, क्या असेम्बली सब पर उनके इस व्यंग-विनोद की छाप थी।

एक बार की बात है कि पंडितजी विलायत जा रहे थे। उसी जहाज़ पर हैदराबाद के एक नवाब भी थे। वह अक्सर पंडित जी से छेड़छाड़ किया करते थे। पहले तो उन्होंने ध्यान न दिया पर जब छेड़-छाड़ बढ़ने लगी तो उन्होंने उनका मुँह बन्द करने का उपाय सोचा। एक दिन नवाब ने पूछा—"आप गो-मांस खाते हैं?" पंडित जी गंभीर मुद्रा से बोले—"गो-मांस तो नहीं, यदि गो-भक्षकों का मांस अच्छी तरह भुना हुआ, मसाला लगा के मिले तो उसके खाने में न झिझकूँगा।"

उस दिन से नवाब की आदत छूट गई।

× × ×

एक मुक़दमे में मोतीलाल जी किसी बात पर कोई धारणा बना रहे थे—कोई निष्कर्ष निकालना चाहते थे। गवाह बड़ा अभिमानी था। उसने ग़ुस्से से कहा—"आप ग़लती पर हैं। क्या आप मुझे बिलकुल बेवक़ूफ़ समझते हैं?"

पंडित जी ने जवाब दिया—"नहीं, नहीं।" फिर ज़रा रुककर सूखी हँसी हँसते हुए कहा—"लेकिन निश्चय ही, मैं ग़लती पर हो सकता हूं!"

× × ×

राय कृष्णदास 'हंस' में लिखते हैं—

"१९२९ की बात है। मैं किसी कार्य से प्रयाग गया हुआ था। अकस्मात् पण्डित जी का बुलावा आया। जाकर मैं उनसे मिला। उस समय प्रतापगढ़ से श्री० सी० वाई० चिन्तामणि प्रान्तीय कौंसिल के लिए खड़े हुए थे। स्वराज-दल उनका विरोध कर रहा था और अपना उम्मेद-वार खड़ा करना चाहता था। इसी सम्बन्ध में उन्होंने मुझे याद किया था। वह मुझे ही उनके विरुद्ध खड़ा किया चाहते थे, क्योंकि उन दिनों श्री एन० सी० मेहता प्रतापगढ़ के डिप्टी कमिश्नर थे—और ऐसा खयाल किया जाता था कि वे चिन्तामणि का अनुमोदन कर रहे हैं। उन्हें इससे विरत करने के लिए यही उपाय था कि मैं खड़ा किया जाऊँ, क्योंकि उनसे मेरा भाई-चारा है; अतः मेरे खड़े होने से वह धर्म संकट में पड़ जाते। किन्तु राजनीति कभी भी मेरा क्षेत्र नहीं रहा है। जब-जब मैं उसमें प्रविष्ट हुआ हूं या प्रविष्ट किया गया हूँ, तब-तब मैं ऊबकर भागा हूँ। यही मैंने उनसे भी निवेदन किया। इस पर उन्होंने जो उत्तर दिया वह बड़ा ही मार्मिक व्यंग था। उन्होंने कहा—"मैंने तो पहले ही कहा था कि कृष्णदास तो 'आर्टफुल' आदमी है, उससे इससे क्या सम्बन्ध।" इस 'आर्टफुल' शब्द में बड़ी ध्वनि है, क्योंकि इसका शब्दार्थ तो है कलापूर्ण, किन्तु व्यंगार्थ है फितरती। × × ×।"

× × ×

एक मुकदमे में पण्डित जी वकील थे। मुकदमे की अन्तिम अवस्था में वह जूरी को भाषण—एड्रेस—कर रहे थे। बीच में बोले—"मैं इस सम्बन्ध में जूरी को भ्रम में डालना नहीं चाहता।" जज ने बीच में ही कहा—"जूरी की चिन्ता न कीजिए; वे लोग स्वयं अपनी देख-भाल कर सकते हैं।"

पण्डित जी ने कहा—"हाँ, यह हो सकता है पर मैं चाहता हूँ कि वे मेरे मुवक्किल की भी देख-भाल करें।"

इस तरह वह बात में बात पैदा कर देते थे। उनकी मज़ाकपसंद तबीयत ने उनकी युद्ध कला में एक लुत्फ़ पैदा कर दिया था।

विश्लेषण

अद्भुत आत्म-विश्वास

आत्म विश्वास मोतीलाल जी की विशेषता थी। भावुकता से पैदा होने वाला आत्म-विश्वास नहीं; गंभीर विवेचक का, कूट राजनीतिज्ञ का गूढ़ रहस्यमय आत्म विश्वास। इसके साथ वह आत्म-विश्वास या अपनी विशेषता का वह भाव भी उनमें था जो राजा का—उच्च वैभव में पले सरदार का अपने साथियों के प्रति होता है। वह प्रत्येक इंच राजा थे—शासन करना जानते थे और उनके व्यक्तित्व के सामने प्रायः झुकना ही पड़ता था। सैकड़ों वर्ष पूर्व डेकार्ट्स ने कहा था—मैं सन्देह—शंका करता हूँ इसीलिए वर्तमान हूँ। मोती लाल जी का व्यक्तित्व कहता था—"चूँकि मैं हूँ, इसलिए अपने अन्दर विश्वास रखता हूँ।" कोई सिद्धान्त नहीं, कोई सूत्र—'फार्मूला'—नहीं। सिद्धान्त या मत के बन्धन में वह कभी न पड़े। सिद्धान्त था तो यह कि जहा रहें, जिस क्षेत्र में रहें, उस क्षेत्र के शासक, विजेता बनकर रहे। वह संसार को उसी विनोदपूर्ण दृष्टि से देखते थे जैसे आचार्य अपने शिष्यों की रस्साकशी या कुश्ती की जोड़ देखता है,—जैसे जीवन की चिर-यात्रा का पथिक हज़ारों चीज़ों को विनोद एवं कुतूहल के साथ देखता है, उनमें रस लेता है पर उनसे बँधता नहीं, आगे बढ़ता जाता है। उन्हें कोई बन्धन स्वीकार नहीं। जिस असहयोग को एक दिन अपनाया और खूब अपनाया, उससे जब वह बन्धन बन गया और पंथ एवं सम्प्रदाय का रूप पकड़ने लगा तो, अलग हो गये। वह किसी खास प्रणाली के न थे—बँधकर न रह सकते थे। वह पालतू दुधार चौपाये नहीं थे; जंगल में मुक्त निर्भय विचरण

करनेवाले शेर थे। इसीलिए बंधन में बँधना न जानते थे; उलटे उस पर हावी होकर रहते थे और उपयोग कर लेने पर, उसके बेकार हो जाने पर, चूसे हुए आम की गुठली की तरह, उसे फेंक देते थे। मार्ग से उन्हें मोह न था। वह एक वीर खिलाड़ी थे—खेलते और हँसते। वह जीवन को उसकी सम्पूर्ण ताज़गी के साथ ग्रहण करते थे। उनके नियम स्वयं उनके बनाये थे और जीवन के साथ उनका जो घनिष्ठ सम्पर्क था, जो गहरा अनुभव था उसी पर कसे होते थे। **उनके जीवन में कोई अतीत नहीं है—कोई बीता, गुजरा हुआ कल वहाँ नहीं दिखाई देगा। सब वर्तमान काल है—आज ही आज है।** वह केवल अपनी प्रकृति के क़ानून को माननेवाले—उस पर निर्भर करनेवाले पुरुष थे। और अपने को भी अपने निष्ठुर नियमों पर कसते रहते थे। उन्हें दूसरों को विजय करने में आनन्द मिलता था—इसलिए अपने पर विजय पाने में भी वह उल्लास और आनन्द अनुभव करते थे।

सभी वस्तुओं के बारे में उनका एक अपना निर्णय था। चीज़ सामने आई नहीं कि उन्होंने उसका मूल्य, अपनी दुनिया में, आँका नहीं। जब वह ऐसा न कर सकते तो इसका यही अर्थ था कि उस वस्तु की उनके जीवन में स्थिति नहीं। उनके लिए जैसे वह चीज़ है ही नहीं। वहाँ हिचकिचाहट नहीं, सन्देह नहीं। उनके लिए निर्णय मस्तिष्क का अभ्यास, मन की एक आदत थी। हम सदा उन्हें अपने पर ही आश्रय रखते देखते हैं। उनकी बुद्धि मानों उनका कवच और अस्त्र है। अपने अन्दर इस ज़बर्दस्त विश्वास से ही उन्हें स्फूर्ति मिलती है।

'हिम्मते मरदाँ मददे खुदा'—साहसी पुरुष की ईश्वर सहायता करता है। दुनिया उस व्यक्ति में विश्वास रखती है जो अपनेमें विश्वास रखता है। सफलता का यह पहला सिद्धान्त है और

पैदायशी नेता

यह मोतीलालजी के जीवन में शुरू से अन्त तक स्पष्ट, और स्पष्ट से स्पष्टतर, होता गया है। सफलता उनकी पकड़

से—चंगुल से, छूट ही न सकती थी। वह चाहते तो भी ऐसा न होता। उनकी प्रकृति ही असफलता के विरुद्ध थी। आचरण ('कैरेक्टर') ही भाग्य है और मोतीलालजी का आचरण उनकी शक्तिमान बुद्धि की उपज था, जिसमें भावना और भावुकता को स्थान नहीं। स्वभावतः वह निष्ठुर, शुष्क था। उच्च विचार, उच्च भावनाएँ उनके पास अपने-आप बिना प्रयत्न किये, नहीं आ जाती थीं। उनके विचार बुद्धि-तर्क के हथौड़ों से जीवन के साथ उनके सम्पर्क की कसौटी पर गढ़े होते थे।

"प्रायः लोग कहते सुने जाते हैं कि अजी उन्हें ऊँचा उठने की अनेक सुविधाएँ मिल गईं, इसलिए उठ गये। अमुक-अमुक बातें न होतीं तो वह इतना ऊँचा न उठ सकते।' यह गलत धारणा है। वे बातें, सुविधाएँ भी उन्हीं की उपज थीं। उनमें जो गुण थे उनके कारण वह जहाँ भी होते, वहीं ऊँचा उठते। ऊँचा उठे बिना वह रही न सकते थे—सर्व-साधारण के समानान्तर, उनकी कोटि में, रहना उनकी प्रकृति में ही न था। वह परिस्थिति के मालिक—शासक के रूप में पैदा हुए थे, उसके गुलाम नहीं। उन्होंने राजनीति का—समाज का नक्शा बदल दिया। और नरमवाद (माडरेटिज्म) के हिलते हुए जिब्राल्टर को उखाड़ कर फेंक दिया। उन्होंने कभी रियायत न माँगी, न अपने विरोधी के साथ रियायत की।"*

---

*" It has become a fashion in certain quarters to say that but for such and such a factor he would never have risen to the political eminence he has attained. It is a mistaken view. Those factors were largely the outcome of his own peculiar powers. Das, despite his rare gifts, could not overshadow him. The qualities which made him successful in the paths he has chosen would have made him successful anywhere. He was born the master of circumstances, not its victim. While his compeers, light half-believers of their casual creeds, hesitate and falter life away, he marches from strength to strength and fills the country with

नम्रता की उनमें बड़ी कमी थी पर इसके न रहने से ही वह वह हुए, जो थे। भावुकता की बातें उन्हें 'अपील' नहीं करती थी। उसका स्वाद और आनन्द लेने की शक्ति ही उनमें न थी। शायद ही किसी दूसरे नेता ने अपने विरोधियों को इतनी निर्दयता एवं उपेक्षा के साथ अपने रास्ते से अलग हटाया होगा। महात्मा जी के हृदय की गहरी अनुभूति उनमें न थी, जो बड़ी नम्रता के साथ शत्रु के सामने भी व्यक्त होती थी और अपनी मधुरता से उसका विरोध शिथिल और मन्द कर देती थी। वह सात्विक साधना का—सात्विक साधक का पथ है। मोतीलाल राजसिक साधक थे। उनकी जबान एक तीव्र अस्त्र थी। उनके व्यंग, ऐतिहासिक से हो गये हैं। उनके अन्दर जो विष है उसी से वे अमर हुए हैं। मोतीलालजी सदा गहरी चोट करते और सीधे हृदय में घुसते थे। उनके आक्रमण का ढंग अद्भुत था, वह बड़ी बेरहमी से—निष्ठुरता से वार करते थे। आक्रमण करने में उन्हें मध्ययुगीन राजपूत सा आनन्द आता था। एक घटना याद आती है। घटना दुःखद है उनकी मृत्यु के बाद उसकी स्मृति और भी दुखद हो गई है पर उससे उनके व्यंग तथा अस्त्र की भाँति उसके प्रयोग की विधि का पता चलता है।

चोट करनेवाले व्यंग

कानपुर काँग्रेस की बात है। मालवीय जी किसी प्रस्ताव पर बोलने खड़े हुए। विरुद्ध बोल रहे थे। अपने व्याख्यान में उन्होंने असहयोग-काल के पहले के किये हुए अच्छे कामों का जोरदार वर्णन करना शुरू किया। कांग्रेस का इतिहास सुना गये। मोतीलाल जी ऐसा कोई मौका चूकते न थे। उन्होंने व्यंग किया—"इस तरह तो आप महाभारत और रामायण की कथा से भी आरम्भ कर सकते थे।" मालवीय जी व्यंग

---

the rumour of his name. He has changed the face of society. × × × He has swept away the shaken Gibralter of Moderatism. He has never asked for quarter and never given it."

—PILLARS OF THE NATION, DELHI 1928.

की कला में कच्चे थे; व्यंग में ही जवाब न दे सके। चिढ़ गये। शोर-गुल के बीच वह उसकी सफाई देने खड़े हुए। राष्ट्रनेत्री श्रीमती सरोजनी नायडू ने उन्हें रोका पर उधर ध्यान न देकर, 'रूलिंग' की परवा न करके वह पन्द्रह मिनट तक बोलते ही रहे—"हाँ, मैं नित्य रामायण-महाभारत पढ़ता हूँ। इससे मुझे बड़ा लाभ हुआ है। मैं भाई मोतीलाल जी को भी सलाह दूँगा कि वे भी ऐसा करें। इससे इनको भी लाभ होगा।" यदि मालवीय जी में विनोद-वृत्ति (सेंस ऑव् ह्यूमर) होती तो मोतीलाल जी का व्यंग हँसी में उड़ गया होता। मोतीलालजी जवाब देने को उठे। जवाहर लाल ने बहुत रोका पर हाथ छुड़ाकर मंच पर आ गये;—विजय पर विजय पाने के लिए। बोले—"मैंने तो समता-सूचक एक उदाहरण-भर दिया था। इसमें क्या अपराध हुआ? मेरे लिए तो मालवीय जी भाई जैसे हैं। हम लोग सहपाठी रहे हैं;—लड़कपन में साथ खेले हैं। फर्क इतना ही है कि मैं उनसे छः महीना बड़ा हूँ इसलिए बुद्धि में उनसे छः महीने का तो तकाजा मैं हूँ ही। यह स्वाभाविक है कि जो बात मुझे आज सूझती है वह उन्हें छः महीने बाद सूझे!"

यह उनकी अजेय निष्ठुर व्यंग-कला का एक नमूना है। इसके भीतर अपनी इच्छा, अपने महत्व का अहंकार है। दूसरों की उपेक्षा का भाव भी है। यही उनकी शक्ति का स्रोत था पर यहीं उनकी दुर्बलता—अपूर्णता की कुंजी भी छिपी है। उनमें हृदय की वह उदार सहानुभूति नहीं जिससे आदमी मानव दुर्बलताओं को समझता है और अपने प्रेम से उन्हें महत्वपूर्ण बना देता है। बुद्धि से ही जीवन की सारी समस्या हल नहीं हो सकती। यदि ऐसा होता तो वह संसार के कुछ चुने हुए सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञों में एक होते। पर बुद्धि जड़ वस्तुओं एवं प्रश्नों का निबटारा—निर्णय कर सकती है। मानव-हृदय अत्यन्त भावनामय वस्तु है। उसे केवल

उनकी कमी

बुद्धि से नहीं चलाया जा सकता। सिवाय घरेलू जीवन के सम्बन्ध के भावुकता उनमें कहीं दिखाई नहीं देती थी। सार्वजनिक जीवन में वह विशुद्ध बुद्धिवादी थे। इसीलिए महात्माजी का भारतीय हृदय पर जो अपूर्व अधिकार है उसे वह न प्राप्त कर सके—यद्यपि बुद्धि की तीव्रता में वह महात्माजी से कम न थे; अधिक भले ही रहे हों। जनता से वह प्रेम चाहते भी न थे, आदर चाहते थे। अधिकार और आदर उनकी चीज़ थी। लोग उनके सामने झुक जाते थे—जैसे अदब से मास्टर के सामने लड़के झुक जाते हैं।

साम्प्रदायिक पक्षपात हीन व्यक्तिवादी के रूप में

एक बात यह कि वह शुद्ध व्यक्तिवादी और शुद्ध राष्ट्रवादी थे। इंद्रजी ने लिखा है—"मोतीलाल जी जाति से हिन्दू, शिक्षा से मुसलमान और मन-वाणी एवं कर्म से हिन्दुस्तानी थे।" कुछ का कहना है कि वह हृदय से हिन्दू की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक थे। पर असल बात यह है कि वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। एक प्रसिद्ध लेखक के शब्दों में 'वह प्रकृति से ही हिंदू-मुसलमान में भेद करने में असमर्थ थे। इसीलिए जाति के विषय में उदासीन थे।' ईसाइयों की बढ़ती उनके सामने कोई समस्या नहीं उपस्थित करती थी; मुसलमानों की उपस्थिति कोई पहेली सामने नहीं रखती थी। मलकानों की शुद्धि से वह आनन्द-विभोर नहीं हुए—'यह तो समुद्र में एक बूँद के समान थी।' मोपलों के अत्याचार से वह घबड़ाये नहीं। उनका देश-प्रेम विशुद्ध था क्योंकि वह विश्व-प्रेम का एक अंग था। जब बड़े-बड़े नेता जातिगत झगड़ों में बह गये, वह सबके बीच एक चट्टान की भाँति अटल एवं अविचल रहे। उनकी अपनी दुनिया में जातियाँ नहीं हैं—ये तो सुविधानुसार कार्य-विभाग हैं। वही थे जो राष्ट्र की पताका के अभिवादन के समय कह सकते थे—"मैं न हिन्दू हूँ, न मुसलमान।" या हकीम अजमल खाँ के सम्बन्ध में यह कि—"हम दोनों का धर्म एक ही था।"

उनमें जातिवाद के प्रति कभी ज़रा भी झुकाव न पैदा हुआ । लाला लाजपतराय—जैसे नेता, जिन्होंने उस समय राष्ट्रीयता की आवाज़ बुलंद की थी जब बहुत थोड़े लोग उनके साथ खड़े हो सकते थे, जाति-गत झगड़ों के प्रवाह में बह गये; न केवल बह गये वरन् न बहनेवालों को, इस प्रश्न पर नीचा दिखाने के प्रत्येक अवसर का भी उपयोग किया तब भी मोतीलालजी अपने स्थान पर अटल रहे। वे दिन कितने दुःखद थे और उनकी स्मृतियाँ कितनी दुःखद हैं जब हम लाला लाजपतराय को पं० मोतीलाल से यह पूछते हुए देखते हैं—"क्या आप वेदों में विश्वास रखते हैं ?" देश-प्रेम के बीच वेद को खींच लाकर राजनीति को कीचड़मय बनाने का यह कैसा भद्दा यत्न था । पर मोतीलाल को पराजित करना खेल न था । उन्होंने, अपने ढंग से, उत्तर दिया—"वेदों के मूल में जो सिद्धान्त हैं उनमें मैं विश्वास रखता हूँ ।" इस उत्तर में उनका सारा दृष्टि-कोण है और इस उत्तर ने लालाजी के तर्क को उखाड़कर फैंक दिया।

इसी प्रकार एक बार एक प्रसिद्ध मौलाना ने पण्डितजी से कहा कि "आप 'रँगीला रसूल' तथा पैग़म्बर मुहम्मद पर इस प्रकार के अन्य आक्रमणों की निन्दा करते हुए एक वक्तव्य निकालिए ।" मोतीलालजी ने उत्तर दिया—"पैग़म्बर यदि वस्तुतः पैग़म्बर हैं तो उन्हें हमारी—आपकी या मेरी—सहायता की आवश्यकता नहीं है ।"

× × ×

मुँहतोड़ उत्तर

मिस्टर (पर कथित चुनाव के समय 'पण्डित') चिन्तामणि के एक उत्साही समर्थक ने एक बार मोतीलालजी से पूछा कि 'ब्राह्मण होते हुए भी आप मांस और अण्डे क्यों खाते हैं ?" निर्वाचन का समय था और ये बातें पण्डितजी को हिन्दू-जनता की निगाह में गिराने के ख्याल से उठाई जा रही थीं अन्यथा ये छिपी न थीं । मोतीलालजी बोले—"हाँ, मैं दोनों चीजें खाता हूं । मेरे पिता भी दोनों चीजें खाते थे । मेरे दादा इनकी तरह-तरह की लज़ीज़

चीज़ें तैयार कराते थे; मेरे परदादा इनमें रस—स्वाद लेते थे। विगत सात पीढ़ियों से हम लोग मांस और अण्डे खाते रहे हैं किन्तु जहाँतक मुझे पता है आपके नवोत्पन्न 'पण्डित' ने, जिनका समर्थन करने आप यहाँ पधारे हैं, इन्हें गवर्नमेण्ट हाउस की मेज़ों पर ही चखना शुरू किया है।"

उनके मुँहतोड़ जवाबों का यह एक नमूना है। इसमें पाखण्ड नहीं; तीव्र शस्त्र-प्रहार है।

सार्वजनिक मामलों में वह बड़े ही कड़े अनुशासन के पक्षपाती थे। जब महात्मा जी के असहयोग आन्दोलन में पड़े तो पूरी तरह उनके अनुशासन का पालन किया। वह कहते थे—"जो इस आंदोलन का पिता और नेता है उसी का अनुगमन करो।" उन्होंने खुद कड़े अनुशासन का पालन किया था अतः स्वराजदल में, असेम्बली में उन्होंने बड़ी निष्ठुरता से अनुशासन का पालन कराया। इस मामले में वह अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को क्षमा न करते थे। सच पूछें तो उनके जौहर तो असेम्बली में ही जाकर खुले। वहाँ उनकी शक्ति का पता लोगों को लगा। साधारण जनता पर अधिकार कर लेना उतना कठिन नहीं जितना अपने को नेता समझनेवालों को क़ाबू में रखना है। गाँधी जी ने देश-सेवकों में अनुशासन का जो भाव जगाया था, उसे वह असेम्बली में लाये। स्वराज-दल उनकी संघटन-शक्ति, उनके अनुशासन और उनकी युद्ध-नीति का एक श्रेष्ठ नमूना था। यह वैध-जगत् में, कांस्टिट्यूशन की दुनिया में, असहयोग का शंख-नाद था। इसके पहले भारत में ऐसा संगठित दल कभी दिखाई न पड़ा था।

कड़ा अनुशासन

निश्चय ही, उनके अनुशासन की पद्धति बड़ी निष्ठुर थी। महात्मा के अनुशासन के साथ उनके हृदय की विशालता लगी रहती थी। वह शत्रु के साथ मित्र की तरह व्यवहार करते थे पर मोतीलाल जी के पास, अनुशासन के मामले में, अपने से मत-भेद रखने वाले के लिए, चाहे वह कितना ही बड़ा हो, केवल उपेक्षा थी। अपनी युद्ध-नीति

में वह कुछ सुनते न थे---कुछ हस्तक्षेप न सहन कर सकते थे। जो रास्ते में आया, उसकी योग्यता---बड़प्पन कुछ न देख कर उसे दूधकी मक्खी की तरह निकाल बाहर किया। विरोधी श्री निवास ऐयंगर को राजनीति से उखाड़ फेंकनेवाले वही थे,—और ऐसा करके उन्होंने भारत का कम नुकसान नहीं किया, एक मूल्यवान सेवक खो दिया। पर इससे क्या? उनकी दृष्टि से रास्ता साफ़ हो गया। विट्ठल भाई-जैसे चाणक्य को उन्होंने असेम्बली के अध्यक्ष पद पर बिठाकर अपने नेतृत्व का मार्ग साफ़ किया। जिस रंगा ऐयर को बच्चे की तरह मानते थे, उन्हें अलग करके छोड़ा। अपने क्षेत्र में वह एक ही रह सकते थे;---एक म्यान में दो तलवारें नहीं। कोई राजा गद्दी पर अपने साथ दूसरे को भी राजा के रूप में नहीं बैठने दे सकता, चाहे वह कितना ही उदार हो। वह इतना तो कर सकता है कि खुद गद्दी छोड़ दे और दूसरे को उस पर बैठा दे।

दोष किस जगह है?

पर इसमें मोतीलालजी का दोष नहीं; यह उनकी पद्धति का दोष है। वह जानते थे कि मेरी उपेक्षा से विरोधियों की संख्या बढ़ती है पर इसकी वह परवा न करते थे, न कर सकते थे। वह काठ के समान दृढ़ थे; झुक न सकते थे। यह उनकी राजसिक अहम्मन्यता थी। पर यह अहम्मन्यता व्यर्थ न थी; उनके लिए इसका कुछ अर्थ था, कुछ उद्देश्य था। वह एक शक्तिमान एवं युद्ध-कला-निपुण पुरुष के हाथ में एक अस्त्र की भाँति थी। विरोधी पर, शत्रु पर प्रहार करने में उन्हें मज़ा आता था। इस सम्बन्ध में वह मध्ययुग के वीर राजपूत की याद दिलाते थे। मुँहतोड़ जवाब देने का,---शत्रु को पराजित देखने का प्रलोभन उनके लिए असह्य था। शायद ही किसी दूसरे भारतीय राजनीतिज्ञ ने वैसे कड़ुवे और तीखे व्यंग किये हों। उनके व्यंग कहावत हो गये हैं। वल्लभभाई में ज़रूर, एक सीमा तक, यह बात है पर उनमें---उनके व्यंगों में उतनी सफ़ाई और गहराई नहीं है। सफल वकालत ने इसमें उन्हें अभ्यस्त कर दिया था। इतने पर भी यह उनकी

शक्ति और योग्यता का उदाहरण है कि महात्माजी के बाद उनके सहकारियों में सब से अधिक छोटे-मोटे नेता एवं प्रख्यात व्यक्ति थे।

मोतीलालजी की सचाई—'सिंसियारिटी'—विशुद्ध बौद्धिक सचाई थी। वह प्रत्येक कार्य को बुद्धि की कसौटी पर कसते थे। अनुभव के साथ उनका मत भी बदलता था। उनकी वेधक—पैनी दृष्टि किसी बात की गहराई—मूल तक पहुँचती थी। उम्र का उसपर कोई असर नहीं—रीति-रिवाजों का कोई रंग नहीं। कई बार उन्होंने अपने मत में परिवर्तन किया पर मनोदिशा—मनोरचना नहीं बदली; वह ज्यों की त्यों रही। स्वराज्यवाद (स्वराजिज़्म) उनके लिए लक्ष्य (क्रीड) नहीं, मनोरचना का एक विशेष प्रकार मात्र था। वह सम्प्रदाय नहीं, राजनीति के क्षेत्र में राजनीति कुशल योद्धा के आत्म-सम्मान का प्रदर्शन था। यह विरोध की एक 'फिलासफ़ी' थी। अपने उत्तम रूप में वह स्पष्ट युद्ध की तैयारी थी और साधारण रूप में शिथिल एवं दुर्बल हृदय राजनीतिज्ञों के गड्ढे में गिरने से रोक थी। यह उन्हें उस स्थान पर जाने से रोकता था जहाँ से वे लाभ तो कुछ पहुँचा नहीं सकते थे पर हानि अवश्य पहुँचा सकते थे। स्वराजदल से रहित असेम्बली को देखिए—कैसा बेजान, कोरी बहस तथा जातिगत चालबाज़ियों का अखाड़ा है। मोतीलालजी ने उसे एक जीवन दे दिया था। यह जीवन उनका अपना जीवन था। जब वह उठते थे तो चारों ओर शान्ति छा जाती थी—जैसे मास्टर के आते ही दर्जे के विद्यार्थी शान्त हो जाते हैं।

स्वराज-दल में उनका प्रतिबिम्ब

इसके दो कारण थे। उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व और उनकी शान्त प्रकृति। मौन का, चुप रहने का प्रभाव वह जानते थे। नीरवता शक्ति का चिह्न है। चतुराई के साथ उपयोग करने पर वह शक्तिमान शस्त्र का काम देती है। वह बहुत कम बोलते; इसलिए जब बोलते तो उनके भाषण की संक्षिप्तता सब को अपनी ओर खींच लेती। व्यर्थ बातों की चर्चा

छोड़ देने और केवल ज़रूरी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने के वह आचार्य थे। प्रत्येक शब्द नपा-तुला होता था,—अपनी जगह पर 'फ़िट', दुरुस्त। जो बात कहना चाहते थे, शब्द उसी की ओर दौड़ते थे। सबका सारा ध्यान एक बात की ओर खींचने की कला में कोई उनका मुक़ाबला न कर सकता था। वहाँ कहीं भाव-प्रवणता नहीं, काव्य नहीं, भावुकता को उभाड़नेवाली 'अपील' नहीं, एक ऐसे महान् मेधावी पुरुष की अजेय तर्कना मात्र है जो प्राप्त साधनों का बड़ी शान्ति, बेतकल्लुफ़ी और आत्म-विश्वास के साथ उपयोग करता है। उनमें देशबन्धु का नैतिक प्रवाह नहीं था; न बड़ी-बड़ी सभाओं को उच्च भावना से भर देने की शक्ति उनमें थी किन्तु इतने पर भी अपने समय में वह सम्पूर्ण देश में, राजनीतिक क्षेत्र में, सब से महान् एवं शक्तिशाली बुद्धि के पुरुष थे।

दूसरे उनमें विश्वास रखते थे क्योंकि उनका अपने अन्दर विश्वास था,— क्योंकि वह पूर्णतः निर्भीक और सच्चे थे। उनमें बिना किसी हिचकिचाहट के 'नहीं' कहने की शक्ति थी। यदि वह यह कह देते कि "देखूँगा पर प्रतिज्ञा नहीं करता" तो समझो कि वह स्वीकृति दे रहे हैं,—काम हो जायगा। उनका 'हाँ' दूसरों के क़सम खाने—प्रतिज्ञा करने के समान था। उनके दृढ़ जबड़ों को देखकर ही कहा जा सकता था कि यह आदमी झुकनेवाला नहीं है,—कभी झुका नहीं। वह तूफ़ान में चट्टान की भाँति दृढ़ एवं स्थिर थे।

यदि जीते रहते तो वह भारत के मुस्तफ़ा कमाल होते—गाँधी तो हो ही नहीं सकते थे। यह सब की राय थी कि कांग्रेसवादियों में स्वतन्त्र देश के प्रधानमंत्री होने के वह सब से अधिक योग्य थे।

कुछ संस्मरण

पण्डितजी को पहली बार मैंने १९२० या २१ में बनारस में देखा। हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने असहयोग में कालेज छोड़ने के लिए एक समिति बनाई थी। उस समिति का काम था कि नेताओं को बुलाकर विद्यार्थियों में उनका व्याख्यान करावे तथा विद्यालयों से कालेज छोड़ने के लिए प्रतिज्ञा-पत्र भरावे। उन दिनों कालेज में बड़ी चहल-पहल रहती थी। देश के अनेक नेता वहाँ आकर व्याख्यान दे चुके थे। मोतीलालजी भी आये थे। उनका व्यक्तित्व, उनके व्यंग की शैली सब से अलग थी। कुछ ही दिन बाद महात्मा जी के साथ, दौरे के सिलसिले में, वह फिर बनारस आये। मौलाना अबुल कलाम आजाद भी साथ थे। संभव है और भी छोटे मोटे नेता रहे हों पर मुझे उनकी याद नहीं है।

हम लोगों ने एक पुस्तकालय एवं वाचनालय खोल रक्खा था। कुछ अपनी, कुछ अन्य मित्रों की पुस्तकें एकत्र कीं। कुछ हिन्दी के प्रकाशकों एवं लेखकों से मुफ़्त, पोस्टेज खर्च देकर, या आधे दाम पर लीं। कुछ ग़रीबी में कभी-कभी, अनियमित रूप से जलपान इत्यादि के लिए मिले पैसों में से काट-कपट कर खरीदीं। अखबार भी कई मिल गये थे। यह मेरा जीवन में सब से पहला सार्वजनिक काम था। कई लोगों ने 'विज़िटर बुक' में उसकी व्यवस्था पर अच्छी राय दी थी। उस समय उस छोटी चीज़ के लिए भी बड़ा आग्रह था—बड़ी ममता थी। मैंने सोचा यदि महात्मा जी एक बार पधार कर देख लें और कुछ लिख दें तो यह चल निकलेगा। यह भी बौने का आकाश छूना था। आज सोचता हूँ तो अपनी हिमाक़त पर हँसी आती है। न हमारे पास बैठने के लिए कुर्सियां थीं, न मेज़। एक पुरानी कुर्सी और एक हिलती मेज़

गुदड़ी से खरीदी थी। जहां पुस्तकालय था वहाँ कोई भिखारी मुश्किल से ही आ सकती थी। किन्तु किशोरावस्था में इतने तर्क-वितर्क कहां सूझते हैं। मैं अपने एक मित्र को लेकर मिलने गया। सिगरा पर—थियोसाफिकल सोसाइटी के पास ही ये लोग टिके हुए थे। भीतर पहुंचे तो वहाँ बीसों आदमी महात्मा जी को घेरे हुए थे। बाहर बरामदे में मौ० अबुलकलाम 'गीता-रहस्य' पढ़ रहे थे। और मोतीलालजी, कुछ दूर पर पलंग पर लेटे हुए इन सब दृश्यों को विनोद-पूर्ण निगाह से देख रहे थे, जैसे कोई अनुभवी दर्शक नाटक देख रहा हो। मैं महात्मा जी के कमरे में जाकर बैठ गया। उन दिनों इतना संकोची था कि बोली बहुत कम निकलती थी। तरह-तरह के लोग जमा थे। कोई राष्ट्रीय पाठशाला दिखाने ले जा रहा था; कोई बनारसी कारीगरी से उन्हें परिचित करना चाहता था। धनी लोग अपने घर पधारने का निमन्त्रण दे रहे थे और इसी में अपनी कृतार्थता मानते थे। महात्मा जी के पास समय कम था अतः वह कई ज़रूरी कार्यक्रमों को छोड़ रहे थे; लोगों को जवाब दे रहे थे। मेरा खयाल है कि उनके सेक्रेटरी इस कार्य में उनसे कहीं अधिक चतुर और निष्ठुर थे। यह सब दृश्य देख तो मेरे मंसूबों पर पाला पड़ गया। मैंने देखा कि कहना व्यर्थ है। कुछ देर बैठकर, थोड़ी बात-चीत करके, बाहर आ गया। बाहर मोतीलालजी के समीप गया। उनका व्यक्तित्व आकर्षित करता था। वहाँ बैठ गया। इतने में मोतीलालजी ने नौकर से हजामत का सामान लाने की आज्ञा की। सब सामान के साथ एक बहुत सुन्दर और क़ीमती चीनी के प्याले में वह पानी लाया। पानी शायद साफ़ न था। यह उनके लिए असह्य था। गुस्से से उठाकर प्याले को फेंक दिया। वह चूर-चूर हो गया। शान्त एवं अच्छे 'मूड' में होने पर मैंने पण्डितजी से कहा कि प्याला तो व्यर्थ ही फूटा। वह हँस-कर बोले—"अरे बेटा, तुम लोग अब मुझे इतना भी न करने दोगे?" उनके इस वाक्य में कुछ ही दिनों पहले का जो वैभव बोल रहा था

उसने मेरे सामने उनकी एक राजकीय मूर्ति खड़ी कर दी। जब-जब मुझे उनकी याद आती है, यह घटना भी साथ ही स्मृति-पट पर प्रकाशित हो उठती है।

उसके बाद तो उन्हें कई बार देखा। सरूप कुमारी (अब श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित) के ब्याह के समय मैंने इस शुष्क—ठोस आदमी में पहली बार पिता का वह प्रमपूर्ण हृदय देखा जो उसके जीवन की एक विशेषता थी। कन्यादान के समय उनकी आँखें डबडबा आई थीं। सचमुच वह अपनी सन्तान को बहुत प्रेम करते थे। जवाहरलाल और, लड़कियों में, कृष्णा को बहुत मानते थे। पीछे जवाहरलाल की इन्दु को बहुत मानने लगे थे। अपनी उच्च कोटि की गृहस्थी को वह अपने प्रेम से बाँधे हुए थे। सार्वजनिक जीवन में उनकी यह भाव-प्रवणता कहीं दिखाई न पड़ती थी पर घरेलू जीवन में उनका हृदय प्रेम से पूर्ण था। जवाहरलाल तो उनके कलेजे के टुकड़े थे। उनको कष्ट झेलते देखते तो पुरानी स्मृतियाँ आ जातीं। उन्हें तीसरे दर्जे में सफ़र करते देख कई बार गांधीजी तक उलाहना पहुँचाया। गांधीजी की तथा उनकी प्रवृत्तियों में विषमता होते हुए भी गाँधीजी का नेहरू-कुटुम्ब से घरौआ हो गया था और अन्त तक वैसा ही बना रहा।

× × ×

पण्डितजी अपनी बात के बड़े कट्टर थे। इस बात में वह महात्माजी से भी बढ़े-चढ़े थे। **उनकी स्वीकारोक्ति ब्राह्मण की स्वीकारोक्ति नहीं, क्षत्रिय की प्रतिज्ञा होती थी।** इस सम्बन्ध में एक घटना का ज़िक्र किया जा सकता है। सन् १६२७ में मुक़दमे के सिलसिले में लंदन गये थे। उस समय अनेक प्रभावशाली अंग्रेज़ों ने बीच में पड़कर यह चेष्टा की कि पण्डितजी और सर जान साइमन की एक व्यक्तिगत मुलाक़ात हो जाय। पर पण्डितजी ने '**साइमन कमीशन के अध्यक्ष**' से मिलने के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। कई भारतीय मित्र भी नाराज़ हो गये।

पर वह जानते थे कि इस तरह की मुलाक़ात का भी विरोधी राजनीतिक उपयोग कर सकते हैं। महात्माजी होते तो अवश्य मिलते। वह किसी विरोधी से मिलने का सबसे पहले ध्यान रखते थे पर मोतीलाल जी इसे अपनी शान के खिलाफ़ समझते थे। इसका यह मतलब नहीं कि वह विरोधी की योग्यता की क़द्र नहीं करते थे। अपने एक प्रसिद्ध मुक़दमे में, जो प्रिवी कौंसिल में गया हुआ था, उन्होंने सर जान साइमन को बैरिस्टर रखने के लिए लंदन के एक सालिसिटर को तार दिया था।

× × ×

यद्यपि वह राजसिक वैभव उन्होंने त्याग दिया था, उनकी रईसाना तबीयत असहयोग-काल में भी वैसी ही थी। खादी के अन्दर भी उनका वही शाहाना दिल छिपा था। १९२७ ई० की, लंदन की, घटना है। पण्डित जी वहीं थे। कुछ उत्साही लोगों ने एक सभा की; उसमें उनका व्याख्यान होनेवाला था। इस सभा में पार्लमेण्ट के कितने ही सदस्य और अनेक प्रभावशाली अंग्रेज़ उपस्थित थे। पंडितजी की तबीयत अच्छी न थी। ठंड में दमे की शिकायत बढ़ गई थी किन्तु खराब मौसिम और खराब स्वास्थ्य के होते हुए भी वह एक ताँगे (Cab) में बैठकर सभास्थल (एसेक्सहाल) में गये। नियमानुसार, गाड़ीवान को किराया संयोजक देने लगे पर वह राज़ी न हुए। "नहीं, नहीं मैं देता हूँ—" कहकर एक पौण्ड का नोट गाड़ीवान के हाथ में दे दिया और उसको किराया काट कर रुपया लौटाने या धन्यवाद का मौक़ा दिये बिना ही वह हाल में घुस गये। गाड़ीवान उनकी दरियादिली पर आश्चर्य करता रह गया।

× × ×

उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि छोटा-बड़ा कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता था। लंदन के होटल सेसिल में एक भारतीय भोज का प्रबन्ध किया गया। मोतीलालजी और महाराज गायकवाड़ दोनों माननीय अतिथि थे। दोनों के नाम कार्ड में एक साथ ही दिये गये थे। उनका

स्वागत-सत्कार किया गया। पण्डितजी ने एक संक्षिप्त भाषण में धन्यवाद दिया। उनके बाद महाराज गायकवाड़ बोले—"महान् स्वराजी नेता के साथ अपना नाम दिये जाने को मैं अपना सौभाग्य मानता हूं।" यह उनके व्यक्तित्व तथा प्रभाव का नमूना है।

× × ×

उनके व्यक्तित्व के प्रभाव के विषय में एक सज्जन ने लिखा था—

यदि किसी ऐसे आदमी से, जो पहली बार दर्शकों की गैलरी में आया हो, यह प्रश्न पूछा जाता कि 'भारतीय व्यवस्थापक-सभा का सब से शक्तिमान, सब से भयकारी और राजनीति-कुशल सदस्य कौन है' तो बिजली की शीघ्रता से उसके मुँह से शब्द निकलते—"पं० मोतीलाल नेहरू।" और कोई इसे गलत कहने—काटने की हिम्मत न कर सकता। जब अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के साथ वह असेम्बली हाल में प्रवेश करते, तो ऐसा जान पड़ता कि किसी विजयिनी सत्ता के आ जाने से सब सदस्य दब-से गये हैं। उस समय सरकारी अधिकारी और सदस्य एक-दूसरे की ओर ताकने लगते और अपनी फाइलों एवं काग़ज़ों को ग़ौर से देखने लगते। ग़ैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों की दृष्टि भारतीय राजनीति के इस पुतले की ओर खिंच जाती। वह मनुष्यों एवं परिस्थितियों पर क़ाबू रखनेवाले पैदायशी 'अरिस्टोक्रेट' थे। उत्तर भारतीय ढंग से क़ीमती सिल्क के धवल वस्त्रों से सज्जित, चमकदार काश्मीरी शाल बाहों के नीचे से लिपटा हुआ, देश-प्रेम के प्रकाश से चमकती आँखें, दृढ़ता की सूचना देनेवाली ठुड्डी, कभी न झुकनेवाले स्वभाव के सूचक भली भाँति मिले हुए ओठ, इन सबको वश में रखनेवाला चौड़ा ललाट और सबके ऊपर राजनीतिक प्रतिभा, क्षमता एवं कुशलता का भाण्डार तथा बहुरंगी अनुभवों का आगार, सारे शरीर पर शासन करनेवाला, उनका मस्तक। पण्डित जी—असेम्बली के नेता—ऐसे थे! × × × भारतीय राजनीति के क्षेत्र में उनका स्थान अप्रतिम है। वह भारतीय राजनीति

के 'पिरामिड' के सर्वोच्च शिखर थे। उन्हीं के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह—'आँधी पर सवार होकर उसका इच्छानुसार संचालन करते थे।'

× × ×

उनकी अन्तिम बीमारी के समय कार्यकारिणी की बैठक हुई थी। उसमें सभी जमा हुए थे पर मोतीलालजी के बिना सब सूना लगता था। एक लेखक (Alcibiades) ने 'सिंध-आबज़र्वर' में उस समय का बड़ा ही अच्छा वर्णन किया था—

"× × भीतर जाने पर मैंने देखा कि बड़े-बड़े कांग्रेसी नेता ड्राइंग-रूम के बाहर वाले बरामदे में खड़े हैं। श्रीमती नायडू बहुत दुबली हो गई हैं फिर भी सदा की तरह प्रसन्न हैं; बहुत धीरे-धीरे मौलाना अबुलकलाम से बात कर रही हैं। पेरिन कैप्टेन डा० जीवराज मेहता से चर्चा कर रही हैं। जवाहरलाल, थके और चिन्ताग्रस्त, कभी-कभी मोतीलालजी के कमरे से बाहर निकलकर आते हैं और अपनी बहिन को दो-एक सूचना दे फिर चले जाते हैं। सेनगुप्त अपने अमल-धवल खद्दर एवं 'पिंस नेज़' चश्मे से सुसज्जित, मुस्कराते हुए श्रीमती नायडू के पास आते हैं पर क्षण-भर में ही, शायद बीमारी के सम्बन्ध में अन्तिम सूचना पाकर, उनकी मुद्रा गम्भीर हो जाती है। नेहरू-परिवार की महिलाएँ शांतिपूर्वक, कार्य-वश, इधर-उधर आ-जा रही हैं। महात्मा जी अपने ऊपर के कमरे में हैं।

"एक बजा। सब लोग स्वराज-भवन की ओर चले, जो आनन्द-भवन से लगा हुआ है। अन्दर ही अन्दर रास्ता जाता है। यहाँ सब इकट्ठे हुए। राजगोपालाचार्य, जो पादरी या कार्डिनल आचार्य के नाम से ज्यादा मशहूर हैं—से बातें करते हुए मुद्रा में गंभीर पर अट्टहास करने को सदा प्रस्तुत सरदार वल्लभ भाई, सब से बड़ी सरगर्मी से हाथ मिलाने वाले देसाई, शार्दूल सिंह से गले मिलते हुए जयरामदास, पंजाब की चिन्ता के गह्वर से दबे जा रहे डा० सत्यपाल, कांग्रेस सेक्रेटरियट

(मंत्रि—कार्यालय) बहुत कार्यव्यस्त है सब को यह अनुभव कराने वाले डा० महमूद, ऊँचाई में सब के शरीर को मात करनेवाले शेरवानी, हँसते मुखड़े से प्रत्येक का स्वागत करनेवाले तथा किसी जटिल प्रश्न पर राजेन्द्र बाबू से तर्क करते हुए आसफअली, दम-घोटक आलिंगन का स्वाद चखानेवाले शिवप्रसाद गुप्त तथा प्रसन्नमुख के० एम० मुंशी सभी वहाँ जमा हैं।

"पर सब के ऊपर विषाद की एक छाया है। आनन्द-भवन के एक कमरे में राजनीति और समाज का एक अद्भुत व्यक्ति—एक शाहाना आदमी, जिसके रुख पर बहुत कुछ इधर-उधर हो जाता है—चारपाई पर पड़ा है।

"सैकड़ों युद्धों के योद्धा और हजारों मंचों के वक्ता, उन विशेष राजनीतिवेत्ता की आवाज, जो सदा हास्य या व्यंग से भरी रहती थी, आज सुनाई नहीं देती थी। उसके बिना सब सूना और विषादमय हो रहा है।"

× × ×

मृत्यु के पूर्व डा० सत्यपाल ने 'ट्रिब्यून' में लिखा था—

"× × × पण्डितजी बड़ी गहरी बीमारी के पंजे में पड़े हुए हैं—वस्तुतः वह मृत्यु से युद्ध कर रहे हैं। वह अत्यधिक दृढ़ता और दृढ़ इच्छा शक्ति के पुरुष हैं और वही हैं जो जीवन-मृत्यु के इस युद्ध में भी अपने को स्थिर रख सकते हैं। जब हम उनके कमरे में गये तो भारतीय राष्ट्रीयता के इस शेर को एक आराम-कुर्सी पर लेटे पाया। उनका चेहरा आशा से चमक रहा था—यद्यपि शरीर दमे से घुन गया था। सत्याग्रह—आन्दोलन के समय निरन्तर कार्य में लगे रहने तथा जेल जाने से बीमारी बढ़ गई किन्तु अब भी दिल में वही दृढ़ता है। उन्होंने कहा—"मैं रोग से लड़ूँगा, भाग्य से लड़ूँगा, मैं मृत्यु से लड़ूँगा और सब के बाद गुलामी के राक्षस से लड़ूँगा।" फिर बोले—"यदि

मरना ही हो तो मुझे स्वतंत्र भारत की गोद में मरने दो। मुझे अन्तिम नींद गुलाम देश में नहीं, स्वतंत्र देश में लेने दो।" और जब उन्होंने कहा—"भारत के भाग्य का निर्णय स्वाराज-भवन में करो: मेरी उपस्थिति में करो और अपनी मातृभूमि के भाग्य के अन्तिम सम्मानपूर्ण निर्णय में मुझे भाग लेने दो,"—तो हम लोगों को रोना आ गया।"

× × ×

महात्माजी एक सन्त और महापुरुष थे, मोतीलालजी राष्ट्र-निर्माता, असाधारण व्यक्ति और असाधारण राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने हमारा पथ बहुत सुगम कर दिया और भारतीय राजनीति की एक रूप-रेखा बना दी। उनकी समाधि से आवाज़ आती है—

दुआएँ दें मेरे बाद आनेवाले मेरी वहशत को,
बहुत काँटे निकल आये मेरे हमराह मंज़िल से।

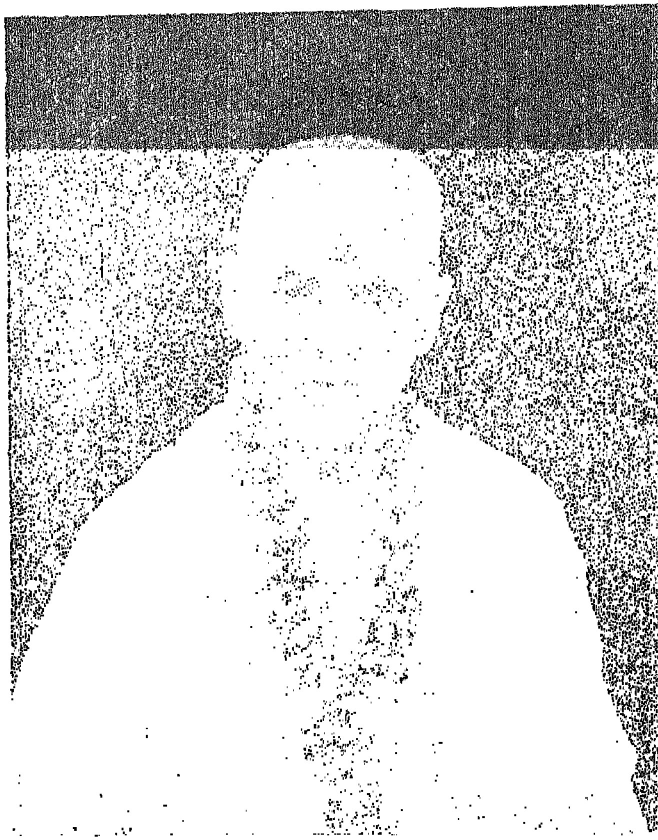
जीवन तालिका

१८६१	६ मई	दिल्ली में जन्म।
		बारह वर्ष की उम्र तक घर पर तथा इस्लामी मकतब में शिक्षा मिली।
१८७३	...	गवर्नमेण्ट हाईस्कूल कानपुर में प्रवेश।
१८७६	.	प्रथम श्रेणी में इण्ट्रेंस परीक्षा पास।
		प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कालेज में प्रवेश।
		बी० ए० तक पढ़ा पर बीमारी के कारण परीक्षा में न बैठे।
१८८२-८३	....	सिर्फ तीन महीने में हाईकोर्ट की वकालत की परीक्षा सर्वप्रथम पास की।
१८८३	....	कानपुर में वकालत शुरू की।
१८८६	....	प्रयाग आये और हाईकोर्ट में वकालत शुरू की।
१८८८		राष्ट्रीय महासभा के चौथे अधिवेशन (प्रयाग) में सम्मिलित हुए। तब से प्रायः सम्मिलित होते रहे।
१८९२	....	राष्ट्रीय महासभा के (प्रयाग) अधिवेशन की स्वागत-समिति के एक पदाधिकारी थे।
१८९६	...	एडवोकेट चुने गये
१९०३	...	जवाहरलाल के साथ बम्बई अधिवेशन में सम्मिलित हुए।
१९०४	....	सपरिवार इंग्लैण्ड-यात्रा।
१९०६	...	इंग्लैण्ड से लौटकर कलकत्ता कांग्रेस में शामिल हुए। इनके एवं मालवीयजी के ज्यादा ज़ोर देने से नरमदल की हार होते-होते बची।

१९०७	...	युक्तप्रांतीय कान्फ्रेंस के प्रथम अधिवेशन (प्रयाग) के अध्यक्ष।
१९०९	....	'लीडर' निकाला।
	...	मार्ले-मिन्टो सुधार जारी होने पर कौंसिल के सदस्य हुए।
१९०९-१९	...	१९०९ से १९१९ तक बराबर भारतीय कांग्रेस-कमिटी के प्रमुख सदस्यों में रहे। पटेल-बिल कमेटी तथा सामाजिक सम्मेलन के अध्यक्ष।
१९१३	....	प्रान्तीय कान्फ्रेंस (लखनऊ) के सभापति।
१९१४-१७	...	प्रयाग म्युनिसपल बोर्ड के सदस्य रहे। इण्डियन डिफेंस फोर्स का संघटन किया। सरकार की सहायता की।
१९१७	....	प्रान्तीय सम्मेलन के विशेष अधिवेशन के सभापति।
१९१८	५ फरवरी	बसंत पञ्चमी के दिन 'इण्डिपेण्डेण्ट' पत्र का जन्म।
१९१८	२३ अगस्त	कौंसिल में, मंत्रि-मण्डल की पाश्चात्य प्रजा-तंत्र प्रणाली जारी करने का प्रस्ताव किया।
	...	दिल्ली कांग्रेस के सभापति चुने गये पर अस्वस्थ होने के कारण अस्वीकार कर दिया।
	...	पंजाब हत्याकाण्ड की जाँच के लिए नियुक्त कांग्रेस उपसमिति के अध्यक्ष।
१९१९	दिसम्बर	अमृतसर कांग्रेस के अध्यक्ष हुए।
१९२०	सितम्बर	कलकत्ता (विशेष) कांग्रेस में असहयोग कार्यक्रम का विरोध।

	दिसम्बर	नागपुर कांग्रेस में असहयोग का समर्थन।
१६२१	२५ नवम्बर	कांग्रेस,स्वयं-सेवकदल गैर-कानूनी घोषित किया गया ।
	६ दिसम्बर	गैरकानूनी संस्था का सदस्य होने के कारण गिरफ़्तारी ।
१६२२	...	असहयोग-आन्दोलन स्थगित ।
	७ जून	लखनऊ में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक। मोतीलालजी की अध्यक्षता में सत्याग्रह-जाँच-समिति की नियुक्ति ।
	दिसम्बर	सत्याग्रह-जाँच-समिति की रिपोर्ट निकली। इसमें बताया गया कि देश की स्थिति सत्याग्रह के अनुकूल नहीं है ।
	दिसम्बर	देशबंधु के सहयोग से स्वराज-दल की स्थापना ।
१६२३	....	बड़ी कौंसिल के लिए निर्विरोध निर्वाचित। असेम्बली में स्वराजदल का नेतृत्व: उसका संघटन ।
१६२७	...	लखनाराज के मुकदमे के सम्बन्ध में इंग्लैण्ड गये ।
		रूस-सरकार के निमंत्रण पर रूस गये ।
	८ नवम्बर	साइमन-कमीशन की नियुक्ति की घोषणा ।
	दिसम्बर	मद्रास-कांग्रेस में साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय । शासन-विधान का एक मसविदा तैयार करने तथा सर्वदल-सम्मेलन की बैठक दिल्ली में बुलाकर उसमें रिपोर्ट पेश करने का, कार्यकारिणी को आदेश ।

१९२८	१२ फरवरी से २८ फरवरी तक मई	सर्वदल-सम्मेलन की पहली बैठक दिल्ली में हुई। मई में दूसरी बैठक बम्बई में हुई। यहाँ मोतीलालजी की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। इसी कमेटी की रिपोर्ट 'नेहरू-रिपोर्ट' के नाम से विख्यात है।
	अगस्त	लखनऊ में सर्वदल-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ और नेहरू-रिपोर्ट, मुसलमानों तथा स्वतंत्रता-वादियों के विरोध के बीच भी, स्वीकृत हुई।
	दिसम्बर	कलकत्ता-कांग्रेस की अध्यक्षता। अभूतपूर्व स्वागत।
१९३०	१४ अप्रैल	राष्ट्रपति जवाहरलाल की गिरफ़्तारी के बाद स्थानापन्न राष्ट्रपति हुए।
	....	कांग्रेस कार्यकारिणी गैरकानूनी घोषित की गई। मोतीलालजी की गिरफ़्तारी। छः महीने की सज़ा। जेल में ही संधि की बातचीत।
	८ सितम्बर	स्वास्थ्य बहुत खराब हो जाने के कारण रिहाई।
		मसूरी गये। स्वास्थ्य खराब ही होता गया।
१९३१	२६ जनवरी	वायसराय की घोषणा के अनुसार कांग्रेस कार्यकारिणी के सब सदस्य छोड़ दिये गये।
	४ फरवरी	एक्स-रे परीक्षा के लिए लखनऊ ले जाया गया।
	६ फरवरी	प्रातःकाल ६ बज कर ४० मिनट पर देहावसान।



मदन मोहन मालवीय

मदनमोहन मालवीय

[महामना]

जन्म	मृत्यु
२५ दिसम्बर १८६१ ई०	१२ नवम्बर १९४६ ई०

"Pt. Malviya is nothing but heart from head to foot."

—C. Y. CHINTAMANI.

"Like the peak of Kailas, he stands, with his seventy winters, a towering spectacle clothed in the effulgence of a mass of white, like the primaeval lotus which nothing can sully, a beacon of hope often, a portent never."

—V. N. MEHTA.

"Next to Mahatma Gandhi it is difficult to find another man who has undergone so much sacrifice and has given such proofs of many-sided activities."

—P. C. RAY

"मालवीय जी सिर से पैर तक हृदय ही हृदय हैं।"

—चिन्तामणि।

"कैलाश के धवल शृंग की नाईं, वह अपने सत्तर हेमन्तों को लिये हुए, उज्ज्वल-धवल वस्त्रों से आच्छादित, एक महान् एवं उच्च दृश्य के रूप में, खड़े हैं। सृष्टि के उस आदि-कमल की भाँति, जिसे कोई वस्तु मुर्झा नहीं सकती, प्रायः आशा के ज्योतिः पुंज के रूप में उनके दर्शन होते हैं; निराशा या अपशकुन के रूप में कभी नहीं।"

—विनायक मेहता।

"महात्मा गाँधी के बाद, दूसरे किसी आदमी की खोज करना कठिन है जिसने इतने त्याग किये हों और नानाविध कार्यों के ऐसे प्रमाण उपस्थित किये हों।"

—पी० सी० राय।

"Wearing the white robe of blameless life, dressed all in surplice, he seems to stand in conscious rebuke of a wicked word.... ....In the midst of so much that is transient here stands a figure hinting at the permanence of things. With his turban sitting on his head without ever a suspicion of a sporting angle he takes the mind trippingly through the centuries, linking us with a past which fades into the twilight of SATYUGA. Plain living and as much high thinking as his Brahmanism will allow him, no alcohol, no tobacco, no meat, no beds of down, no weak concession to the flesh, a glorious reminiscence of the days of Ramchandra."

—AL-KAFIR.

—एक—

प्रथम दर्शन !

ऊपर से नीचे तक स्वच्छ धवल वस्त्रों से सज्जित, सिर पर वही पेटेण्ट साफ़ा, ब्राह्मण का विनम्र पर प्राचीनता से दबा हुआ रूढ़ि-प्रेमी मुख, ललाट पर चंदन की सुन्दर बिन्दी, एकहरा बदन, जैसे प्राचीन युग का कोई सात्त्विक ब्राह्मण, युग-युग से संचित हिन्दू संस्कृति के गुण-दोष दोनों का बोझ लिये हुए, सामने आकर खड़ा हो गया हो ! इसी रूप में पहली बार मालवीय जी को १९१७ या १९१८ में देखा था। तब से

उन्हें उसी ब्राह्मण-रूप में अनेक बार देखा—अनेक बार उन्हें बोलते सुना। सदा उनका वही रूप, वही ढंग रहता था।

इस महान् ब्राह्मण को देखते ही श्रद्धा होती थी। उनमें कुछ ऐसी बात थी कि मत-भेद होते हुए भी आदमी का हृदय झुक जाता। जैसे बिजली तथा अन्य आधुनिक युग के महायंत्रों से भरे हुए मुहल्लों के बीच एक बुढ़िया को हाथ से चक्की चलाते देख दर्शक उसके प्रबल आत्म-विश्वास के सामने, ठहरकर इधर-उधर देखने लगता है; उसकी आँखों में एक हसरत, आशा-निराशा के छायाचित्रों के साथ भर जाती है; कुछ अल्पदा पर असामान्य एवं शान्तिकर-सा अनुभव होता है, वैसे ही वर्तमान युग की इस घोर गतिशीलता एवं झंझावात के झकोरों के बीच, जब किसी को प्राचीन को देखने-परखने की फुर्सत नहीं और सब अपने आग लगे हुए घर से निकल-निकलकर नई बस्ती की ओर भाग रहे हैं, एक आदमी को आशापूर्वक इस अतीत के ईंट-पत्थरों को संचित करने में लगा देखते थे। हमारी दृष्टि रुक जाती और वह आदमी हमें आकर्षित करता! यही मालवीय जी थे।

स्वभावतः भविष्य की अपेक्षा अतीत उनके लिए अधिक आकर्षक था। वह अतीत पर भविष्य की दीवार खड़ी करना चाहते थे। सारी बुराई-भलाई के साथ भी वह अपनी चीज़ है—उसके प्रति इस पवित्र ब्राह्मण के हृदय में अत्यधिक ममता थी!

पर इन बातों की चर्चा, इनका विश्लेषण तो आगे करेंगे। पहले उनकी जीवन-कथा कह लें। इसमें पाठकों को वह नींव मिलेगी, जिस पर उनके जीवन की इमारत खड़ी है।

जीवन-कथा

जिस कुल में मालवीयजी का जन्म हुआ, वह पहले बुँदेलखण्ड में, झाँसी से थोड़ी दूर, एक गाँव में बसा था। वहीं से इनके पूर्वज प्रयाग आये थे। इनके कुल में संस्कृत के अच्छे विद्वान एवं शास्त्रज्ञ पण्डित होते आये हैं। मालवीय जी के पितामह पं० प्रेमधर मालवीय अपने पाण्डित्य एवं विद्वत्ता के लिए प्रयाग में प्रसिद्ध थे। उनके पुत्र, मदनमोहनजी के पिता, पं० ब्रजनाथ जी अपनी विद्वत्ता, मंजुभाषिता एवं सुन्दर स्वभाव के कारण राजा-महाराजाओं में भी आदृत हुए थे। पण्डित जी श्रीमद्‌भागवत् की कथा तथा अन्य पुराण ऐसी उत्तम एवं मधुर रीति से बाँचते थे कि श्रोता मुग्ध एवं विह्वल हो जाते थे। इनकी विद्वत्ता एवं धर्माचरण के कारण काशी एवं दरभंगा के तात्कालिक नरेश इन्हें गुरु की तरह मानते थे। इन्होंने 'सिद्धान्त दर्पण' इत्यादि कई ग्रन्थ संस्कृत में लिखे, जिनमें कई उनके योग्य पुत्र ने बाद में छपवाकर प्रकाशित भी किये।

कुल

ब्रजनाथजी के तीन पुत्र हुए। मदनमोहन इनमें सबसे छोटे थे। इनका जन्म २५ दिसम्बर १८६१ ई० को प्रयाग में हुआ। आरम्भ में इन्हें संस्कृत एवं हिन्दी की शिक्षा पिताजी-द्वारा घर पर ही दी गई। पर इसमें बाधा पड़ती देख पिता ने पुत्र को पहले 'धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला' में और फिर 'विद्या धर्म-प्रवर्द्धनी सभा' की संस्कृत पाठशाला में भेजना आरम्भ किया। संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा पूर्ण होने पर बालक मदनमोहन का नाम इलाहाबाद के अंग्रेज़ी ज़िला स्कूल में लिखाया गया। ज़िला स्कूल से १८७९ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की एण्ट्रेंस परीक्षा पास करके

बालपन एवं शिक्षा

इन्होंने म्योर सेण्ट्रल कालेज में पढ़ना शुरू किया। उस समय श्री हैरिसन उसके प्रिंसपल थे।

आरंभ में मदनमोहन विद्याध्ययन में साधारण थे। पर आगे चलकर इनमें सत्यप्रियता, धीरता एवं देशानुराग के चिह्न दिखाई पड़ने लगे थे। प्रिंसपल हैरिसन इनके उच्च भावों से प्रसन्न रहते थे और समय-समय पर इन्हें उत्साहित किया करते थे।

कालेज में मदनमोहन महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य के पास संस्कृत पढ़ते थे। भट्टाचार्यजी बड़े स्वदेशानुरागी एवं परम विद्वान् थे। मालवीयजी, बड़े होने एवं प्रसिद्धि पाने पर भी, सदा उन्हें गुरु मानते एवं उनपर तदनुकूल श्रद्धा रखते रहे एवं प्रायः उनकी आज्ञा एवं अशीष लेकर ही कोई काम आरम्भ करते।

१८८४ ई० में मदनमोहन ने बी० ए० पास किया।

सार्वजनिक सेवा एवं पत्र-सम्पादन

आरंभ से ही इनमें स्वदेश एवं समाज की सेवा करने का भाव विद्यमान था। कालेज-जीवन में ही कुछ मित्रों की सहायता से इन्होंने इलाहाबाद में एक 'लिटरेरी-इन्स्टिट्यूट' (साहित्यिक सभा) और 'हिंदू समाज' की स्थापना की थी।

बी० ए० पास करने के बाद जब कालेज खुला तो इन्होंने एम० ए० में नाम लिखाया पर घर की आर्थिक अवस्था ठीक न रहने एवं पूज्य पिताजी को कुछ विश्राम देने के ख्याल से २-३ महीनों में ही कालेज छोड़ दिया और ज़िला स्कूल में असिस्टेण्ट मास्टर नियुक्त हुए। लगभग ३ वर्ष तक यहाँ काम किया। आरंभ में ५०) मासिक मिलते थे पर दो ही वर्ष बाद इनकी कार्य-कुशलता से प्रसन्न हो शिक्षा-विभाग ने वेतन ७५) मासिक कर दिया।

१८८५ ई० में कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की स्थापना हुई। १८८६ ई० में दूसरी बैठक राष्ट्र के ऋषि स्व० दादाभाई नौरोजी की

अध्यक्षता में कलकत्ता में हुई। यह अपने गुरु श्री आदित्यरामजी भट्टाचार्य के साथ कलकत्ता गये और अधिवेशन में सम्मिलित हुए। वहीं कालाकाँकर (अवध) के उदार एवं उन्नतिशील ताल्लुकेदार स्व० राजा रामपालसिंह से इनका परिचय हो गया। राजासाहब ने इन्हीं दिनों कालाकाँकर से हिंदी में 'हिंदुस्तान' नामक एक दैनिक पत्र निकाला था। यह हिंदी का पहला दैनिक पत्र था। राजा साहब उसके लिए एक योग्य सम्पादक की तलाश में थे। पण्डित जी (मदनमोहन) की सत्यप्रियता एवं विचार-स्वातंत्र्य से वह बड़े प्रसन्न हुए। फल-स्वरूप पण्डितजी सम्पादक बनकर काँग्रेस से लौटे। उन्हें दो या ढाई सौ मासिक मिलने लगे। गरीब हिंदी के गरीब सम्पादक को इससे अधिक उस समय क्या मिलता? पर उस समय इस पत्र की बड़ी इज्जत थी। प्रान्तीय सरकार ने भी अपनी वार्षिक रिपोर्ट में इसकी प्रशंसा की थी।

'इंडियन यूनियन'

इन्हीं दिनों प्रसिद्ध देशभक्त स्व० पं० अयोध्यानाथ ने प्रयाग से अंग्रेजी में 'इण्डियन यूनियन' निकाला और इन्हें कालाकाँकर से उसके सम्पादन के लिए प्रयाग बुला लिया। मालवीय जी कई वर्षों तक इसका सम्पादन करते रहे।

'अभ्युदय और लीडर'

१९०८ ई० में उन्होंने प्रयाग से हिंदी साप्ताहिक 'अभ्युदय' निकाला। प्रयाग में स्वतंत्र विचार के एक अंग्रेजी दैनिक की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए कुछ दिनों बाद मित्रों की सहायता से 'लीडर' निकाला, जो आज युक्तप्रांत का एक प्रभावशाली पत्र है।

'मर्यादा'

हिन्दी में उस समय मासिक पत्रिकाएँ तो कई निकलने लगी थीं पर गंभीर राजनीतिक लेखों एवं विचारों का उन में बड़ा अभाव था। प्रायः साहित्यिक चर्चा ही रहती थी। इस अभाव को दूर करने के लिए मालवीय जी ने १९१० ई० में प्रयाग से 'मर्यादा' निकाली। यह हिंदी-साहित्य की कठोर भूमि पर राजनीतिक मासिक की

महली बेल थी। कई वर्षों तक लहलहाकर भी, ज्यादा दिन त क हरी न रह सकी; सूख गई। फिर एक बार काशी के ज्ञान-मण्डल ने उसे सींचने का प्रयत्न किया पर वह प्रयत्न भी स्थायी रूप से उसे जीवन न दे सका।

'हिंदुस्तान' के सम्पादन-काल के बाद ही कई मित्रों एवं गुरुजनों के आग्रह से इन्होंने वकालत पढ़ना शुरू किया। १८६१ में वकालत की परीक्षा पास की। १८६३ ई० में वकालत शुरू की। कांग्रेस के पिता श्री ह्यूम ने कहा था—"मदन-मोहन, तुम्हें ईश्वर ने विलक्षण बुद्धि दी है। थोड़े दिन—केवल दस वर्ष—वकालत में परिश्रम कर लो; तुम उच्च श्रेणी में पहुंच जाओगे।" पर मालवीय जी का हृदय तो देश की दुर्दशा पर तड़प रहा था अतः इधर इनका ध्यान ही न जाता था। उनकी इस प्रवृत्ति को लक्ष्य कर इलाहाबाद हाईकोर्ट के एक प्रतिष्ठित जज ने कहा था—"Pt. Madan Mohan Malviya has the ball before his feet, but he refuses to kick it." अर्थात् "पण्डित मदनमोहन मालवीय के पैरों के सामने ही गेंद है पर वह उसे ठोकर मारकर आगे बढ़ाने से इन्कार करते हैं।"

वकालत

मालवीयजी के आत्म-त्याग और देश-हितकर कार्यों में उनके कठिन परिश्रम पर मुग्ध होकर ३१ जनवरी १६१२ ई० को काशी में व्याख्यान देते हुए श्रीमती एनी बेसेण्ट ने कहा था—"आपने अपना सांसारिक जीवन, अपनी सब शक्ति, अपनी विलक्षण वाणी,—क्या कहा जाय, अपना समस्त जीवन और अपना स्वास्थ्य तक इस महत् कार्य में लगा दिया है।"।

उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में बाहर से पढ़ने के लिए आने वाले हिंदू विद्यार्थियों के रहने का बड़ा कष्ट था। मालवीयजी ने युक्तप्रांत में दौरा करके धन एकत्र किया। थोड़े ही दिनों में मैकडानेल हिंदू बोर्डिंग हाउस बनकर तैयार हो गया जिसमें २५० विद्यार्थी रह सकते हैं।

हिन्दू बोर्डिंग हाउस

मालवीयजी ने ज्ञान-प्रसार के लिए 'भारती-भवन' नामक एक पुस्तकालय भी प्रयाग में खोला था, जो आज भी चल रहा है।

इलाहाबाद का मिण्टो पार्क भी, जो महारानी विक्टोरिया की घोषणा का स्मारक है, मालवीय जी के ही प्रयत्न का फल है।

हिंदी-आंदोलन

युक्तप्रान्त की अदालतों में भी पहले उर्दू का ही बोलबाला था; हिंदी का बिलकुल ही प्रचलन न था। इसमें गरीब किसानों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वे दूसरों की दया पर निर्भर करते थे। मालवीयजी ने ज़बर्दस्त आंदोलन करके एवं गंभीर तर्कों तथा आँकड़ों-द्वारा तात्कालिक लेफ़्टिनेण्ट गवर्नर श्री ऐण्टनी मैकडानेल को समझाकर सरकार द्वारा सन् १६०० ई० में यह क़ानून प्रचारित कराया कि अदालतों का काम हिंदी या उर्दू दोनों भाषाओं में हो सकता है।

आज हिंदी की जो उन्नति हुई है उसमें मालवीयजी का बड़ा हाथ रहा है। 'हिंदुस्तान' के सम्पादन के अलावा अभ्युदय, मर्यादा, हिंदी-आन्दोलन तथा अन्य कितने ही साधनों द्वारा उन्होंने हिन्दी की बड़ी सेवा की। 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान' की रट लगानेवाले वही थे। समय आया जब साहित्य-सेवियों ने भी उनकी इस सेवा के लिए अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की। १६१० ई० में जब हिंदी साहित्य-सम्मेलन को जन्म देने की बात सोची गई तो प्रथम अधिवेशन का सभापति मालवीय जी को ही बनाया गया।

× × ×

कांग्रेस में—

२८ दिसम्बर १८८५ को श्रीह्यूम, सर फीरोजशाह मेहता, श्री० उमेशचन्द्र बनर्जी, श्री सुरेन्द्रनाथ, श्री दादाभाई नौरोजी इत्यादि के प्रयत्न से बम्बई में सेठ गोकुलदास तेजपाल के संस्कृत विद्यालय में कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ।

कलकत्ता की दूसरी कांग्रेस में मालवीय जी के शरीक होने की बात हम लिख चुके हैं। वहाँ मालवीय जी अपने गुरु श्री आदित्यराम जी के साथ बैठे हुए थे। मंच पर एक के बाद एक श्रेष्ठ वक्ता आ रहे थे। उनके व्याख्यानों को सुनकर इनके मन में भी बोलने की इच्छा हुई। गुरु की आज्ञा एवं सभापति का आदेश लेकर यह 'व्यवस्थापक सभाओं के सुधार' पर बोले। ऐसी महत्वपूर्ण, एवं चुने हुए विद्वानों तथा सेवकों की की सभा में, बोलने का यह पहला ही मौका था पर उनके इस पहले व्याख्यान का भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इस नवयुवक की वाग्शक्ति पर लोग दंग रह गये। श्री ह्यूम ने कलकत्ता कांग्रेस की रिपोर्ट में लिखा- "जिस वक्तृता के लिए कांग्रेस मण्डप में कई बार करतल-ध्वनि हुई थी, और जिस वक्तृता को जनता ने बड़े उत्साह से सुना था, वह पं० मदन-मोहन मालवीय की वक्तृता थी। पण्डित जी की गौरवर्ण सुन्दर मूर्ति और न्याययुक्त हृदय-ग्राही मधुर भाषण ने कांग्रेस में बैठे हुए प्रत्येक पुरुष के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लिया था।"

तब से मालवीय जी बराबर कांग्रेस में सम्मिलित होते रहे। उनके ओजस्वी भाषण कांग्रेस-मंच की जान थे। उस समय उनके भाषण बड़े ही उत्साहप्रद होते थे। उस ज़माने में भी वह बड़ी निर्भीकता के साथ बोलते थे। १८६१ ई० की नागपुर कांग्रेस में 'भारत की गरीबी' पर बोलते हुए कहा था—"......जो कुछ मैं कहता हूँ वह यही है कि यह घोर अन्याय है, महापाप है और अति निंदास्पद है कि तुम्हारे घर में जब तुम्हारे भाई भूख की महाकठिन व्यथाओं से पीड़ित हों, तुम दूर से विदेशियों को बुलाकर उनके सुख-भोग की सामग्री इकट्ठी करो। तुम कहते हो—'देश गरीब है।' देश गरीब न हो तो क्या हो? मार्किस ऑव् सेलिसबरी ने स्वयं एक बार यह कहा था कि भारत की अधिकांश आय, बदले में बिना कुछ लिये, यों ही विदेश को भेज दी जाती है।........"। इत्यादि

१९०९ ई० में पहली बार मालवीयजी लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। उस समय जो भाषण उन्होंने दिया उसे सुनकर उपस्थित प्रतिनिधि दङ्ग रह गये। भाषण मौखिक था, पहले से तैयार किया हुआ नहीं था पर मालवीयजी के मुँह से वाग्धारा बड़े वेग से निकल रही थी। इसमें मिण्टो-मार्ले सुधारों की आलोचना की गई थी। लगभग ३ घंटे तक वह धारा-प्रवाह व्याख्यान देते रहे।

पंजाब-हत्याकांड के समय मालवीयजी ने बड़ा परिश्रम किया।

कांग्रेस-कार्यक्रम से कई बार मालवीयजी का मतभेद हुआ है। १९२० से १९३० तक तो वह एक प्रकार से उससे अलग ही रहे किन्तु अपने मुँह से कभी उन्होंने कांग्रेस का विरोध नहीं किया। कांग्रेस के प्रति वह सदा वफ़ादार रहे हैं और मौका आया जब देश ने उन्हें फिर कांग्रेस की गोद में पाया।

नगर-सेवा

बहुत दिनों तक मालवीयजी इलाहाबाद नगर-बोर्ड के सदस्य एवं वाइसचेयरमैन रहे। इन्होंने नये-नये मुहल्ले बसवाये। प्रयाग का लूकरगंज इन्हीं के प्रयत्नों का फल है।

प्रयाग में जब पहली बार प्लेग फैला, शहर में भगदड़ मच गई। कोई किसी की सुनता न था। पड़ोसी पड़ोसी को भूल रहे थे। शहर में सन्नाटा छा रहा था। ऐसे कठिन समय में मालवीयजी घर-घर, मुहल्ले-मुहल्ले घूमते; बीमारों का पता लगाते; उनके घरवालों को सान्त्वना देते; बीमारों की दवा का प्रबन्ध करवाते; रोगियों को अस्पताल भेजवाते; घरों की सफाई कराते। उस समय उनकी सेवा देखने ही योग्य थी।

व्यवस्थापक सभा में—

सन् १९०२ ई० सरकार ने मालवीयजी को प्रांतीय व्यवस्थापक सभा का सदस्य नियुक्त किया। उस समय उसमें केवल १२ सदस्य होते थे। और सब सरकार-द्वारा ही चुने जाते थे। इनमें भी ज्यादातर अंग्रेज होते थे। आजकल की भाँति सदस्यों को बोलने एवं

आलोचना करने की सुविधा न थी। सदस्य केवल सलाह दे सकते थे; वे सरकार की आलोचना न कर सकते थे; उससे प्रश्न तक न पूछ सकते थे। कौंसिल क्या, एक प्रकार की परामर्श-समिति (एडवाइजरी बॉडी) थी। किंतु ऐसे संकुचित क्षेत्र में, इतने बंधनों के भीतर रहकर भी मालवीयजी ने समय-समय पर दृढ़ता के साथ जनता का पक्ष समर्थन किया। १६०३ ई० में बुन्देलखण्ड में जमीन की बेदखली के कानून का मसविदा सरकार की ओर से पेश होने पर उन्होंने उसकी आलोचना करते हुए जोरदार भाषण दिया था। शिक्षा-प्रचार तथा अन्य जन-हितकर विभागों में अधिक खर्च करने के लिए मालवीयजी सदा अपने भाषणों में सरकार पर जोर डालते थे।

१६०६ ई० तक वायसराय की केन्द्रीय कौंसिल (आज की असेम्बली) में प्रांतीय मेम्बर भारत-सरकार स्वयं चुनती थी। १६०६ ई० में पहली बार यह नियम बना कि प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा दो प्रतिनिधि चुनकर वहाँ भेज सकती है। तब एक प्रतिनिधि मालवीयजी चुने गये और वर्षों तक लगातार चुने जाते रहे।

× × ×

हिंदू विश्वविद्यालय

काशी का हिंदू विश्वविद्यालय मालवीयजी की अटूट आशावादिता एवं अथक परिश्रम का कीर्तिस्तंभ है। १६०४ ई० में स्व० काशी-नरेश की अध्यक्षता में एक सभा हुई थी जिसमें पहली बार मालवीयजी ने हिंदू विश्वविद्यालयकी आवश्यकता के सम्बन्ध में ब्योरेवार प्रस्ताव उपस्थित किया। प्रस्ताव का जनता ने स्वागत किया और सहानुभूति प्रगट की। अक्तूबर १६०५ ई० में प्रस्तावित हिंदू वि० वि० का एक विवरण-पत्र (प्रास्पेक्टस) छपवा कर मालवीय जी ने देश के प्रधान हिंदू नेताओं, विद्वानों एवं राजा महाराजाओं के पास भेजा। १६०५ की ३१ दिसम्बर को, कांग्रेस के

समय, काशी के टाउनहाल में एक बड़ी सभा इस प्रस्ताव पर विचार करने के लिए की गई। इसमें सब प्रान्तों के हिन्दुओं के प्रतिनिधि एवं सब धर्मों के अनुयायी एकत्र थे। सभा ने योजना के साथ सहानुभूति प्रकट की। १९०६ ई० सनातन धर्म महासभा ने भी, अपने प्रयाग-अधिवेशन में, इस योजना का समर्थन किया। पर उस समय प्रस्ताव प्रस्ताव ही रह गया; कार्यरूप में परिणत न किया जा सका। इतने बड़े कार्य के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता थी। मौखिक सहानुभूति से काम न चल सकता था।

इन्हीं दिनों श्रीमती बेसेण्ट ने सेण्ट्रल हिन्दू कालेज को बढ़ाकर 'यूनिवर्सिटी ऑव् इण्डिया' स्थापित करने का प्रस्ताव प्रकाशित किया। सन् १९०७ ई० में उन्होंने इसके लिए एक आवेदन पत्र, कई प्रभावशाली भारतीयों के हस्ताक्षर से, भारत-सरकार के पास 'रायल चार्टर' (राजकीय आज्ञापत्र) के लिए भेजा। उधर काशी का सनातन धर्म महामण्डल भी स्व० महाराज दर्भंगा के नेतृत्व में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव करने लगा।

इस प्रकार के अलग-अलग प्रयत्नों में लाभ न देख अप्रैल १९११ ई० में श्रीमती बेसेण्ट और मालवीय जी प्रयाग में मिले। यह निश्चय हुआ कि सेण्ट्रल हिन्दू कालेज हिन्दू विश्वविद्यालय में मिला लिया जाय; श्रीमती बेसेण्ट अपना प्रार्थनापत्र सरकार के पास से वापस मँगा लें और दोनों मिलकर विश्वविद्यालय के लिए काम करें।

इसके बाद एक प्रभावशाली डेपूटेशन (प्रतिनिधि-मण्डल) देश के मुख्य-मुख्य स्थानों में घूमा। इसमें बड़ी सफलता हुई। मालवीय जी के प्रयत्न से देश के अनेक नरेशों एवं नेताओं ने इस कार्य में धन एवं सम्मति से बड़ी सहायता की। महाराज दर्भंगा ने भी अलग विश्वविद्यालय स्थापित करने का विचार छोड़कर इसी के साथ सहयोग किया। इस प्रकार लगभग एक करोड़ रुपया एकत्र हो गया।

४ फ़रवरी १६१६ ई० को शुभ मुहूर्त्त में शास्त्रोक्त रीति से हिन्दू-विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। तात्कालिक वायसराय लार्ड हार्डिंज ने इसकी नींव रक्खी। उसी साल इसकी पहली परीक्षा हुई।

धार्मिक क्षेत्र

मालवीयजी में लड़कपन से ही धर्म की सेवा का ज़बर्दस्त भाव था। उनका स्वराज स्वधर्म से अलग नहीं; वस्तुतः उसी का अंग था। हिन्दू-समाज और हिन्दू धर्म के संस्कार एवं पुनर्निर्माण के लिए उनके हृदय में बड़ी विकलता थी। छात्रावस्था में ही इन्होंने प्रयाग में 'हिन्दू-समाज' नाम की संस्था खोली थी। बड़े होने पर सनातन धर्म महासभा में बड़े उत्साह से भाग लेने लगे। १६०६ का सनातन धर्म महासभा का शानदार प्रयाग अधिवेशन इन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था। हिन्दू महासभा और गो-सेवा-संघ एवं गो-रक्षा-सम्मेलनों के तो यह प्राण ही रहे थे।

स्वदेशी एवं औद्योगिक आंदोलन।

मालवीयजी स्वदेशी के आरंभ से ही भक्त थे। पर उनके मत से स्वदेशी का तात्पर्य केवल स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से ही पूरा नहीं हो जाता। भारतीय रहन-सहन, संस्कृति, सभ्यता, धर्म, शिक्षा सभी विषयों में मनुष्य को पूर्ण स्वदेशी होना चाहिए। वस्तुतः वह इन पिछली बातों को स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग से अधिक महत्व देते थे। इतने पर भी प्रत्येक औद्योगिक एवं स्वदेशी आंदोलन उनके आशीर्वाद एवं सहयोग से पवित्र एवं विकसित हुआ। जब देश में स्वदेशी का भाव जन्मा न था या जन्मा था तो थोड़े ही व्यक्तियों के दिमाग में था तब से वह इस दिशा में प्रयत्नशील थे। १८८१ ई० में ही इलाहाबाद में एक 'देशी तिजारत कम्पनी' खोली गई थी। स्वदेशी कारीगरी को प्रोत्साहन देना ही इसका उद्देश्य था। मालवीयजी इस कम्पनी के प्रधान स्तंभ थे। शुरू से ही वह लोगों को समझाते रहे कि अपने देश की बनी चीज़ प्राप्य होते हुए, चाहे वह कुछ भद्दी और महँगी हो,

विदेशी चीज़ खरीदना पाप है। स्वदेशी तो उनके लिए एक धार्मिक विश्वास-सा था। इस विषय में जितना काम उन्होंने किया है उतना किसी ने नहीं किया। १९३० के बाद तो इस दिशा में उन्होंने अभूतपूर्व प्रयत्न किया और सफलता पाई। अखिल भारतीय स्वदेशी-संघ इन्हीं के प्रयत्न का फल था। भारत के प्रायः सभी प्रधान नगरों में इसकी शाखाएँ थीं। और इस संघ के द्वारा बड़ा काम हुआ।

स्वदेशी के अतिरिक्त औद्योगिक शिक्षा एवं औद्योगिक आंदोलन के मालवीयजी दृढ़ समर्थक रहे। १९०५ में बनारस में जो भारतीय औद्योगिक सम्मेलन हुआ था और १९०७ में इलाहाबाद में युक्तप्रांतीय औद्योगिक संघ खुला उसके पीछे मालवीयजी का बड़ा हाथ था। 'प्रयाग शूगर कम्पनी' की स्थापना में इनका कम हाथ नहीं था।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है हिंदू धर्म एवं हिंदू संस्कृति के लिए मालवीयजी के मन में बड़ा गौरव था। ये उनके जीवन में ओतप्रोत थे। इसलिए हिन्दुओं की वर्तमान दशा से उनके हृदय में बड़ी पीड़ा होती थी। वह चाहते थे कि हिंदू फिर उसी पवित्र एवं धवल रूप में संसार के रंग-मञ्च पर आवें और जगत् को अपना दिव्य सदेश दें। इसीलिए समस्त हिन्दू जाति का संघटन करने के उद्देश्य से असहयोग-आंदोलन की समाप्ति के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने हिन्दू-संघटन का आंदोलन चलाया। देखते-देखते सारे देश में यह आंदोलन फैल गया और फल-स्वरूप हिंदू-महासभा की स्थापना हुई। सारे देश में उसकी शाखाएँ स्थापित हो गईं। वालण्टियरों—स्वयंसेवकों का 'महावीर-दल' बना। मुझे आज वे दिन याद आते हैं जब नवीन हिंदूमहासभा का प्रथम अधिवेशन काशी में, हिंदू कालेज (अब हिंदू स्कूल) के काशी-नरेश हाल में हुआ था। वह उत्साह फिर दिखाई न पड़ा। इस अधिवेशन में पारसी, बौद्ध, जैन, सिख सभी धर्मों के लोग शामिल हुए थे। उस दिन 'हिन्दू' शब्द का पहली बार व्यापक अर्थ किया गया अर्थात्—

हिंदू-संघटन

'भारत में स्थापित किसी धर्म का अनुयायी'। इस परिभाषा ने भारतीय संस्कृति की एकता का संदेश दिया था। क्या ही अच्छा होता जो इस आधार पर हिन्दू-जाति का संस्कार एवं निर्माण हुआ होता। पर हम देखते हैं कि कुछ ही दिनों बाद यह महान् आंदोलन राजनीतिक एवं साम्प्रदायिक झगड़ों में पड़कर अपना यह पवित्र पूर्व रूप खो बैठा और आज देश के अन्य साम्प्रदायिक संगठनों की भाँति हिन्दू महासभा भी जी रही है।

देशप्रेम की ज्वाला

देश के लिए सदा मालवीयजी ने अपने जीवन को तुच्छ समझा। इसके लिए उन्होंने सांसारिक सुख एवं धन-मान को तिनके की तरह छोड़ दिया। बीच-बीच में वह मत-भेद के कारण कांग्रेस से अलग हो गये पर कभी उन्होंने कांग्रेस पर आक्रमण नहीं किया। उसके प्रति उनके हृदय में अत्यधिक श्रद्धा और असीम अनुराग था। १९३० ई० में जब उन्होंने देखा कि सरकार इस संस्था को मटियामेट करने पर तुली हुई है तो उनका पैतृक स्नेह उमड़ आया और अपने मत-भेद को दूर फेंक उन्होंने अपने को उसकी गौरव-रक्षा के कार्य में उत्सर्ग कर दिया। तब से बराबर वह युवकों को लजानेवाले उत्साह एवं दृढ़ता से काम करते रहे। दो बार गिरफ़्तार होकर जेल गये। गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस की माँगों का उन्होंने ज़बर्दस्त समर्थन किया।

१९३२ और १९३३ के कांग्रेस अधिवेशन मालवीयजी के प्रयत्नों के ही फल-स्वरूप हो सके। इन दोनों बार वह कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये पर बीच में ही गिरफ़्तार हो गये। बाद में छोड़ दिये गये। उसके बाद भी वर्षों तक बराबर कांग्रेस-आंदोलन में वह अपना महत्वपूर्ण भाग अदा करते रहे पर उन्हीं दिनों उनका स्वास्थ्य कुछ ऐसा बिगड़ा कि क्रियात्मक रूप में वह आंदोलन का नेतृत्व फिर न कर सके और वर्षों की अस्वस्थता के बाद स्वतंत्रता की भूमिका बँधते ही १२ नवम्बर १९४६

को हमें सदा के लिए छोड़ गये।

निःसन्देह मालवीय जी का जीवन त्याग, पवित्रता, दृढ़ अध्यवसाय, लगन, परिश्रम और सेवा का ज्वलंत उदाहरण है।

—तीन—

जीवन की झाँकियाँ

यह मालवीयजी की अद्भुत वाग्मिता, उनकी भाषण-शक्ति थी जिसने पहली ही बार कांग्रेस-मंच पर इन्हें लोकप्रिय बना दिया। तब से अन्त तक मालवीयजी ने जो सफलता प्राप्त की है उसमें उनकी भाषण-शक्ति उनका प्रधान साधन रही। इस विषय में सब एक मत हैं कि उनके जैसा धाराप्रवाह बोलने एवं जन-रुचि को 'अपील' करनेवाला वक्ता कांग्रेस में दूसरा नहीं था। उनकी मृदु श्रवण-मधुर बोली और विषय को स्पष्ट करने का उनका ढंग अनोखा था। संस्कृत भाषा एवं साहित्य के ऊपर असाधारण अधिकार, इंग्लिश इतिहास एवं साहित्य का परिचय, जन-समाज की दशा का गहरा अध्ययन एवं वर्तमान आर्थिक समस्याओं की खोज इन सब विशेषताओं से उनके भाषण प्रकाशित थे। उनके भाषणों का प्रभावशील कोमल युवक-हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता था, इस विषय में बिहार के डा० सच्चिदानंद सिंह ने अपनी कुमारावस्था की एक घटना लिखी है। यह घटना कांग्रेस के १८८८ ई० के इलाहाबाद अधिवेशन की है, जिसमें वह शरीक हुए थे। वह लिखते हैं—

भाषण-शक्ति

"सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एवं कालीचरण बनर्जी (कलकत्ता, ई० नार्टन (मद्रास), फीरोजशाह मेहता एवं के० टी० तैलंग (बम्बई) जैसे अपने समय के भारत के सर्वश्रेष्ठ वक्ताओं की कुछ वक्तृताओं ने मेरे युवकोचित मन पर बड़ा प्रभाव डाला। मुझे सब असाधारण एवं आश्चर्यजनक प्रतीत होता था। किन्तु मालवीय जी के भाषणों ने मेरे दिल पर जो कभी न मिटनेवाला प्रभाव डाला वैसा किसी दूसरे का न पड़ा। मुझे आज भी याद है कि जबतक मालवीय जी उस विशाल समूह के सामने भाषण करते रहे मैं मुग्ध-सा, उसमें डूबा हुआ, आत्म-विस्मृत की भाँति चुप-चाप बैठा रहा। उनके भाषण में वाग्मिता के साथ मिठास एवं जीवन था। तब से दीर्घ-कालिक परिचय के बल पर मैं कह सकता हूँ कि यद्यपि भारत ने कतिपय बेजोड़ वक्ता एवं वादी (डिबेटर) पैदा किये किंतु मालवीयजी अपने क्षेत्र में एक ही हैं। वही एक वक्ता हैं जो श्रोताओं को अपनी भाषा की शक्ति एवं जोश से नहीं वरन् निपुणता, आश्चर्यजनक मृदुता, असाधारण आकर्षण—'चार्म'—एवं सरलतापूर्वक निकलती हुई वाग्धारा से प्रभावित करते हैं। ये सब बातें श्रोता के मन पर कुछ ऐसा प्रभाव डालती हैं कि उनमें विश्वास उत्पन्न हो जाता है।"

समयानुसार बोलने के ढंग में वह परिवर्तन भी करते रहते थे। वह जहाँ सिंह की भाँति 'दहाड़' सकते थे वहाँ कोयल की भाँति मधुर स्वर में 'कूक' भी सकते थे। उनके बोलने में एक अद्भुत मधुरता थी। वह सच्चे ब्राह्मण की मधुरता थी। श्री केलकर के शब्द मुझे याद आते हैं कि "उनका बोलना सोते से निकली हुई कल-कल रव करके बहनेवाली जलधारा के समान है जिसमें इतना मधुर शब्द होता है कि उसे सुनते ही जाने की इच्छा बनी रहती है।"

विशेषताएं

उनकी चमत्कृत वक्तृत्वशक्ति, उनकी मुहाविरेदार शैली, उसके अंदर कलाविद् की तरह प्रकाश एवं छाया ('लाइट' एवं 'शेड') का

अपूर्व संमिश्रण करने की उनकी शक्ति सच अद्भुत थी। वस्तुतः, जैसा कि श्री विनायक मेहता ने लिखा था, "यह 'व्यास' की सर्वोच्च कक्षा तक पहुँची हुई वाग्मिता है।" प्रत्येक महान् वक्ता में तीन बातें होनी चाहिएँ—श्रोता को ज्ञान देने (ऊँचा उठाने), भावमय कर देने एवं आनन्दमय कर देने की शक्ति। मालवीय जी में तीनों बातें अत्यधिक परिमाण में पाई जाती थीं।

वह एक सच्चे ब्राह्मण की तरह बोलते थे। उनकी वक्तृत्व शक्ति पर भी ब्राह्मणत्व की छाप थी। उसमें जो गुण थे वे भी ब्राह्मण के थे और

दोष

जो दोष थे वे भी ब्राह्मण के थे। जहाँ उनके वक्तृत्व में गुण थे वहाँ दो-एक दोष भी थे। एक तो यह कि वह समय एवं साधन का ठीक अनुपात नहीं लगा सकते थे। बोलने लगे तो बोलने ही लगे। सरिता की धारा की भाँति फिर उसका रुकना मुश्किल ही होता था। ५ या १० मिनट में उनको भाषण खत्म करना हो तो बोल नहीं सकते थे—बोलते तो उनकी मर्यादा के अनुसार वह न बोलने के समान ही होता। भाषा पर उनका अधिकार तो असाधारण था पर वह जहाँ निर्माण कर सकते थे वहाँ उसे बंधन में नहीं रख सकते थे। ज़बान पर 'डिप्लोमेट' का वह काबू नहीं था जो मौक़ा देखकर ज़बान का उपयोग करता है; दिल में जो कुछ है उसको सबका सब ज़बान पर नहीं आने देता। मालवीयजी का यंत्र पर—ज़बान पर इतना अधिकार तो था कि वह उसे सर्वोत्तम शब्द एवं भाव-सृष्टि का साधन बना सकते थे पर यंत्र को जितनी आसानी से चला सकते थे उतनी ही शीघ्रता से उसकी गति को रोक नहीं सकते थे। हाँ, इतना अवश्य है कि उसकी गति को वह जिस दिशा में चाहें मोड़ सकते थे। इसीलिए उनके भाषणों में बहुत अधिक विविधता मिलती है। काम-काजी एवं बिलकुल व्यावहारिक राजनीतिज्ञ को उनके लम्बे भाषण सुनना अच्छा नहीं लग सकता। असल में वह जन-समूह के लिए थे। कानपुर कांग्रेस

में जब मालवीय जी बोलने खड़े हुए तो स्व० पं० मोतीलालजी ने मुस्कराते हुए कहा—"निश्चिन्त होकर बैठो; पण्डितजी का महाभारत शुरू होता है।" यद्यपि यह मोतीलालजी का व्यंग था किन्तु इस 'रिमार्क' में, इस उक्ति में मालवीयजी के भाषण के गुण-दोष दोनों की आलोचना आ जाती है। महाभारत की भाँति ही उनके भाषण में शब्द-सौष्ठव, विचित्रता, विस्तार एवं 'व्यासत्व' होता था।

इसमें संदेह नहीं कि उनकी वाणी श्रोता को भावमय कर देती थी—इसे कोई माई का लाल, जिसने उनका भाषण सुना है, इन्कार नहीं कर सकता। वह आपको उड़ा ले जाती; आप उसमें मग्न हो जाते और बोली के सौन्दर्य तथा आरोह-अवरोह से प्रभावित होते थे। उनकी वाणी की एक विशेषता यह भी थी और यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उनके सार्वजनिक या व्यक्तिगत किसी भी व्याख्यान में किसी व्यक्ति पर आक्षेप नहीं होता था।

× × ×

मालवीयजी का जीवन स्थायी देश-भक्ति का एक उज्ज्वल उदाहरण है। लगातार ५० वर्ष तक जनता की सेवा करने वाले कम ही भारतीय होंगे। भारत के लिए माता वसन्त की सेवाएँ अमूल्य हैं पर केवल एक बार ही वह राजनीति को लेकर सर्वसाधारण के सामने आईं। भारत की आधुनिक जागृति के इतिहास में, इस व्यक्ति का धवल सेवामय जीवन चमक रहा है। सभाओं में, कांग्रेस में, कौंसिलों में उनकी सेवा की प्रतिध्वनि मानो आज भी गूँज रही है। अनेक जनहित-

देशभक्ति

* "One standing feature of his speech, public or private, is that it never contains any 'personalities', any dispraise of another person, except when some conduct of his in public affairs has got to be candemned on public grounds, and even then very rarely." ...Bhagvan Das.

कर कार्यों के लिए वह लड़े। एक ज़माना था, जब एक कोने से दूसरे कोने तक भारतवर्ष में मालवीयजी ही मालवीयजी थे। वे दिन याद आते हैं; वे लड़कपन के दिन! जब हिन्दी के 'देश-प्रेमी'—राष्ट्रीय होते भी राष्ट्रीय हो न सके—कवि मैथिलीशरण ने—

'कहते हैं मालवी जी हम होमरूल लेंगे
दीवाने हो गये हैं, गूलर से फूल लेंगे!'

का जवाब देकर एवं भावी नरकैंकों के द्वारा गूलर से फूल पैदा करके अपनी वाणी को पवित्र किया था।

उसके बाद समय ने पलटा खाया। नागपुर कांग्रेस एवं उसके बाद के असहयोग एवं स्वराज-आंदोलन ने कई शक्तिमान व्यक्ति देश के सामने रखे। जन-हृदय का भाव-सागर अपने ज्वार के साथ गांधी, मोती, जवाहर और देशबंधु जैसी अमूल्य मणियाँ हमारे आगे छोड़ गया। इनका मूल्य आँकना और तुलना करना हास्यास्पद है। इस परिवर्तन-काल में अनेक पुराने नेता, जिनकी सेवा हमसे उनके सामने आदरपूर्वक झुकने का तकाज़ा करती थी, शून्य में पड़ गये। एक समय बंगाल के एकछत्र नेता एवं मञ्च के वीर सुरेंद्रनाथ एवं विपिनहाल, यहाँ तक कि 'गरमों में गरम' लालाजी तक पीछे छूट गये—जनता ने उन्हें भुला दिया। पर भारत के राजनीतिक इतिहास में केवल मालवीयजी एक ऐसे

आश्चर्यजनक सत्य

पुराने नेता हुए जो आदि से अन्त तक जनता के आदर-भाजन रहे। मत-भेद हुए; पार्टियाँ बनीं पर जन-हृदय में उनके लिए सदा वही आदर बना रहा। भारत के राज-नीतिक इतिहास में यह एक आश्चर्य की घटना है। आश्चर्य की घटना इसलिए भी कि मालवीयजी का अपना कोई सुसंगठित दल नहीं था;

उनका कोई निश्चित अनुसरण नहीं था। यह ठीक है कि असेम्बली में, वह एक छोटे-से दल के नेता थे पर वह दल भी संगठन का कोई अच्छा उदाहरण कभी न रहा। मालवीयजी सामूहिक अनुशासन का पालन कर नहीं पाते थे, स्वयं शायद थोड़ा-बहुत कर भी पावें पर दूसरों से नहीं करा सकते थे। उनके हृदय की कोमलता इसमें बाधक थी। इसीलिए मैं कहता हूँ कि इतना होते हुए भी मालवीयजी का जनता में जो आदर था वह कभी कम नहीं हुआ, यह एक आश्चर्य की घटना है।

देश के लिए उन्होंने क्या त्याग नहीं किया? धर्म को छोड़ सब कुछ भेंट चढ़ा दिया। यह सच है कि वह कट्टर सनातनी थे और अपनी कट्टरता को महत्व की चीज़—धर्म की स्पिरिट—मानकर चलते थे। इसीलिए १९३० तक, इतनी लम्बी सेवा के बीच कभी उन्होंने समुद्र की यात्रा न की; कभी बड़ी-बड़ी पार्टियों में क्रियात्मक रूप में शरीक न हुए। हमारा मतभेद हो सकता है पर यह मानना पड़ेगा कि अपनी कट्टरता में वह बहुत सच्चे—'सिंसियर'—थे। लोग इसकी हँसी उड़ा सकते हैं—उड़ाते रहे हैं पर जिसे उन्होंने ठीक समझा उससे वह कभी न डिगे। इस कट्टरता में भी उनकी सच्चाई, उनकी दृढ़ता स्पष्ट होकर बोलती है।

वह समय भी आया जब देश के लिए, कांग्रेस को कुचली जाती देखकर—और उससे भी अधिक माँओं, बहनों और बेटियों के साथ होनेवाले अनुचित व्यवहार से, उनका हृदय पसीज गया। स्वास्थ्य खराब था पर उनसे देखा नहीं गया और फल-स्वरूप १९३० ई० में बम्बई में क़ानून तोड़कर वह जेल गये। किसी व्यक्ति के, उनकी इच्छा के विरुद्ध, जुर्माना जमा करने पर छोड़ दिये गये पर दिल्ली में कांग्रेस-कार्यकारिणी की ग़ैरक़ानूनी बैठक में शामिल होने के कारण फिर गिरफ़्तार एवं दण्डित हुए।

वह दृश्य

बम्बई में उनकी तथा वल्लभभाई इत्यादि अन्य नेताओं की गिरफ़्तारी का वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। उस समय भाग्य-वश मैं वहीं था। आकाश में घटाएँ घिर रही थीं। जुलूस चौपाटी से—लोकमान्य के स्मारक से—निकला। धोबीतलाव तक पहुँचते-पहुँचते ज़ोर से बूँदें पड़ने लगीं। रास्ता नर-नारियों की भीड़ से भरा पड़ा था। बड़े ही अनुशासन एवं क़ायदे से तीन-तीन की कतार में जुलूस जा रहा था। इसमें वे ही लोग रखे गये थे जो सब प्रकार की घटना के लिए तैयार थे। रास्ते में प्रत्येक वार्ड का स्वयंसेवक-दल आ-आकर मिलता गया। पानी गिर रहा था; बहुतों के पास छाते भी थे पर अनुशासन ऐसा ज़बर्दस्त था कि लोग वह भी नहीं लगाते थे। बहनें आगे थीं। श्रीमती हंसा मेहता जुलूस का नेतृत्व कर रही थीं। क्रुकशैंक रोड पर, हार्नबीरोड की क्रासिङ्ग पर, हथियारबन्द पुलिस के दस्ते ने जुलूस रोक दिया। लोग ज़मीन पर बैठ गये। रामधुन लग गई। ऊपर से पानी बरसता था लेकिन लोग खुशी से उछल रहे थे। यह दृश्य देखकर, विशेषतः बहनों के साहस से, मालवीयजी पर वह असर हुआ जो कभी न हुआ। बहनों ने वह काम करा लिया जिसे उनकी युगों की सेवा न करा सकी थी। उन्होंने भी यज्ञ में अपनी आहुति दे दी।

संधि हुई; आंदोलन बंद हुआ। कैदी छोड़े गये। कांग्रेस का गोलमेज़ सम्मेलन में स्वागत किया गया। मालवीयजी भी अपनी प्रियतम रूढ़ि को तोड़कर लंदन गये। इंगलैंड जाने से पूर्व मालवीयजी का स्वास्थ्य बहुत खराब था। विदाई के पहले की एक घटना का ज़िक्र मुंशी ईश्वरशरण ने किया है जिससे मालवीयजी की देश-भक्ति पर प्रकाश पड़ता है। वह लिखते हैं—'इंगलैंड जाने के पहले हम दोनों—वह और मैं—प्रयाग के मैकडानल हिंदू बोर्डिंग हाउस में, × × जो उनका ही स्थापित किया हुआ है, जा रहे थे। मैंने पूछा, आपकी तबियत कैसी है?

उन्होंने जवाब दिया—"मैं खाई में पड़ गया हूँ और उससे बाहर निकलने में असमर्थ हूँ। किंतु यह शरीर तो मातृभूमि का ही दिया हुआ है और इसमें क्या, चाहे माता की सेवा में इंगलैंड में इसकी मृत्यु हो या यहाँ।" कैसी प्रगाढ़ देश-भक्ति है। सब

शरीर माता का है !

लोग इस बात को नहीं समझ सकते कि जेल-गमन एवं समुद्र पार कर इंगलैण्ड जाना मालवीयजी के लिए कितना बड़ा त्याग था! जो उन्हें, उनके जीवन की कट्टरता एवं प्रिय भावनाओं को जानते हैं वही इस त्याग की गंभीरता समझ सकते हैं। यह नहीं कि देश के लिए जेल जाने एवं इंगलैंड की यात्रा करने में उन्हें कोई महान् शारीरिक कष्ट था; शारीरिक कष्टों की तो उन्होंने परवा न की पर जिस बात को उन्होंने ५० वर्ष के सेवा-मय जीवन में निबाहा उस कट्टरता को देश के लिए, तिनके के समान, एक मिनट में छोड़ दिया। जो व्यक्ति कुछ ही वर्ष पहले अपने पुत्र श्री गोविंद के जेल जाने पर, मुक्ति के पश्चात्, उनसे प्रायश्चित्त कराने से नहीं चूका, और जिसने जातीय रूढ़ि का निष्ठुर बंधन तोड़ने के कारण अपनी पुत्रवधू उषा को उसके पिता के यहाँ भेजने में भी हिचकिचाहट दिखाई थी, उसने देश के लिए वह भी किया जो प्रिय से प्रिय व्यक्ति और वस्तु के लिए नहीं किया था। दूसरी बात यह कि अपनी जीवन प्रणाली के लिए मालवीयजी के हृदय में एक प्रकार का सूक्ष्म गौरव का भाव था। वही एक नेता थे जो जनता में, सरकार में और रजवाड़ों में समान रूप से आदृत रहे। कितने ही राजे-महाराजे उन्हें गुरु-तुल्य श्रद्धा करते थे। कई बार उन्होंने खुल्लमखुल्ला १४४ की धारा तोड़ी और सरकारी कानून का भंग किया पर सरकार ने इस दिव्य-धवल ब्राह्मण नेता के ऊपर हाथ नहीं लगाया। जब पहली बार १९३० ई० में वह जेल गये तो यद्यपि सब नेताओं से अधिक स्थान और सुविधाएँ जेल में मालवीय जी को ही दी गई थीं पर उनके ऊपर जीवन की इस आश्चर्य-जनक घटना का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा था। जैसे उनके पिछले जीवन का सारा

'रेकर्ड', उनका सार्वत्रिक आदर एवं उनकी लम्बी सेवा सब उन्हीं से प्रश्न कर रहे हों कि 'यह कैसे हुआ ?' और 'क्या यह संभव है ?'

उनके उत्तर जीवन को देखिए। वह पहले से बहुत बदल गये थे। मानो मातृ-भूमि के चरणों में उन्होंने शरीर, मन एवं अन्तःकरण के साथ पूर्ण आत्मार्पण किया हो। जब उनके शरीर पर कपड़े न होते थे तो उन्हें देख दिल काँप जाता था ! हड्डी-हड्डी गिन सकते थे। रात के सोने के चंद घण्टों को छोड़ कभी खाली न रहते। कांग्रेस की, स्वदेशी आन्दोलन की, हिन्दू विश्वविद्यालय की, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की, अछूतों की तथा अनेक सभाओं संस्थाओं एवं व्यक्तियों की समस्याएँ अपने कन्धे पर उन्होंने उठा रखी थीं। सितम्बर १६३२ ई० में महात्मा जी के उपवास के समय हरिजनों को समस्या निबटाने में उन्होंने जो परिश्रम और जो दौड़-धूप की, उसका बहुत थोड़ा अंश जनता को मालूम है। मुख्यतः यह उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि इतनी जल्दी ऐसा सुन्दर समझौता हो गया। वहीं उनका स्वास्थ्य इतना खराब हो गया था कि डाक्टरों ने पूर्ण विश्राम की सलाह दी पर जातिगत ऐक्य के लिए जरा भी संभावना होते ही वह पंजाब चले गये। वहाँसे फिर बंगाल और फिर युक्तप्रांत ! इलाहाबाद के ऐक्य सम्मेलन में दिन-रात १६-१६, २०-२० घण्टे का परिश्रम और फिर उससे छुट्टी पाते ही केरल जाकर हरिजनों के मन्दिरप्रवेश की समस्या सुलझाने की इच्छा! कांग्रेस का अधिवेशन करने के उनके उत्साह और कलकत्ता कांग्रेस के बारे में उनकी सेवा से सब परिचित हैं। वह दिन-दिन उग्र होते जा रहे थे। इस विद्यावयोवृद्ध ब्राह्मण ने अपने लिए कभी चिन्ता न की ! वह सदा जाति के, देश के हित की ही चिन्ता करते। सर एम० विश्वेश्वरैया ने ठीक ही लिखा है--"एक आदरास्पद और प्रेमयोग्य व्यक्तित्व रखनेवाले, एक कट्टर हिन्दू और एक महान् भारतीय--जो कुछ वह सोचते हैं, जो

कुछ करते हैं, अपनी जाति एवं देश के हित के लिए ही करते हैं।"*

नि:सन्देह देश के लिए उनका यह आत्म-त्याग अद्भुत है।

× × ×

त्याग एवं तपस्यामय जीवन की झलक

मालवीय जी का जीवन आरम्भ से ही त्याग और तपस्या का जीवन था। उनके जीवन में ब्राह्मण की अद्भुत सात्विकता थी। जैसा कि अलकाफिर ने लिखा है—'निर्दोष जीवन का उज्ज्वल वस्त्र पहने इस अनित्य एवं परिवर्तन-शील के बीच खड़े हुए वह वस्तु के स्थायित्व की ओर इशारा करते हैं।..............सादा जीवन और, उनका ब्राह्मण-वाद जहाँ तक उन्हें जाने दे वहाँतक, ऊँचे विचार; मादकद्रव्य नहीं,—मांस नहीं, वासना-रंजन नहीं, शरीर की प्यास के लिए कोई घूँट नहीं—वह राम के युग के एक गौरवपूर्ण यादगार हैं।'

अधिकांश नेताओं का जीवन नैतिक दृष्टि से बड़ी डावाँडोल परि-स्थितियों में बीता है। लोगों के विषय में तरह-तरह की बातें भी कही जाती हैं। उनमें बहुतेरी निस्सन्देह कल्पित होती हैं पर उनका कुछ आधार होता है। इन सब के बीच मालवीय जी यौवनकाल से लेकर अन्त तक पवित्रता की मूर्ति की भाँति अटल हैं। उनके जीवन में कोई प्रेम-कथा नहीं, कोई एडवेंचर नहीं। राग रंग किसी बात का उन्हें शौक नहीं। शुरू से अन्त तक एक सात्विक रेखा उनके समतल जीवन में चली गई है। उनकी पवित्रता पर कभी किसी ने प्रश्न नहीं किया। किसी की उँगली, इस विषय में, उनके ऊपर नहीं उठी। ब्राह्मणत्व के गौरव एवं ब्राह्मणत्व की कट्टरता दोनों ने इस विषय में उनकी रक्षा की। जिस रूप में जीवन के पूर्व भाग में वह दिखाई पड़े थे, वही

---

* "A noble and lovable personality, a staunch Hindu and a great Indian, all he thinks of, all he works for, are the interests of his community and country."

—From Sir M. Visvesvarayya's Personal Reminiscences in Malviya Commemoration Vol.

अन्त तक बना रहा। वही साफ़ा, अँगरखा, वही माथे की बिन्दी, सब कुछ वही,—अवस्था ने रूप में जो भी परिवर्तन कर दिया हो।

जो लोग उनके सम्पर्क में आये हैं उन्हें उनके दैनिक जीवन में ही त्याग के अनेक दृष्टान्त मिले हैं। नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापक पं० रामनारायण मिश्र ने अपने व्यक्तिगत अनुभव लिखे हैं। एक घटना का जिक्र करते हुए वह लिखते हैं—

एक घटना

"दिसम्बर १९०५ ई० में कांग्रेस बनारस में हुई थी। उसके साथ ही 'सोशल कान्फ्रेंस' (सामाजिक सम्मेलन) का भी अधिवेशन हुआ था। कान्फ्रेंस के लिए सब प्रबन्ध हो गया था। बम्बई हाईकोर्ट के जज सर नारायन चंदावरकर सोशल कान्फ्रेंस के प्रधान मन्त्री थे। उनके ठहराने का भार स्व० राजा मुंशी माधवलाल ने अपने ऊपर लिया था। एक दिन शाम को तार मिला कि वे बड़े सवेरे ही काशी पहुँचेंगे। कांग्रेस राजघाट के किले पर हुई थी। वहीं राजा माधवलाल का खेमा था। मैं रात को उनके यहाँ पहुँचा। उनसे भेंट नहीं हुई। घबराया हुआ मैं उनके लहुराबीरवाले बगीचे पहुँचा; वहाँ भी वे न मिले। वहाँ कांग्रेस के मनोनीत सभापति श्री गोखले ठहरे थे। मैं उनसे मिला और मैंने प्रार्थना की कि वे सर चंद्रावरकर को अपने यहाँ ठहरा लें। उन्होंने कहा—सर नारायण के लिए पूरा मकान चाहिए। वे महादेव (रानडे) की तरह नहीं हैं कि किसी के साथ थोड़ी जगह में भी निर्वाह कर लें।' बिना कुछ प्रबन्ध किये ही ईश्वर पर भरोसा कर मैं सवेरे तीन बजे काशी स्टेशन पर पहुँचा। मैं बड़ा व्याकुल था कि क्या करूँ। रेल आगई पर संयोग से सर नारायण न आये। वे मुगलसराय में रहगये और उन्होंने अपने नौकरों से कहला भेजा कि मैं दूसरी रेल से, जो ३-४ घण्टा बाद काशी आने वाली थी, आऊँगा। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया और ५ बजे राजा माधवलाल के खीमे में गया। दिसम्बर के जाड़े का सवेरा था। मालूम हुआ कि वे अभी सो रहे हैं। पीछे की तरफ एक खीमे में श्री

मालवीय जी दिखाई दिये। वे शौचादि से उसी समय निवृत्त हुए थे मुझे देखते ही उन्होंने कहा कि इतने सवेरे कहाँ आये? मैंने अपनी कठिनाई बताई; वे हँस कर बोले—"सर नारायण को इसी खेमे में ले आओ।" यह कहते ही वे खड़े हो गये और उन्होंने नौकर से कहा—'असबाब सब सामने पेड़ के नीचे ले चलो।' मैंने उनसे प्रार्थना की कि ऐसा न करें; कहीं न कहीं बंदोबस्त हो जायगा। परन्तु उन्होंने न माना; स्वयं भी असबाब उठाकर बाहर रखना शुरू कर दिया। और मुझसे कहा कि जाओ स्टेशन से उन्हें ले आओ। रेल का समय निकट था। मैं सर नारायण को थोड़ी ही देर में ले आया। वे उसी खेमे में ठहर गये। दूर के दो पेड़ के नीचे परदा लगाकर श्री मालवीयजी ने अपना प्रबन्ध कर लिया। दिन चढ़ने पर बहुत से लोगों ने मालवीयजी को उस पेड़ के नीचे देखा।"

घटना बहुत छोटी है पर उसका महत्व बहुत बड़ा है। ऐसी छोटी और दैनिक जीवन की बातों में ही मनुष्य का असली रूप चमकता है।

मालवीयजी का ज्ञान तप से पवित्र, कर्ममय जीवन त्याग-द्वारा उज्ज्वल था। बाह्य जगत् से सामञ्जस्य स्थापित कर उन्होंने अद्भुत मानसिक शान्ति अर्जित की थी।*

यह उनका त्याग एवं तपस्यामय पवित्र जीवन ही है जिसके विरुद्ध कोई उँगली नहीं उठा सकता। यदि हम उनके व्यक्तिगत जीवन पर से परदा उठा दें तो कहीं एक धब्बा न दिखाई देगा; इस विषय में अनावृत—नंगे—स्वर्ग की भाँति वह पवित्र हैं। यह एक बहुत बड़ी सिद्धि है। हिन्दू में इसके न होने का मतलब कुछ न होना

* "Knowledge chastened by *tapas*, life of action ennobled by *tyaga*, mental peace secured by establishing harmony with the out side, and polity involving maximisation of liberty for the individual to work-out his own salvatoion—these are the elements from which is forged the 'open sesame' to the 'cave' of spiritual content."
—V. N. Mehta.

है।× इसमें सन्देह नहीं कि मालवीयजी का जीवन सादगी एवं तपस्या का एक पवित्र उदाहरण था।

"मुझे जिस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया वह उनकी नम्रता ......है"—आज से कई वर्ष पहले की भेंट का जिक्र करते हुए मैसूर के दीवान सर मिर्जा महम्मद इस्माइल ने लिखा था। मालवीयजी से मिलिए तो आप उन्हें नम्रता की मूर्ति पायँगे। इस व्यक्ति में ऊपर से नीचे तक हृदय ही हृदय था। शायद ही उन्होंने अपने जीवन में किसी को कोई कटु, चुभनेवाली बात कही हो। वह स्वयं सह लेते पर दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते थे। तीव्र मतभेद के बीच भी उनका प्रेम बना रहता था। जैसा कि ईश्वर शरण ने लिखा है—"मालवीयजी से अधिक सहिष्णु कोई नहीं है।" बात करने पर गुरुजनों के वात्सल्य का अनुभव होता था। छोटे से छोटे आदमियों का वह खयाल रखते थे। मुंशी ईश्वरशरण ने इस सम्बन्ध में एक घटना का जिक्र किया है—"जब वह वकालत करते थे तब मेरा और उनका—दोनों के आफिस एक ही मकान में थे। इससे मेरे क्लर्क के साथ उनका परिचय हो गया। एक बार उन्होंने किसी त्योहार पर मुझे भोजन के लिए निमंत्रित किया। जब मैं उनके घर पहुँचा तो इन्होंने पूछा कि 'आपके क्लर्क कब आयँगे?' मैंने कहा कि उनको तो बुलाया नहीं गया था। मालवीय जी को बहुत दुःख हुआ और वह बड़े निराश हो गये। उन्होंने क्लर्क को भी निमन्त्रण देने का सोचा था पर भूल गये। दो बार उन्होंने इसके लिए मुझसे दुःख और निराशा प्रकट की और जब दूसरे दिन आफिस आये तो मेरे क्लर्क से

नम्रता एवं कोमलता की मूर्ति

× "The ancient ethics inculcated sexual purity as the supreme virtue. And we do not find a breath of suspicion against Pt. Malviya. Strip his private life bare and reputation has it, you will find him free from stain, pure as the naked heavens. All things considered, it is a great achievement. For the Hindus lacking that one lacks all." —Al—Kafir.

बड़ी क्षमा माँगी।"

वह एक चींटी को कष्ट नहीं दे सकते थे, आदमी की तो बात क्या ? सार्वजनिक हित के लिए भी किसी की आलोचना करना उनके लिए एक कष्टप्रद कार्य था।

× × ×

नम्रता और दया का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरी नहीं हो सकती। वस्तुतः नम्रता से ही दया एवं करुणा की उत्पत्ति होती है। उनके दया-भाव के विषय में अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। जो लोग उन्हें लड़कपन से जानते थे उन सबका मत है कि उनका हृदय बड़ा कोमल था। किसी प्राणी को जरा भी दुःख में देखते ही वह विकल हो जाते थे। वैद्य श्रीशिवरामजी से उनकी घनिष्ठता थी। वह लिखते हैं—"एक बार मदनमोहन बिजली की तरह मेरे घर आ धमके। वे बहुत जल्दी में थे। बोले—'एक कुत्ते के कान के पास, कान ही से मिला हुआ, एक बड़ा घाव है। घाव में कीड़े पड़ गये हैं। वह उस तरफ़ का शिरोभाग और कान लटकाये हुए भागता रहता है। उसकी दवा बताइए।' मैंने एक अंग्रेजी दवा तजवीज़ की और इस सम्बन्ध में सलाह के निमित्त डाक्टर अविनाश के यहाँ गया। उनसे सारा हाल कहा। अविनाश हँस पड़े। बोले—'आपकी तजवीज़ की हुई दवा ठीक है।' मदनमोहन मेरे यहाँ से होकर दौड़े हुए कुत्ते के पास गये। उनके साथ बहुत-से स्कूली लड़के भी थे। कुत्ता मक्खियों के डर से टट्टर की आड़ में दुखी होकर बैठा था। मदनमोहन ने एक बाँस में कपड़ा लपेटकर उसे दवा से तर किया और दूर से कुत्ते के घाव में लगाना शुरू किया। कुत्ता भयंकर स्वर से गुर्राता और भूँकता था। वह दवा लगानेवाले को डराकर भगा देना चाहता था पर मदनमोहन अपनी धुन के पक्के थे। वे चुपचाप दवा लगाते जाते थे। दवा लगाने के बाद कुत्ते को आराम मिला और चिल्लाता

दया-भाव

हुआ कुत्ता थोड़ी देर में आराम से सोने लगा। ऐसा दुखी कुत्ता पागलपन की अवस्था में रहता है।"

"मदनमोहन का स्वदेशी प्रेम बहुत पुराना है। उन्होंने प्रयत्न करके उन दिनों देशी तिजारत कम्पनी खुलवाई थी। एक दिन मेरे पास आये। स्वदेशी की बात चली। मालूम हुआ कि उनके हिंसा-विरोधी हृदय को एक नया आघात पहुँचा है। मदनमोहन ने कहा—"जूतों के कारण लाखों दीन एवं बेगुनाह पशुओं की जान जाती हैं। चमड़े के लिए असंख्य पशुओं के मारे जाने का तरीका डाक्टर जयकृष्ण ने मुझे बताया है। उनकी बातें सुनकर मुझे बड़ा दुःख हो रहा है और मेरे मन में यही चिन्ता हो रही कि किस प्रकार इन ग़रीब पशुओं के जीवन की रक्षा की जाय?"

× × ×

माधुर्य और सज्जनता

मालवीयजी की मृदुता और सज्जनता सबको वश में कर लेती थी। रात-दिन उनका द्वार लोगों के लिए खुला रहता था। जब वह बीमार पड़ जाते और डाक्टरों का आदेश होता कि कोई उनसे नहीं मिल सकता उस समय भी यदि कोई उनसे मिलने आता और उन्हें मालूम हो जाता तो वह उससे मिलने पर बहुत जोर देते। एक बार जब मालवीयजी हिन्दू यूनिवर्सिटी के अपने बंगले में थे, तब उनके पुत्र श्री गोविंद ने उनसे आकर शिकायत की कि सब तरह के आदमी बिना बुलाये कमरे के अन्दर आ जाते हैं और कभी-कभी तो टेबुल पर पड़ी चिट्ठियों को भी पढ़ते हैं। मालवीयजी ने धीरे से कहा कि बेचारे कायदा नहीं जानते पर उनका मतलब कष्ट देने का नहीं होता। गोविंद ने, युवकोचित उत्साह के साथ, कहा कि मैं अब इस ढंग को बन्द करने का उपाय करता हूं। मालवीयजी ने तुरंत उत्तर दिया—शान्त पर दृढ़ता के साथ —"जब तक मैं इस मकान में हूँ ये गरीब आदमी बिना किसी रुकावट के आते रहेंगे।"

दूसरों की भावनाओं के लिए मालवीयजी के हृदय में जो आदर का

भाव था, जो सदिच्छा थी वह उनकी अनियमितता के मुख्य कारणों में से एक थी। श्रीईश्वरशरण लिखते हैं—"मैंने देखा है कि वे कहीं काम से, किसी से मिलने के लिए तैयार हो रहे हैं कि कोई किसी काम से या केवल दर्शन के लिए ही आ जाता है। वे आगन्तुक को, संकेत से, अपने जरूरी काम की ओर उस समय क्षमा करने की सूचना दे देते हैं किन्तु यदि आगन्तुक इतना समझदार या उदार न निकला और अड़ा रहा तो समझ लीजिए कि मालवीयजी उसकी दया पर निर्भर करते हैं; वह उसे लौट जाने को कह नहीं सकते।"

× × +

महात्माजी को छोड़ हमारे देश के नेताओं में मालवीयजी से अधिक आशावादी शायद ही कोई रहा हो। हिन्दू विश्वविद्यालय उन्हीं के महान् आशावाद का एक ज्वलंत एवं जीवित स्मारक है। जब उसकी योजना उन्होंने बनाई तो ज्यादातर लोग यह समझते थे कि यह शेखचिल्ली की कल्पना है और पण्डितजी के उर्वर-मस्तिष्क में ही रह जायगी।

महान् आशावादी

किन्तु इन निराशाओं के बीच उनकी आशा, उनके दृढ़ अध्यवसाय का सहारा लिये, आज एक सत्य के रूप में खड़ी है। उनकी लगन में अद्भुत बल था। वह एक धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष थे इसलिए जिस काम में उनका दिल लग जाता उसके लिए उनमें एक धार्मिक कट्टरता, एक पवित्र पागलपन आ जाता था।

एक बार की बात है कि जब लार्ड मिण्टो भारत के वायसराय थे, मालवीयजी उनसे मिले और बिना मित्रों की सलाह लिये ही उनसे प्रयाग में यमुना के किनारे एक बाग का उद्‌घाटन करने का अनुरोध किया जिसका नाम वायसराय के ही नाम पर रखा जाने वाला था। लार्ड मिण्टो ने स्वीकार कर लिया। जब गोखले को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने तुरन्त मालवीयजी से कहा—"पण्डितजी, आपने यह क्या किया? आपके पास रुपया नहीं है और आपने वायसराय से दिन निश्चित

कर लिया। अब ज्यादा समय भी नहीं है। कृपया कौंसिल (उस समय सुप्रीम कौंसिल का अधिवेशन हो रहा था) का काम छोड़ कर जाइए और रुपया एकत्र कीजिए। यदि समय पर धन एकत्र न हुआ और आपका अपमान हुआ तो बस हम सब लोगों का अपमान होगा" गोखले ने सच्चे मित्र की नाईं चिन्ता प्रकट की; मालवीयजी ने उसे समझा पर हँसते हुए कहा—"धन्यवाद है। पर इसके लिए चिन्ता न कीजिए। रुपया आ जायगा; इस चन्दे के लिए मैं कहीं न जाऊँगा। मेरे पत्र रुपया लावेंगे।" वह कहीं न गये; उनके पत्रों से ही समय पर रुपये आ गये और निश्चित तिथि को शिलान्यास हुआ। निरन्तर प्राप्त होने वाली सफलता ने उनकी आशावादिता को और बढ़ा दिया था।

१६३१ ई० के आरम्भ में जब कांग्रेस एवं सरकार के बीच समझौता हुआ और महात्माजी गोलमेज कांनफ्रेंस में जाने के पूर्व वायसराय से मिले तब भी मालवीयजी की आशावादिता का ज़बर्दस्त प्रमाण मिला था। अन्तिम समय में जब वह सब तैयारी कर चुके थे और विलायत जाने के लिए बम्बई पहुँच गये थे तब महात्माजी एवं सरकार के बीच कुछ बातें तै न पाने के कारण ऐसा मालूम होने लगा था कि कांग्रेस गोलमेज़ सम्मेलन में भाग न ले सकेगी। बातचीत अब टूटी, अब टूटी, यह हो रहा था पर मालवीयजी को सफलता में इतना विश्वास था कि गाँधी जी के रुक जाने से जब वह बम्बई से उत्तर की ओर आये तो सारा समान पैक कराके बम्बई में ही यह कहकर छोड़ आये कि अभी तो यहाँ लौट कर आना ही है। वही हुआ। जो असम्भव दिखता था वह सम्भव हो गया और मालवीयजी महात्माजी के साथ समय पर जहाज़ से रवाना हो सके।

मालवीयजी की अनियमितता का एक कारण जहाँ दूसरों की भावनाओं के प्रति उनकी सदिच्छा एवं आदर था वहाँ दूसरा ज़बर्दस्त कारण उनकी आशावादिता थी। अपने अद्भुत मानसिक प्रयत्नों-द्वारा उन्होंने

अपने अन्दर यह दृढ़ विश्वास पैदा कर लिया था कि जिस काम को दूसरे एक घण्टे में पूरा करेंगे उसे मैं पन्द्रह मिनट में ही कर लूँगा। फल यह होता था कि ४५ मिनट यदि किसी समय ज़्यादा भी हो जायँ या बीत भी जायँ तो उनकी आशा ज्यों की त्यों बनी रहती थी। उनके दैनिक जीवन में यह दृढ़ आशावादिता और यह अनियमितता कुछ ऐसे विचित्र ढंग पर पाई जाती थी कि आश्चर्य होता था। उनकी आशा ने अनेक बार उनकी अनियमितता पर विजय प्राप्त की। इस सम्बन्ध में कई घटनाओं का उल्लेख किया जाता है। मुंशी ईश्वरशरण लिखते हैं :—

"एक बार की बात है कि वे गोरखपुर गये थे और वहाँ से हम लोगों को एक ट्रेन पकड़नी थी। हम लोग निपटकर स्टेशन को रवाना हुए। मालवीयजी के एक ग़रीब सम्बन्धी का मकान रास्ते में ही पड़ता था। मेरे बहुत मना करने पर भी वे उसके घर गये; वहाँ भोजन किया और जल्दी-जल्दी स्टेशन पहुँचे। गाड़ी चल चुकी थी; वह झट उसमें कूद गये। अपने डिब्बे से उन्होंने मुस्कराते हुए मुझसे कहा—'आखिर मेरी बात ठीक हुई। मैंने भोजन कर लिया और ट्रेन भी पकड़ ली!'"

एक घटना इससे भी विचित्र है। एक बार की बात है कि मालवीयजी और स्व० सर सुंदर लाल साथ ठहरे हुए थे। कहीं जाना ज़रूरी था पर ट्रेन का स्टेशन पर आने का जो समय था उससे एक घण्टा अधिक हो गया था। मालवीयजी स्टेशन को रवाना हुए। सुन्दरलालजी ने बहुत मना किया किन्तु उन्होंने न माना। बोले—"पण्डितजी, आप चिन्ता न करें कभी-कभी गाड़ियाँ लेट भी होती हैं। यह गाड़ी भी 'लेट' हो सकती है।" वे गये और उन्होंने वही ट्रेन पकड़ी। यह गाड़ी उस दिन ढाई घण्टे 'लेट' थी।

रेलगाड़ियों के सम्बन्ध में तो मालवीय जी के जीवन के साथ अनेक घटनाएँ जुड़ गई हैं। बहुत ही कम बार ऐसा होता था कि वह समय पर स्टेशन पहुँचते हों। यौवन-काल में तो कई बार इलाहाबाद आदि में उनके लिए गाड़ियों को दो-चार मिनट ज्यादा रुकना पड़ता था। किन्तु

कार्याधिक्य तथा उपर्लिखित कारणों से होने वाली अनियमितता के बीच उनकी आशावादिता सदा पनपती रही।

जब मालवीय जी पुरानी सुप्रीम कौंसिल के सदस्य थे तब की ट्रेन-सम्बन्धी एक घटना उल्लेखनीय है। मालवीयजी को कौंसिल में एक प्रस्ताव पेश करना था। वे देर से स्टेशन पहुँचे; अन्तिम ट्रेन जा चुकी थी। कोई दूसरी ट्रेन की सम्भावना न थी फिर भी वे प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा करते रहे। संयोग-वश वायसराय की स्पेशल ट्रेन जा रही थी। उसपर चढ़ गये।

दिल्ली के कांग्रेस—सरकार के समझौते में, इलाहाबाद के ऐक्यसम्मेलन में अनेक कठिनाइयों के बीच उनकी यह आशावादिता चट्टान की तरह दृढ़ रही। इस दृढ़ आशावादिता के मूल में उनकी आस्तिकता ही उनकी आशा का कवच था। **वह दृढ़ आशावादी थे इसलिए कि वह दृढ़ आस्तिक थे।** हम देखते हैं कि आस्तिकता के मूल में ही आशा और विश्वास है। शुद्ध आस्तिक का विश्वास कभी नष्ट नहीं होता। महात्मा गाँधी और मालवीयजी दोनों के जीवन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

× × ×

महान् भिक्षुक

चंदा एकत्र करने की मालवीयजी की शक्ति भी अद्भुत थी। देश में, इस विषय में, उनका कोई मुकाबला नहीं कर सकता था। ऐसी-ऐसी जगहों से वह जनहितकर कार्यों के लिए रुपये लाते थे जहाँ देश के लिए सहानुभूति का कोई भाव नहीं था। इसीलिए देश भर में वह 'महान् भिक्षुक' के नाम से प्रसिद्ध थे। यही नहीं कि वह राजा महाराजाओं से ही चंदे लाते हों। उनकी वक्तृत्वशक्ति सभाओं में बैठे दर्शकों को भी प्रभावित करके उनसे चंदा ले लेती थी। सर विश्वेश्वरैया ने ऐसी एक सभा का वर्णन करते हुए लिखा है—"मैं कलकत्ता की ऐसी एक सभा में मौजूद था जिसमें उन्होंने हिन्दी में बड़ा उत्साह-वर्द्धक और ज़ोरदार व्याख्यान दिया था। मेरा खयाल है कि यह जनवरी

१९१२ ई० की बात है। उसमें धनी जमींदार, मारवाड़ी व्यापारी और दूसरे लोग बड़ी रकमों के वादे के साथ आगे आये; बहुतों ने वहीं करेंसी नोटों के बण्डल के बण्डल मालवीयजी को अर्पण कर दिये। पण्डितजी के उत्साह-जनक भाषण ने श्रोताओं को वश में कर लिया था और रुपयों की वर्षा हो रही थी।" यह उनकी आशावादिता और भिक्षा माँगने की अपनी शक्ति पर उनका दृढ़ विश्वास ही था कि हिन्दू विश्व-विद्यालय जैसी एक महान् संस्था का सारा भार सिर पर लेकर भी वह देश के विविध कार्यों में अपने को फँसा देते थे।

अद्भुत कार्य-शक्ति

मालवीयजी की कार्यशक्ति भी असाधारण थी। महात्माजी अपने अद्भुत संयम, अनुशासन तथा नियमितता के कारण अपने विशाल कार्य-क्षेत्र का उत्तरदायित्व प्रसन्नतापूर्वक वहन कर लेते थे पर मालवीयजी इस विषय में ढिलमिल और अनियमित होते हुए भी कार्य करने की अद्भुत् क्षमता रखते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय का ही काम इतना अधिक है कि उसमें शक्तिमान से शक्तिमान एक आदमी का सारा समय लग जाता पर मालवीयजी ने विश्वविद्यालय के कार्य के अतिरिक्त हिन्दू महासभा, सनातन धर्म महासभा, ब्राह्मण महासभा, गो-सेवा-संघ, भारतीय स्वदेशी-संघ, काँग्रेस तथा कितनी ही अन्य संस्थाओं का कुछ न कुछ कार्य अपने ऊपर ले रखा था। फिर इसके अतिरिक्त झगड़े सुलझाने एवं समझौता कराने के कितने ही काम उनपर आ पड़ते थे। उनमें निरन्तर यात्रा करने की असाधारण शक्ति थी। आज आप उन्हें लाहौर में व्याख्यान देते और नेताओं से सलाह-मशविरा करते देखते तो कल इलाहाबाद में और तीसरे ही दिन बनारस में दो-तीन घण्टा ठहरकर कलकत्ता की यात्रा करते पाते। ठक्कर बापा को छोड़ निरन्तर यात्रा की ऐसी शक्ति मैंने और किसी में नहीं पाई। भारत का शायद ही कोई नगर ऐसा हो जिसमें उनके भाषण न हुए हों। जब अत्यन्त

दुर्बल हो गये थे, वह बंगाल गये, वहां से लौटे ही थे कि महात्माजी के ऐतिहासिक उपवास की सूचना मिली। झट हिन्दू नेताओं को तार दिये; मीटिंग बुलाई; अपीलें निकालीं और बम्बई दौड़े। बम्बई में हरिजनों के नेताओं के साथ हुए समझौते के लिए उन्हें कितना प्रयत्न करना पड़ा इसे सब लोग नहीं जानते। रात-दिन के परिश्रम से शरीर और क्षीण हो गया पर वह समस्या सुलझी ही थी कि हिन्दू-मुस्लिम-सिख एकता के विचार से पंजाब दौड़े; वहाँ से फिर बंगाल और बंगाल से फिर इलाहाबाद! निराशाओं, कठिनाइयों और बाधाओं के बीच ऐक्य-सम्मेलन का कार्य जो इतनी दूर तक बढ़ सका था यह उन्हीं के परिश्रम, आशावादिता और कार्यशक्ति का परिणाम था।

अपने मित्रों के प्रति मालवीयजी की वफ़ादारी की अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनमें एक का वर्णन मुंशी ईश्वरशरण ने किया है—'पुरानी

मित्रों के प्रति वफ़ादारी

व्यवस्थापक सभा में किसी बिल पर मालवीयजी और स्व० श्री गोखले ने परस्पर-विरोधी विचार प्रकट किये। फल-स्वरूप जहाँ श्री गोखले की समाचारपत्रों ने तीव्र आलोचना, भर्त्सना तक, की वहाँ मालवीयजी की वीरता एवं निर्भीकता की प्रशंसा की। जब बिलपर विचार चल ही रहा था तभी एक दिन संयोग-वश रेलवे ट्रेन में मालवीयजी से भेंट हुई। वे बड़े ही दुखी और सुस्त थे। उन्होंने मुझसे कहा—"गोखले कायर हैं और मैं वीर हूं! यही वे कहते हैं। आः! कैसा दुख है! यह बात कलेजे को टूक-टूक करनेवाली है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी उनके (गोखले के) साथ होता लेकिन मेरे विश्वास ने इसे असम्भव कर दिया है। यदि अपने विश्वास के प्रतिकूल मैंने आचरण किया तो मैं अपना यज्ञोपवीत तोड़ दूँगा!" वह बड़े ही भावावेग में थे और अपने मित्र की टीका को बहुत अनुभव कर रहे थे।"

इन घटनाओं में मालवीयजी विविध रूपों में व्यक्त हुए हैं। उनकी

इस विविधता में ही उनके गुण-दोष, सफलता-असफलता छिपी है। इसने लोगों को श्रद्धा-पूर्वक उनके चरणों पर झुकाया और इसने लोगों में इनके प्रति विरोध और गलतफ़हमी भी पैदा की। पर उन्हें ठीक तरह समझने के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि उनके इस महान् एवं विविधतामय व्यक्तित्व के पार्श्वभाग में क्या है। इस दृष्टि से, उनकी इन स्मृतियों एवं गुणों के उल्लेख के बाद उनके व्यक्तित्व का विवेचन एवं विश्लेषण करना ज़रूरी हो जाता है।

—चार—

व्यक्तित्व का विश्लेषण

मालवीयजी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में विचार करते समय सबसे पहली बात याद रखने की यह है कि वह एक सच्चे ब्राह्मण थे। यहाँ ब्राह्मण शब्द से मेरा तात्पर्य इस शब्द में छिपे संपूर्ण इतिहास से है। उन्हें ब्राह्मणवाद की गौरवपूर्ण विरासत मिली। वह इस युग के प्राणी नहीं थे। उनमें जो कुछ असलियत, तत्त्व था, सब प्राचीन था और युग-युग से सिलसिलेवार रक्त में मिलता आया था। उनके व्यक्तित्व के पार्श्वभाग में वह युग है जिसमें 'मूवी' नहीं, 'टाकी' नहीं। वह पुराणों के युग की एक स्मृति की भाँति, इस टूटते-गिरते और फिर बनते हुए जन-रव और कोलाहल के संसार में एक आश्चर्य की तरह घूमते फिरते थे।

ब्राह्मण

ब्राह्मण की सारी विरासत उन्होंने पाई। वह अँग्रेजी के सर्वोत्तम वक्ताओं में थे पर भाषण के इस विदेशी रूप के नीचे उनके उत्साह का, शक्ति का केन्द्र संस्कृत का गंभीर अध्ययन था। इस फौवारे को कभी-कभी हम पश्चिमी ढङ्ग पर सजे या पश्चिम के प्रभाव से पूर्ण बगीचों में भी छिड़काव करते देखते पर उसके मूल में, जो जलस्रोत था वह पाइपों का नहीं, अतीत की चट्टानों के नीचे से

ब्राह्मण की विरासत

आनेवाली धारा का था। इसीलिए जहाँ उसमें पवित्रता थी वहाँ कठोरता भी थी। कठोरता इस मानी में नहीं कि वह दूसरों को जान-बूझकर कष्ट देते थे। नहीं, इस मानी में कि वह सामने, इस युग को देखकर बहुत कम चलते। वह जब बिजली के लैम्पों से जगमग सड़क से निकलते, जब अंग्रेज-मुसलमान, अछूत प्रतिनिधियों की व्यवस्थापक सभा में बैठते तो आँखें मूँदकर उस युग का ध्यान करते रहते जहाँ शूद्र ब्राह्मण की सेवा कर रहे हैं; ब्राह्मण अपने कर्मकाण्ड में निमग्न है और सब-कुछ ठीक-ठीक चल रहा है। ब्राह्मण में तपस्या ने इतनी शक्ति पैदा करदी है कि अपने शाप से वह राजदण्ड को लज्जित कर सकता है। जहाँ सब उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार कर उससे दबे हुए हैं और उसके नेतृत्व में ही संसार के दुर्गम मार्ग पर चलना चाहते हैं।

वर्तमान युग की खींचा-तानी ने उन्हें उस उपनिषद् काल तक पहुँचने न दिया जहाँ योगी और तपस्वी ऋषि ब्राह्मण-शूद्र के भेद के ऊपर उठ गये थे; जहाँ उन्होंने मनुष्य के नाशमान शरीर में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का अमृत छककर पिया था और मानवात्मा में विश्वात्मा को प्रत्यक्ष किया था। यह तपस्वी ब्राह्मण ब्राह्मण-काल का स्वप्न देखता था जहाँ यज्ञ हो रहे हैं,हवन हो रहे हैं। पवित्र प्राकृतिक दृश्यों के बीच देवता का अमल-धवल मन्दिर है; नहा-धोकर दिव्य वस्त्र पहने गौर ब्राह्मण बैठकर पूजा कर रहे हैं; उनका चन्दन-चर्चित शरीर, उनका दमकता हुआ चेहरा, जलते हुए धूप-दीप और अगुरु वातावरण को मादक, मधुर और स्वप्नमय बना रहे हैं; जिसकी परिधि में कोई अशुद्ध–मलिन फटे चीथड़ोंवाला शूद्र आकर वातावरण के सामञ्जस्य को भंग नहीं करता।

\+ × ×

क्या यह आश्चर्य-सा प्रतीत नहीं होता कि मालवीयजी-जैसा नव-

नीतोत्तम कोमल हृदय रखनेवाला मनुष्य, जिसके प्राणों का अणु-अणु दया के अमृत से सींचा हुआ था, असेम्बली में लड़कियों के व्याह की अवस्था १२ वर्ष से कम न होने के बिल के विरुद्ध तर्क करता और विरुद्ध सम्मति देता था ? क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि जो व्यक्ति किसी को ज़रा भी दुख में देखकर रो पड़ता था, अछूतों के कष्टों का वर्णन करते-करते जिसकी आँखों में आँसू आ जाते थे और जेब से रूमाल निकालने की आवश्यकता पड़ती थी वह शास्त्रों के आधार पर लोगों को समझाता फिरता था कि इतनी दूर तक मंदिर में अस्पृश्य को जाना चाहिए और इसके आगे नहीं ?

एक पहेली ?

मुझे एक घटना याद आती है। स्व० आचार्य रामावतार शर्मा जब हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या-विभाग के प्रिंसपल पद से अलग हुए तो नवीन आचार्य की आवश्यकता हुई। उस समय अपनी संस्कृत की योग्यता एवं पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध, साथ ही अङ्गरेजी के भी एम० ए०, एक विद्वान् से नियुक्ति के बारे में बातें चलीं। और तै-सी हो गई। उपर्युक्त सज्जन की वेश-भूषा इतनी दिव्य और रहन-सहन इतना सात्त्विक है कि कोई आदमी भूल कर भी उनको सिवा ब्राह्मण के दूसरी कल्पना नहीं कर सकता। उनको देखकर ही एक पवित्र एवं सात्त्विक ब्राह्मण की याद आती है। उनका नाम भी कुछ वैसा ही है। आज भी बहुत ही थोड़े आदमी जानते हैं कि वह किस जाति के हैं। पर वह ब्राह्मण नहीं, कायस्थ थे। जब मालवीयजी को यह पता चला तो उन्होंने साफ़-साफ़ तो नहीं कहा पर किसी बहाने से उन्हें जवाब दे दिया! क्या इस बीसवीं शताब्दी में यह आश्चर्यजनक नहीं मालूम पड़ता ? क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि किसी विजातीय या हरिजन से छू जाने के बाद भोजन के पूर्व उन्हें शुद्ध होने की आवश्यकता प्रतीत होती थी ?

पर नहीं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। हमें आश्चर्य इसलिए

लगता है कि हम उन्हें बीसवीं शताब्दी का प्राणी समझने की ग़लती कर बैठते हैं, जिसका पथ-प्रदर्शक ध्रुवतारा बुद्धि है। यदि हम यह याद रक्खें कि उनका निर्माण कैसे हुआ है, उनके व्यक्तित्व के पार्श्व-भाग में क्या है तो यह हम भूल नहीं सकते कि वह उस युग के थे जिसमें बुद्धि गौण एवं विश्वास ही प्रधान था। वह जान-बूझकर किसी का दिल दुखाने या अपमान करने के लिए ऐसा नहीं करते थे। यह बात तो उनके जीवन के मूल में ही युग-युग से मिली हुई थी। वह उस युग के उपकरणों से निर्मित हुए थे जिसमें सब कुछ सीधे-सीधे चला जा रहा था; जिसमें ब्राह्मण बालक श्रेष्ठ होकर, प्रणाम लेकर भी, छूत मानकर भी गाँव के बूढ़े अछूतों को काका कहकर बुलाता था। आज के युग में दया का नहीं, अधिकार का जो स्वर है; आज का मनुष्य बराबरी का जो दावा लेकर खड़ा हुआ है और जिसमें वह पैदायशी बंधनों को मानने से इन्कार करता है, उसे वह, समझते, शायद उससे सहानुभूति भी प्रकट करते थे पर ये सब दृश्य उनके लिए आश्चर्यमय थे; इन्हें देखकर उनका वह शान्ति का स्वप्न टूट जाता; इस कर्म-कोलाहल में ब्राह्मण की साधना ठीक ठीक चल नहीं पाती। वह समझते कि आज जो युग बराबरी का, अधिकार का दावा लेकर उठ खड़ा हुआ है वह कल ब्राह्मण को समुचित आदर देने से, उसके आगे सिर झुकाने से भी इन्कार करेगा। ब्राह्मणवाद के गौरवमय अतीत और संस्कार को, उसकी महान् देन को वह इस तरह मिटते कैसे देख सकते थे?

इसका कारण

यह चिन्ता ही उनके सुधारक की सर्वोच्च सीमा तक उठने में बाधक थी। अतीत से मिली हुई विरासत में से, जो-कुछ दिव्य था केवल उसे ही उन्होंने नहीं अपनाया; मणि में जो ज़ंग लग गया, जो मैल चढ़ गई उसे भी पकड़ रखा। उन्हें भय था कि ज़ंग निकालने, मैल छुड़ाने में कहीं यह मणि भी टूट न जाय। इसलिए अतीत को उन्होंने, जिस रूप में पाया, उसी रूप में ग्रहण कर

अतीत के प्रेमी

लिया। यदि वह दिव्य को ही लेकर उठते; यदि वह उन सब काँटों को दूर कर सकते जो किसी जमाने में फूल की रक्षा के लिए आवश्यक रहे होंगे पर आज उसका सारा रस चूसकर उसी जड़ को कमजोर कर रहे हैं; यदि वह कतिपय प्रथाओं एवं रीति के बन्धनों को तोड़कर ऊँचा उठ सकते तो वर्तमान युग के न केवल भारत के वरन् विश्व के सुधारकों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करते।* शक्ति का अक्षय कोष उनमें भरा पड़ा था पर वह उसका उपयोग करने से हिचकते थे। उनमें जो दया, मानवता के प्रति जो करुणा थी, जो सहिष्णुता और क्षमा थी; उसके साथ उन्हें भगवान् ने जो दिव्य चरित्र, जो दिव्य वाणी और ज्ञान एवं पाण्डित्य का जो वैभव दिया था; उनमें जो लगन, जो त्याग का भाव था दुनिया में बहुत ही कम लोगों में पाया जाता है। उनको जीवन में जो मौके मिले वैसे शायद ही दूसरे को मिले हों पर हिचकिचाहट में वह चुप रहे और समय उनके सामने से उनकी ओर देखता-देखता निकल गया।

× × ×

कोमलता गुण भी, दुर्गुण भी

सच बात तो यह है कि कोमलता एवं नम्रता जहां उनके जीवन में एक महान गुण था, जो उनके अन्तःसौन्दर्य को प्रकट करता है, वहाँ वह उनका एक बड़ा दोष भी है और उनके आगे बढ़ने में उससे बाधा भी हुई। जीवन को सत्य से अभिभूत करने के लिए, उसके द्वारा सत्य को प्रकाशित करने के लिए मनुष्य को अनेक बार निष्ठुर होना पड़ता है। यह हिंसा नहीं है; यह मोह पर ज्ञान की विजय है। जरूरत पड़ने

---

* 'Had Pt. Malviya wept away the dingy cobwebs from before his path he would have gone down in history as one of the greatest reformers of the age. × × × The milk of human kindness overflowing within him would have successfully prevented all kinds of egotism seeking establishment of absurd superiorities.''

—Pillars of the Nation

पर फोड़े का आप्रेशन करना पड़ता है पर दुनिया में ऐसे बहुत लोग हैं जो फोड़े का आप्रेशन देख नहीं सकते—उसके लिए सम्मत नहीं होते। मैंने कई माताओं को देखा है जिनके बच्चे फोड़े की पीड़ा से तड़प रहे हैं पर आप्रेशन की बात चलाते ही उनकी आँखों में आँसू भरजाता है; वे कहती हैं—"इसी तरह फूटकर बह जाय तो अच्छा हो भैया!" यह मनोविज्ञान का सवाल है। हम यह नहीं कह सकते, जैसा बहुत से सुधारक कहेंगे, कि वे अपने बच्चों को कम प्यार करती हैं या उनका कल्याण नहीं चाहतीं। ऐसा भी नहीं कि वे इसे समझती ही न हों पर क्रिया,—ढंग—'प्रोसेस'—उनके लिए दुःखदायी है। मालवीय जी की दया भी कुछ ऐसी ही थी!

वह निष्ठुर नहीं हो सकते अथवा यों कहें तो ज़्यादा सत्य होगा कि सुधारक को, समाज-निर्माता को किस जगह कितना और किस प्रकार निष्ठुर होना चाहिए, इसे नहीं जानते। उनके हृदय पर किसी को दुखी देख तुरन्त ठेस लगती; उनकी दया तुरन्त उनको अभिभूत कर लेती। वह ज़रूरी से ज़रूरी काम के लिए उसे योंही छोड़कर आगे नहीं बढ़ सकते। यह ब्राह्मण की व्यक्तिधर्मी दयाशीलता थी। यह महान् है और उच्च है। यह हृदय के एक पक्ष को बड़े उज्ज्वल रूप में सामने रखती है पर दूसरा पक्ष इसके कारण तिरस्कृत हो रहा है, यह देखने का अवसर भी नहीं देती। संसार में दया का भी विभाजन किया जा सकता है। मालवीयजी की दया उस मिल या कारखाने के मालिक की दया के समान थी जो मज़दूरों को गंदे, थके, धुँए और ठण्ड के बीच काम करते देख दया का अनुभव करता है; उनके लिए औषधालय खोल देता है; उनमें किसी को दुखी देखा तो उसकी सहायता कर देता है पर स्वयं कारखाने को ही, जिससे रोग, शोक, दुःख, बीमारियाँ एवं अमानुषिकता पैदा होती है, नहीं उठा सकता। शोक के, दुःख के मूल में जो कारण हैं उन्हें दूर करने की अपेक्षा वह तात्कालिक शोक और दुःख को दूर

करने में लग जाते। स्वभावतः मालवीयजी में व्यक्तिवादी ही प्रधान रूप से विकसित हुआ था; समाजवादी उसके विकास में ही दब गया था। महात्मा गाँधी की भाँति यदि वह इन दोनों को साथ-साथ बढ़ा सकते तो एक युग-प्रवर्तक ऋषि होते।

× × ×

समाज का निर्माता होने के लिए समय-समय पर निष्ठुरता का व्यवहार करना पड़ता है। जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब निष्ठुर होना भी महान नैतिक साहस का द्योतक होता है। मालवीयजी में यह बात नहीं थी—थी भी तो नगण्य मात्रा में। दूसरों को निराश और दुःखी करने में उनको दुःख होता। उनका हृदय दूसरों के विचारों को ठेस देने, निष्ठुर होने के लिए तैयार नहीं होता। फिर निर्दयता की भी उनकी दूसरी परिभाषा थी। 'नहीं' कहना ही उनके लिए निर्दयता का द्योतक था। बहुत ही कम बार वह किसी के अनुरोध से इन्कार कर पाते। जब इन्कार करते या कर्तव्य-वश किसी का विरोध करना पड़ता तो कर्तव्य-पालन से उन्हें उतनी प्रसन्नता नहीं होती जितना दूसरे का विरोध करने से दुःख होता।

निष्ठुरता का अभाव

अपनी, हृदय की कोमलता के कारण ही वह एक मार्ग को दृढ़ता से पकड़ नहीं पाते; एक दृढ़ निश्चय नहीं कर सकते थे। इस दृढ़ निश्चय में किसी का विरोध करना ही पड़ेगा। यह उनके लिए एक दुःखद कार्य था। उनका हृदय मानों प्रश्न के स्वर में कहता—'जो बुरा दीख रहा है, कहीं उसमें कोई भलाई न छिपी हो!' निर्णय करने में भूल हो सकती है और यदि भूल हुई तो उसमें किसी को क्षति पहुँच सकती है। इसके विपरीत यदि निर्णय भविष्य के लिए स्थगित कर दिया गया तो निर्णय करने का अधिकार सुरक्षित रहता है। तीर अपने हाथ में रहता है। फिर निर्णय करने में एक व्यक्ति या दल को नाराज़ करना

ही पड़ता है। और नाराज़ करने का मतलब खुद दुखी होना है। इस लिए जहाँतक बन पड़ता है वह 'इस पार' या उस पार की नीति ग्रहण नहीं करते थे। इसे उन्होंने माँज-माँज कर कला का रूप दे दिया था।

अल-काफिर ने लिखा है—"वह इस अद्भुत कार्य में, अपने प्रतिद्वंद्वी को थका देनेवाले कुश्तीबाज की प्रसन्नता के साथ शामिल होते हैं। इसीलिए तत्वतः वह एक 'डिप्लोमेट' हैं। उनके दयालु चेहरे पर गणनात्मक व्यूहीकरण का चिह्न है; तराजू के दोनों पलड़ों को 'बैलेंस' करनेवाले मन की एक रेखा है। सामान्यतः उनके कार्यों के पीछे, एक अत्यन्त दूरदर्शी मन की, सदा युद्ध-क्षेत्र का निरीक्षण करने एवं विभिन्न शक्तियों की तुलना करते रहनेवाले मन की गणना होती है। राजनीतिक मसलों पर वह प्रश्न के दोनों पहलुओं को इतनी स्पष्टता के साथ देखते हैं कि किसी पक्ष में शामिल होना पसंद नहीं करते।"* इस चित्रण में कुछ भूल हो सकती है पर लेखक ने जो परिणाम निकाला है वह बहुत करके ठीक है। जबतक देश में कांग्रेस का एक ही दल था; लिबरल, माडरेट, परिवर्तनवादी, अपरिवर्तनवादी, असहयोगी का झगड़ा न था तबतक वह कांग्रेस-मंच के प्राण थे और कांग्रेस के चोटी के नेताओं में रहे पर १९२० के बाद से उनके लिए एक निश्चित मार्ग को ग्रहण करना कठिन हो गया। इसमें पाखण्ड की बात नहीं है। वह प्रत्येक दल और प्रत्येक वस्तु में कुछ अच्छाई देखते। उनको लिबरलों की गंभीर चिन्तना-शक्ति भी पसंद

---

*"He indulges in the feat with the joy of a wrestler tiring out his opponent. Essentially, therefore, he is a diplomat. His kindly face has a note of calculating strategy, of a mind delicately balancing the scales. Behind his actions there is, generally, the cool calculaion of a singularly far-sighted mind, a mind always surveying the field, weighing forces and estimating positions. On political questions he sees both sides of the question so clearly that he prefers to take neither."

थी; क्रांतिकारियों की ज्वलन्त देशभक्ति भी उन्हें 'अपील' करती; स्वराजियों के असाधारण संगठन एवं सरकार से लड़ने की विचित्र नीति में भी कुछ अच्छाई उन्हें मालूम होती और 'रिस्पांसिव कोआपरेशन' दल वालों की नीति भी एक प्रकार से ठीक प्रतीत होती थी। इसीलिए मजबूती के साथ कुछ निश्चित सिद्धान्तों को लेकर कोई दल वह कभी बना न सके। अन्त तक वह सब दलों के मिश्रण-रहे। वह कांग्रेसवादी भी थे, महासभावादी भी, वैध आन्दोलक भी। पर पूरी तरह वह न कांग्रेस में शामिल हुए, न और किसी दल में। वह कांग्रेस के थे पर कांग्रेस-वादी नहीं; वह लिबरल थे पर लिबरल दल के नहीं। पार्टी के बन्धन और पार्टी की संकुचितता में बँधकर रहना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था। इससे जहाँ उनमें मानवता के कई श्रेष्ठ गुणों की रक्षा हुई वहाँ संगठित प्रयत्न एवं उनके दृढ़ नेतृत्व से होनेवाले लाभों से समाज और देश वंचित भी रहा।

× × ×

पर ऐसा भी नहीं कि वह कभी निर्णय करते ही न हों; कई बार वह बड़े निश्चय और बड़ी दृढ़ता से अपना मत प्रकट करते पर ऐसे अवसरों पर जो दृढ़ता दिखाई देती वह मनन एवं विचार के बाद किसी निश्चय पर पहुँचने की दृढ़ता बहुत कम होती; भावावेश की दृढ़ता ही अधिक होती। पर यह भावावेश भी ऐसे सुन्दर अवसरों पर और ऐसे मनोहर रूप में प्रकट होता रहा कि वह उनका भूषण बन गया। यह भावावेश उनकी आत्मा का पक्ष था; उनकी मानवता, ५० वर्ष की निरन्तर जन-सेवा से अर्जित उनकी मर्यादा एवं स्थान का रक्षक था। माडरेटों ने निराशा से साथ, अपने क़िले पर इस भावावेश को प्रहार करते देखा; गरमदल वालों के हृदय को कितनी ही बार इस भावावेश ने प्रसन्नता और गरमी पहुँचाई; इस भावावेश ने समय-समय पर सरकार को खिझाया

दृढ़ता है; पर भावावेश की—

है और मुसलमान इसी के कारण भय-मिश्रित आश्चर्य से उनकी ओर देखते रहे।* क्योंकि भावावेश कोई बन्धन नहीं मानता; उसका कोई कानून नहीं, कोई राजमार्ग नहीं। किस तरह, कब उसका उदय होगा और किस तरह उससे बरतना चाहिए इसे कोई नहीं जानता।

मैंने ऊपर कहा है कि कई बार वह निश्चय करते पर वह निश्चय भावावेश का, हृदय का निश्चय होता, विचार और मनन के पश्चात्, पहुँचा हुआ दिमाग का निश्चय नहीं। जैसे असहयोग और सत्याग्रह-आंदोलन का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया पर १९३० ई० में जब कांग्रेस पर सरकार ने प्रहार किया एवं जब उन्होंने देखा कि स्वयंसेवकों एवं अच्छे कुल की कोमल बहनों पर लाठियाँ पड़ रही हैं तब उनका हृदत तिलमिला उठा। भावावेश की दिव्यता में मस्तिष्क की हिचकिचाहट हवा हो गई। फल-स्वरूप लोगों ने उन्हें जेल में पाया। जहाँ अपने व्यवहार से उन्होंने एक समय असहयोगियों एवं स्वराजियों की अप्रियता प्राप्त की थी, वहाँ समय आया जब हमने देखा कि वह आज यहाँ, कल वहाँ लोगों में जान डालते, निराश युवकों को उत्साहित करते, मजिस्ट्रेटों की अवज्ञा करते और कानून तोड़ते फिरते हैं। ऐसा क्यों? क्या इसलिए कि जनता का नेतृत्व अपने हाथ में आ जाय? नहीं; वह चाहते तो कभी का इसे प्राप्त कर सकते थे। यह इसलिए कि जब सरकार ने एक ऐसे महापुरुष पर हाथ रखा, जो संसार के इतिहास में अपनी सज्जनता में बेजोड़ था, तो उनका अन्तःकरण चोट खाकर उठ खड़ा हुआ।

इस प्रकार का यह एक ही उदाहरण नहीं है। असहयोग के मध्याह्न काल में, युवराज के बहिष्कार के समय, लोकप्रियता खोकर भी उन्होंने

* "........They have been the despair of the Moderates; the joy of Extremists; the eye-openers of the Govt., the secret terror of the Muslim heart."

—Pillars of the Nation.

नैतिक साहस

उन्हें हिन्दू विश्वविद्यालय में निमंत्रित किया था और उसी हिन्दू विश्वविद्यालय के कोर्ट की मीटिंग से देश के प्रति महात्मा गांधी की सेवा की प्रशंसा करते हुए, उनकी गिरफ़्तारी पर उन्हें धन्यवाद देने का प्रस्ताव पास कराया। यह एक बड़े साहस का काम था। लेकिन उनका हृदय इसे किये बिना रह न सका और एक सुप्रसिद्ध लेखक के शब्दों में कहा जा सकता है कि "इस छोटी-सी बात ने हिन्दू विश्वविद्यालय को एक राष्ट्रीय संस्था के पद पर पहुँचा दिया और नैतिक महानता की दृष्टि से केवल (महात्माजी द्वारा) बारडोली सत्याग्रह का स्थगित किया जाना ही एक ऐसा कार्य है जो इससे ऊँचा जा सका है।"*

इसी प्रकार क़ानूनी प्रतिबन्ध को भंग करके कलकत्ता में उनका प्रवेश करना भी उनका एक अत्यन्त गौरवपूर्ण कार्य था। मजिस्ट्रेट ने एकांगी अफ़वाहों के आधार पर शान्ति-भङ्ग की आशंका की बात कह कर वह आज्ञा निकाली थी। उस अफ़वाह के विरुद्ध एक जीवन-व्यापी सेवा का 'रेकर्ड' था—भाषण की सौम्यता, वाणी की मधुरता एवं शान्त शब्दों के निर्वाचन का एक बेजोड़ रेकर्ड। उनकी उपस्थिति से नगर में उपद्रव होगा! यह विचार भी उच्छृङ्खलतापूर्ण था। ऐसी आज्ञा के आगे उनकी दीर्घकालिक सेवा आत्म-सम्मानपूर्वक, भवें तानकर खड़ी हो गई।

यह सब मोतीलालजी की भांति ठंडे दिमाग की जोड़ तोड़ के नहीं, विशुद्ध भाव जगत् में विचरण करनेवाले हृदय की गौरवगाथा है।

राष्ट्रवादी नहीं, देश-भक्त

यदि उनके जीवन को हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस निश्चय पर पहुँचेंगे कि वह राष्ट्रवादी ('नेशनलिस्ट') नहीं, देशभक्त ('पैट्रियट') थे अथवा राष्ट्रवादी कम

* That simple act at once raised the University to a national institution and for its moral grandeur remains surpassed only by the Bardoli halt.

देश-भक्त अधिक थे। जैसे व्यक्ति की पीड़ा और दुख को देखकर उनका हृदय विचलित हो जाता वैसे ही मातृभूमि की दुर्दशा देखकर उनका हृदय विकल हो जाता था। वह मातृभूमि, जिसके अतीत के साथ ब्राह्मण-संस्कृति की उज्ज्वल गाथा जुड़ी हुई है, जिसकी गोद में लाखों को आध्यात्मिक सांत्वना मिली है, जिससे जगत् के प्रायः सभी महान् धर्मों का विकास हुआ है—वही सुजलां, सुफलां, शस्य श्यामलां मलयजशीतलां मातृभूमि की दुर्दशा! इस दुर्दशा को देखकर माता के सच्चे सुपुत्र इस महान् ब्राह्मण का हृदय, जो दया से ओतप्रोत था, कैसे विचलित न होता, कैसे रो न पड़ता?

इस दृष्टि से, मालवीयजी में विविध, परस्पर-विरोधी गुणों का अद्‌भुत विकास हुआ था। जो उन्हें नहीं जानते वे उनके कार्यों से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि उनका हृदय कितना कोमल था। आप अपने दुःख की ज़रा सी कथा लेकर उनके पास जाइए; सुनकर वह विचलित हो जाते। सभाओं में बोलते-बोलते, कारुणिक बातों की चर्चा करते-करते उनकी आँखों में आँसू आ जाते। जो कुछ दुःखद और शोकप्रद है उसे वह बर्दाश्त नहीं कर सकते थे; उससे उनकी शान्ति अस्तव्यस्त हो जाती। उनका हृदय मानों पूछना चाहता है कि दुनिया में इतनी पीड़ा, इतनी अशान्ति क्यों? जो जहाँ है वहीं शान्ति क्यों नहीं पा सकता? उनका हृदय इतना कोमल था कि बहुत ही अनिवार्य अवस्थाओं में वह किसी पक्ष का विरोध करते और विरोध करने के बाद भी, उस पक्ष को जितना दुःख होता उससे कहीं ज्यादा स्वयं उन्हें होता। विरोध का काम ही उन्हें दुःखप्रद था।

परस्पर-विरोधी तत्वों का अपूर्व मिश्रण

× × ×

हमारा मन, यह सब देख, पढ़ और सुनकर मानों ऊपर उठ रहा है; मानों वह उठकर पूछना चाहता है कि जो व्यक्ति इतना दयालु था,

इतना दयालु ! फिर कट्टर क्यों ?

जिसके लिए एक आदरणीय पत्रकार ने लिखा था कि "वह सिर से लेकर पैर तक हृदय ही हृदय है"* वह इतना कट्टर कैसे हुआ ? जो आदमी स्वभाव से ही घृणा नहीं कर सकता, जिसकी प्रकृति ही इसके विपरीत है वह हरिजनों के हाथ का जल क्यों ग्रहण नहीं कर सकता ? जिसके मन में स्वार्थ की गंध तक नहीं है, उसके हृदय में उच्च वर्ग के लिए—ब्राह्मण के लिए इतना पक्षपात कैसे आ गया ?

इसीलिए कि उनके मूल में विशुद्ध ब्राह्मणवाद है। उनकी दया शुद्ध मनुष्य की, नाम-रहित, 'अनलेबल्ड' (अनामी) मनुष्य की दया नहीं, ब्राह्मण की दया है। खींचातानी करके निकाले गये

सुनिए !

ब्राह्मण के अर्थ में नहीं, ब्राह्मण काल के औसत ब्राह्मण के अर्थ में। इस शब्द के साथ जो गौरवपूर्ण इतिहास जुड़ा है उसके भीतर जहां एक ओर दया है, वहाँ दूसरी ओर कट्टरता भी है, जहाँ क्षमा है, करुणा की छाया है, वहाँ ब्रह्मदण्ड भी है, शाप की लपलपाती हुई अग्निमयी जिह्वा भी है। जहां आत्मज्ञान की सुगन्ध है, वहाँ बाह्याचारों का घना कण्टकाकीर्ण जंगल भी है। उसमें जहाँ वशिष्ठ, नारद और व्यास की अमृत वाणी है, माधुर्य है, वहाँ विश्वामित्र, दुर्वासा और परशुराम की पुरुषता भी है, कट्टरता भी है। इसलिए इस आश्चर्यजनक सत्य को माने बिना कोई चारा नहीं।

उनके जीवन में इन परस्पर–विरोधी तत्त्वों का ऐसा आश्चर्यजनक समन्वय देखकर जो प्रश्न उठता है, उत्तर देने के लिए मानों उनका सारा जीवन उठकर कह रहा है—

"Do I contradict myself ? Very well, I contradict myself : I contain multitudes" ×

---

* "Pt. Malviya is nothing but heart from head to foot."
—C. Y. Chintamani.

× Walt Whitman.

(क्या मैं अपनी बातों का खण्डन करता हूं ? अच्छा, ऐसा ही सही, मैं असंख्य भावों का आकर हूं)

यह परस्पर-विरुद्धता उनके अन्दर बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती थी। अभी आप उन्हें जनतंत्रवाद और समता पर बोलते सुनेंगे और कुछ देर बाद कट्टरों की उस सभा में भाग लेते पायेंगे जिसमें जाति से एक पीड़ित तिरस्कृत वर्ग को प्रारंभिक मानवी अधिकार देने के प्रस्ताव का भी विरोध हो रहा है। यह निश्चय ही पाखण्ड—'हिपोक्रेसी'—नहीं है। यह उनकी प्रकृति की मानवी दुर्बलता थी।

किन्तु यदि उनकी प्रकृति के इस अंश को छोड़कर देखें तो हम श्रीविनायक मेहता के इन शब्दों को दोहरा सकते हैं कि "× × वह घोंघों एवं कंकरों के समूह के बीच ग्रेनाइट की दृढ़ चट्टान की भाँति खड़े हुए हैं। उनका सुगढ़ शरीर, जिसका प्रत्येक अंग आन्तरिक सामञ्जस्य से दमक रहा है; तपस की दीर्घ साधना; उनके अभिप्राय की उच्चता, जो शिलर पर लिखते हुए गेटी के शब्दों में किसी भी गर्हित एवं नीच विचार को अपने अन्दर स्थान नहीं दे सकती; उनके पाण्डित्य की विविधता, जो उनके ज्ञान-मन्दिर तक आने वाले पण्डित यात्रियों के बीच उन्हें बिना किसी असुविधा के स्थान देती है; उनकी भावना की सार्वदेशिकता जो उन्हें विश्व के एक नागरिक के रूप में पाती है, इन सबको देखते हुए कौन ऐसा है जिसे बीसवीं शताब्दि के इस शंकर, आदर्श त्यागमूर्ति को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो और उसने इनके अंदर 'अति-ब्राह्मण' को न देख पाया हो। कैलाश की धवल चोटी की नाईं वह अपने सत्तर हेमन्तों को लिये हुए, उज्ज्वल धवल वस्त्रों से आच्छादित ऊँचे दृश्य के रूप में खड़े हैं; सृष्टि के उस आरम्भिक कमल की भाँति, जिसे कोई वस्तु मुर्भा नहीं सकती, प्रायः आशा के ज्योतिःपुञ्ज के रूप में उनके दर्शन होते हैं, दुराशा एवं अपशकुन के रूप में कभी नहीं।" ×

×'........he stands as a block of granite in the midst of a mass of shale and conglomerate. His beautifully modelled body,

—पाँच—

कुछ और संस्मरण

श्री रामनारायण मिश्र लिखते हैं—"एक दिन रात के समय एक बजे श्री मालवीय जी हिन्दू स्कूल (काशी) के बोर्डिंग हाउस (कमच्छा-चोरमहल), जिसमें मैं रहता हूं, पधारे और ३—४ बड़ी उम्र के लड़कों को अपने साथ मोटरपर लेगये। एक घण्टे के अन्दर उनको स्वयं लाकर पहुँचा गये। पता लगा कि जब वह बनारस स्टेशन पर उतरे थे, उन्होंने देखा कि दो बदमाश बच्चे वाली एक स्त्री के पीछे लगे हैं और वह उनसे बचने का प्रयत्न कर रही है। वह उस स्त्री के साथ हो लिये और जब वह इक्के पर बैठ गई तब उन्होंने उसका पता जान लिया। बोर्डिंग हाउस के लड़कों को अपने साथ ले जाकर उनको खोजवाँ × में उस स्त्री का पता लगाने को छोड़ दिया। लड़कों ने पता लगा लिया। पहले तो उस स्त्री ने डरकर दरवाज़ा बंद कर लिया और समझा कि वही बदमाश उसके पीछे पड़े हैं परन्तु जब उसको मालूम हुआ कि मालवीयजी

रात के समय स्त्री की रक्षा

every limb tingling with the pulsating harmony within, ... the prolonged asperities of *tapas* (austerities). his loftiness of purpose, that in the words of Goethe speaking of Schiller, would disdain to think anything that was mean, his varied scholarship that puts him at ease amongst the scholar pilgrims to his shrine of learning. his universality of spirit that makes him a citizen of the world and the least of a chauvinist and anti-foreigner, who that has known this Shankar of XX Century, the Tyagmurti at its highest, would fail to detect the 'Super-Brahmin' in him ? Like the peak of Kailas, he stands, with his seventy winters, a towering spectacle clothed in the effulgence of a mass of white, like the primaeval lotus which nothing can sully, a beacon of hope often, a portent never." × काशी के पास एक गाँव।

ने ही उसकी रक्षा की है और वे यह जानने के लिए बाहर खड़े हैं कि वह घर पहुँच गई या नहीं तब वह प्रसन्न हो गई और उसने तुरन्त दरवाज़ा खोल दिया।"

× × ×

श्री शिवराम पाण्डेय लिखते हैं—"यमुना के किनारे महाराज बनारस की कोठी में, मदनमोहन के उद्योग से, मध्यहिन्दू समाज का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिवेशन हुआ था। तीन दिन तक जलसा हुआ। उस समय यूरोप की सैर करते हुए कालाकांकर नरेश स्व० राजा रामपालसिंह भी पधारे थे। वह कभी-कभी सभापति पर चुटकियाँ भी कस जाते थे। उनके भाषण से बहुत-से लोग असंतुष्ट थे पर बोलने की हिम्मत न पड़ती थी। पर मदनमोहन से न रहा गया; कई बार उन्होंने कान में टोंका। जलसा समाप्त होने पर राजा साहब ने अपने 'हिन्दुस्तान' पत्र में अधिवेशन की बड़ी प्रशंसा की पर यह भी लिखा—"इसमें दो-एक लौंडे ऐसे ढीठ थे कि वे बड़े-बड़े राजा-रईसों एवं वावदूकों (वक्ताओं) को व्याख्यान देते समय उनके कान में सलाह देने की धृष्टता करते थे।"

'हिंदुस्तान' से सम्बन्ध

"किन्तु यही राजा साहब पीछे मदनमोहन की प्रतिभा के क़ायल हुए और २५०) मासिक पर 'हिन्दुस्तान' का सम्पादक नियुक्त किया। × × सम्पादन काल में भी वह वकालत का अभ्यास करते। वकालत शुरू करने पर जब आमदनी होने लगी तब भी राजा साहब २५०) रु० मासिक भेज देते थे। एक दिन मदनमोहन ने राजा साहब से कहा—"महाराज, अब तो मैं आपका कुछ काम नहीं करता। आपकी नौकरी में भी नहीं हूँ—"

राजा साहब झट रुष्ट होकर बोले—"नौकरी में! मालवीय जी, क्या आपने कभी मेरे मन में या बर्ताव में अपने साथ या किसी के साथ नौकर का भाव पाया है? आपके पास विद्या है और आप गुणों की

खाल हैं। उसके द्वारा आप मेरी सहायता करते हैं और मैं भी थोड़े पैसों से आपकी सहायता करता हूं। मुझे आप-जैसे बुद्धिमान पुरुष के मुँह से ऐसी बात सुन कर बड़ा दुःख हुआ।"

× × ×

श्री सच्चिदानन्द सिंह लिखते हैं—"पंजाब हत्याकाण्ड के बाद, उसी वर्ष की ग्रीष्म ऋतु की, शिमला की बात है। बहस—'डिबेट'—सनसनीदार हो रही थी..........और पंजाब सरकार के चीफ सेक्रेटरी

वह वक्तृता

श्री थामसन (बाद में दिल्ली के चीफ-कमिश्नर सर जेम्स थामसन) उसके (पंजाब सरकार के) प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। बहस कई दिनों तक चलती रही जिसमें मालवीय जी ने शायद सब से महत्वपूर्ण भाग लिया। सरकारी सदस्य श्री थामसन को एक बड़ा शक्तिमान वक्ता—ज्वालामुखी के ज़ोर के साथ बोलने वाला—समझते थे। वह मालवीय पर बड़े तीव्र शब्दों में आक्रमण कर रहे थे..................। एक मौके पर उन्होंने मिल्टन के 'पैरडाइज़ लॉस्ट' से एक पद्य सुनाकर सोचा कि मालवीय जी के विरुद्ध विजय प्राप्त कर सकेंगे पर मालवीय ने मौके को सँभाला और अपने जवाब में श्री थामसन की प्रत्येक बात की न केवल धज्जियाँ उड़ा दीं वरन् मिल्टन के ही एक बिल्कुल विरुद्ध अर्थ व्यक्त करने वाले पद्य-खण्ड को सुनाकर उन्हें चुप कर दिया। मालवीय जी की पंजाब-सम्बन्धी ये वक्तृताएँ निश्चय ही बड़ी उच्च कोटि की बौद्धिक विशेषताओं से सम्पन्न थीं।"

× × ×

कौटुम्बिक दुःख-सुख उसको ज्यादा समय तक जन-हितकर कार्यों से अलग नहीं रख सकते थे। इस सम्बन्ध में श्री ईश्वरशरण एक घटना का

कर्तव्य-परायणता

वर्णन करते हैं—"× × मालवीय जी को एक बड़ी लड़की थी, जिसे वह बहुत चाहते थे। क्षय से उसकी

मृत्यु हो गई। मैं उनसे मिलने गया। उनकी आँखें आँसुओं से तर थीं किन्तु क्षण भर बाद ही वह मेरी ओर घूमकर बोले—"खैर, वह चली गई। किन्तु उन हज़ारों लड़कियों का क्या होता है जो इस रोग की शिकार होती हैं और इतनी गरीब होती हैं कि स्वच्छ भोजन और मामूली चिकित्सा भी उन्हें नसीब नहीं होती? हमें इन अभागिन बहनों के लिए देश भर में स्वास्थ्याश्रम (सैनिटोरियम) बनवाने चाहिएँ।" यदि मैं भूलता नहीं तो दूसरे ही दिन घर से वह हि० वि० विद्यालय (काशी) चले गये। निश्चय ही वह एक आत्मार्पण किये हुए व्यक्ति की नाईं जीवन बिताते हैं।"

× × ×

स्त्रियों के सुधार के समर्थक

मालवीय जी परदा में विश्वास नहीं रखते थे। वह स्त्री-सुधार के समर्थक थे पर उनका मत था कि उनके सुधार का ढंग भारतीय हो। वह तेजस्वी पर सुशील माताएँ चाहते थे, नज़ाकत एवं शौक़ीनी से दबी हुई रमणियाँ नहीं। ईश्वरशरण लिखते हैं—"वर्षों पहले की बात है जब इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला का उपाधि-वितरणोत्सव था, मैं और वह दोनों गये थे। इलाहाबाद हाईकोर्ट के कोई अंग्रेज जज सभापति थे। उनके साथ उनकी कुमारी कन्या भी आई थी जो स्वास्थ्य एवं शक्ति की साक्षात् मूर्ति सी मालूम पड़ती थी। सभा-विसर्जन होने पर मालवीयजी मेरी ओर घूमकर बोले—"तुमने कुछ देखा?" मैंने कहा, "मैं भी इस सम्बन्ध में सोच रहा था।" वह बोले—"न जाने किस दिन हमारे देश में ऐसी लड़कियाँ होंगी?"

स्त्रियों के लिए मालवीय जी के हृदय में बड़ी श्रद्धा थी इसलिए उनकी वर्तमान अवस्था एवं दुःखों पर बड़ी वेदना भी थी, फिर भी वह रीति-रिवाजों के बन्धनों को तोड़कर ज्यादा दूर तक जा नहीं पाते थे।

मालवीयजी का जनता में जो आदर था, उसपर जो अधिकार था उसका क्या कारण है ?

अतीत के पुरोहित

एक तो यह कि वह अतीत के पुरोहित थे। प्रत्येक व्यक्ति को, विशेषतः भारतवासी को, अपना प्राचीन, अपना बीता हुआ ज़माना प्यारा लगता है। उसके लिए वह सुरक्षित करके रखने की चीज़ है। मालवीयजी उसी प्राचीनता के गायक थे। सौभाग्य-वश हमारा प्राचीन बड़ा मनोहर, और काफ़ी ऊँचा भी, रहा है। इसलिए हमारे हृदय में उसके प्रति बड़ी ममता है। हम एक प्राचीनतम जाति के आदमी हैं; हमें प्राचीन विशेष प्यारा है। जिसका कोई प्राचीन हो ही न, उसे वह प्यारा क्योंकर लगे ? मालवीयजी उस युग के भग्नावशेष की भाँति हमारे लिए दर्शन, आदर और संग्रह की चीज़ थे। हम इस विद्यावयोवृद्ध ब्राह्मण को देखते जो इस युग की हलचल के बीच, इस होड़ और प्रतिहिंसा की दौड़ में, शान्त भाव से खड़ा हुआ, आश्चर्य और दुःख के साथ हमारी अशान्ति देख रहा है। जब रास्ते में दौड़ते-दौड़ते वर्तमान के इस घोर जन-रव और कोलाहल से ऊबकर, पीछे दौड़े आनेवालों के धक्कों एवं चाबुक से तिलमिला कर साँस लेने के लिए इधर-उधर देखते तो यह अद्भुत आदमी दिखाई देता जो आज के लिए दुर्लभ अतीत की स्मृतियों को सामने रखकर कहता—'देखो !' इस विकलता के बीच जो कुछ बीत गया है और जो अब फिर लौटकर न आयेगा वह स्वभावतः प्यारा लगता है।

इस दृष्टि से मालवीयजी की लोकप्रियता का प्रधान कारण यही है कि उनकी वाणी में प्राचीन को साकार-सा करके खड़ा कर देने की शक्ति थी; वह प्राचीन युग की ओर निर्देश करते थे।

उनकी सफलता का दूसरा कारण यह था कि वह शत्रु पैदा नहीं करते थे। उनमें मित्रों को अन्त तक मित्र बनाये रखने की अदभुत् शक्ति थी। वह छोटे से छोटे आदमी को भी अपने व्यवहार से प्रसन्न रखना चाहते थे। आदमी के अन्दर जो अलोचक होता है उसे वह कभी नहीं जगाते। वह स्वयं बहुत कम अलोचना करते; जो कुछ उन्हें कहना होता, उसका जिक्र—वर्णन—कर देते। उस वर्णन का ढंग अवश्य ही निराला होता। आलोचना उन्हें पसंद नहीं थी। उनका मत-भेद भी इतना शान्त होता कि आपका जोश ठंडा कर देता। यदि वह आपसे मत-भेद प्रकट करते तो दुःख के साथ और यदि संभव हो तो वह आपको यह पता भी न चलने देते कि आपसे उनका मत-भेद है। दूसरों की भावनाओं का खयाल रखने वाला ऐसा दूसरा आदमी मैंने नहीं देखा।

व्यवहार की कोमलता

उनमें संकोच और शालीनता इतनी अधिक थी कि आप आ गये; आप से बात कर रहे हैं। उनको ज़रूरी काम है पर आप से यह न कहेंगे कि अब जाइए। यही नहीं बहुत संभव तो यह है कि यदि आप जाने को कहें तो वह आपको निराश करते हुए दुःखी हों और आपसे बैठने का अनुरोध करें।

× × ×

तीसरी बात, जो एक प्रकार से पहली के साथ सम्बद्ध है, उनकी शारीरिक एवं मानसिक पवित्रता थी। जब अन्य नेताओं की तरफ लोग उनके भूत या वर्तमान जीवन की रंगीनियों की ओर इशारा करते हुए अँगुली उठाते हैं तब मालवीय पर सन्देह एवं अविश्वास की ज़रा-सी कालिमा कभी किसी ने नहीं डाली। उनके जीवन में ऐसी कोई बात ही नहीं जिसके साथ होली खेली जा सके। वह अत्यन्त उच्चकोटि के नैतिक पुरुष थे। उनकी इमानदारी सन्देह की सीमा के परे थी। उन्होंने लाखों रुपये एकत्र किये; इन रुपयों

पवित्रता

का नियमित एवं ब्योरेवार हिसाब भी बहुत ही कम बार प्रकाशित होता था फिर भी यह उनके उच्च चरित्र का एक प्रमाण है कि आज तक उन पर किसी ने पैसा खा जाने या इधर-उधर कर देने का दोष नहीं लगाया। अन्यथा इतना रुपया जिसके हाथों से इधर-उधर हुआ हो, उसके सम्बन्ध में कोई अफ़वाह, कोई किम्बदन्ती न फैले, यह भी आश्चर्य ही है।

चौथी बात उनकी आशावादिता एवं तदनुकूल कर्म-निष्ठा थी। जिसके सम्बन्ध में यथास्थान लिखा जा चुका है।

× × ×

सार्वजनिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के जीवन में उनके महत्त्व का एक बड़ा कारण समझौता करने और कराने की उनकी महती शक्ति भी थी। उन्होंने अपने जीवन को ही इस साँचे में ढाल लिया था। समझौते की शक्ति उनमें असाधारण थी। इसे उन्होंने कला का रूप दे दिया था। जैसे व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने अनेक घरों को टुकड़े-टुकड़े होकर डूबने से बचाया वैसे ही सार्वजनिक जीवन में भी उन्होंने इस दिशा में अद्भुत सफलता पाई। उनके समझौते की प्रतिभा को व्यक्त करनेवाली कितनी गाथाएँ आज अप्रकाशित या 'विश्वसनीय' हैं। १९३० के महान् सत्याग्रह-आंदोलन के बाद कांग्रेस और सरकार के बीच जो समझौता हुआ उसमें उनका प्रधान हाथ था। कई बार टूटते-टूटते उन्होंने उसको सँभाला। समझौते के समय उनमें अद्भुत प्रतिभा एवं कार्यशक्ति प्रकट होती। जब लोग कठिनाइयों एवं बाधाओं से निराश हो जाते तब भी समझौते के विषय में आशाप्रद बातें करना, आशावादी बने रहना उनकी प्रकृति का एक अंग हो गया था। प्रयाग का ऐक्य-सम्मेलन उन्हीं के व्यक्तित्व तथा समझौते की उनकी प्रतिभा एवं स्फूर्ति में केन्द्रित था, ऐसा कहें तो अत्युक्ति न होगी।

समझौता की शक्ति

इसके अलावा उनकी लम्बी सेवा, उनकी देश-भक्ति, उनका त्याग तो उनकी लोकप्रियता के कारण हैं ही पर इनका उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं।

उनके कार्य महान् हैं। एक हिन्दू विश्व-विद्यालय ही उनकी कीर्ति-रक्षा के लिए पर्याप्त है। हिन्दू जाति के लिए उन्होंने बहुत काम किया। जैसा श्री भगवान्दास जी ने लिखा है—"स्वामी दयानंद और आर्यसमाज के बाद 'कामन'(सामान्य) हिन्दू-भावना को जन्म देने का श्रेय मालवीयजी, सेण्ट्रल हिन्दू कालेज और हिन्दू विश्वविद्यालय को ही है।" भारतवर्ष के लिए उनकी सेवाओं का वर्णन क्या किया जाय। ६० वर्ष की निरन्तर सेवा स्वतः अपना एक पवित्रतम स्मारक है।

देश में ऐसे राजनीतिक नेता होंगे या होगये हैं जिनकी कूटनीतिज्ञता, राजनीतिक प्रतिभा बहुत बढ़ी हुई हो पर महात्मा गाँधी के अतिरिक्त दूसरे किसी भारतीय नेता के सामने हमारा हृदय उस श्रद्धा से नहीं झुका जिस श्रद्धा से मालवीयजी के सामने झुकता था। उनका व्यक्तिगत जीवन उनके सार्वजनिक जीवन से भी अधिक पवित्र और सुन्दर था। निश्चय ही महात्माजी के सिवा दूसरा और कोई ऐसा आदमी दिखाई नहीं पड़ता जिसने इतना त्याग किया हो या विविध प्रकार के कार्यों का इतना बोझ सँभाला हो।* आज भारत की जिन विभूतियों पर हम कुछ गर्व कर सकते हैं, उनमें मालवीयजी का स्थान बहुत ऊँचा है और एक वही आदमी हैं जिनका नाम गांधीजी के साथ-साथ रक्खा जा सकता है।×

---

* "Next to Mahatma Gandhi it is difficult to find another man who has undergone so much sacrifice and has given such proofs of manysided activities" —P. C. Ray

× "To-day among India's public men Pt. M M. Malviya's place is second only to that of Mahatma Gandhi, and he is the only man fit to be bracketed with the sage of Sabarmati."

—G. Y. Chintamani

जीवन-तालिका

१८६१	२५ दिसम्बर	प्रयाग में जन्म । पिता द्वारा घर पर ही संस्कृत एवं हिन्दी की प्रारम्भिक शिक्षा । 'धर्म ज्ञानोपदेश पाठशाला' एवं 'विद्याधर्म-प्रवर्द्धनी सभा' में संस्कृत-अध्ययन । जिला स्कूल में अंग्रेजी शिक्षा ।
१८७९	....	इण्ट्रेंस पास करके म्योर सेण्ट्रल कालेज में प्रवेश ।
१८८१	...	इलाहाबाद में 'स्वदेशी तिजारत कम्पनी', कुछ मित्रों के साथ, खोली ।
१८८४	....	बी० ए० पास किया ।
१८८५	...	जिला-स्कूल में अध्यापन-कार्य ।
१८८६	...	कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भाषण । तब से बराबर कांग्रेस में सम्मिलित होते रहे । राजा रामपालसिंह से परिचय ।
१८८७	...	हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' का सम्पादन । 'इण्डियन यूनियन' का सम्पादन ।
१८९१	....	वकालत की परीक्षा पास की ।

१८९२	....	नागपुर कांग्रेस में 'भारत की गरीबी' पर महत्वपूर्ण भाषण।
१८९३	...	इलाहाबाद में वकालत शुरू की।
१९०२	...	प्रांतीय व्यवस्थापक सभा के सदस्य।
१९०५	अक्तूबर	प्रस्तावित हिन्दू विश्वविद्यालय का विवरण-पत्र प्रकाशित किया।
	३१ दिसम्बर	काशी कांग्रेस के समय टाउनहाल की विराट् सभा में विश्वविद्यालय की योजना का समर्थन।
१९०६	...	सनातनधर्म महासभा के प्रयाग अधिवेशन में विश्वविद्यालय की योजना का समर्थन।
१९०८	....	प्रयाग से हिन्दी साप्ताहिक 'अभ्युदय' निकाला तथा मित्रों की सहायता से 'लीडर' को जन्म दिया।
१९०९	दिसम्बर	लाहौर कांग्रेस के अध्यक्ष हुए।
		वायसराय की केन्द्रीय कौंसिल (आजकल की असेम्बली) के सदस्य चुने गये।
१९१०	....	प्रयाग से हिन्दी की राजनीतिक मासिक पत्रिका 'मर्यादा' निकाली।
१९१८	४ फरवरी	हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना।
	....	दिल्ली कांग्रेस का सभापतित्व।
१९१९	....	पंजाब हत्याकाण्ड के समय जाँच एवं सेवा।
१९१९—३३	....	हिन्दू महासभा-आंदोलन के मुख्य स्तंभ। स्वदेशी-आंदोलन, कांग्रेस आन्दोलन के मुख्य आधार। कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्य की हैसियत से गिरफ्तारी। बम्बई

में कानून-भंग के कारण गिरफ़्तारी और सज़ा। सन्धि और छुटकारा। गोलमेज़-सम्मेलन में विलायत गये। दिल्ली एवं कलकत्ता की कांग्रेसों के सभापति चुने गये।

१६४६ : १२ नवम्बर देहावसान।



लाजपत राय

लाजपत राय

['लालाजी' : पंजाब-केसरी]

जन्म	तिथि
२८ जनवरी १८६५ ई०	१७ नवम्बर १९२८ ई०

"Youth proclaimed him as a hero; time, a statesman;
love, a man;
Death has crowned him as a martyr,—so from goal to
goal he ran,
Knowing all the sum of glory that a human life
may span."

—E. W. WILCOX

× × ×

"यौवन ने उसे बहादुर, समय ने राजनीतिज्ञ, प्रेम ने मनुष्य घोषित किया ! मृत्यु ने उसे शहादत का ताज पहनाया—इस प्रकार मंजिल पर मंजिल वह तै करता गया । मानवजीवन में सम्भव सब प्रकार की विभूति एवं यश का अनुभव उसने किया ।"

—एला विलकाक्स

"मेरा मज़हब हक़परस्ती है। मेरी मिल्लत कौमपरस्ती है। मेरी इबादत खलकपरस्ती है। मेरी अदालत मेरा अन्तःकरण है। मेरी जायदाद मेरी कलम है। मेरा मंदिर मेरा दिल है। मेरी उमंगें सदा जवान हैं।"

—लाजपतराय ('वंदे मातरम्' के प्रथम अङ्क में)

—एक—

सत्ताईस वर्ष पहले

यदि भूलता नहीं तो १६२२ का साल था - या १६२१ का रहा हो। मतलब कुछ ऐसा ही था। बहन सरूपकुमारी (अब श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित) की शादी के दो-एक दिन इधर-उधर की बात है। इलाहाबाद में ज़िला राजनीतिक कान्फ्रेंस हो रही थी। महात्मा गांधी से लेकर बाबा रामचन्द्र तक—लगभग सभी नेता उस समय प्रयाग में उपस्थित थे। कुछ नेहरू-परिवार में विवाह के सम्बन्ध में, कुछ अन्य कारणों से। सरोजिनी, एण्ड्रूज़,लाजपतराय,मुहम्मदअली सब जमा थे। गर्मागर्म अफ़वाहें उड़ रही थीं। कोई कहता—स्थान स्थान पर मशीन गन (तोप चलानेवाली मशीन) लगा दी गई है; कोई कहता मुहम्मद अली गिरफ्तार होंगे; जवाहरलाल की गिरफ़्तारी की ख़बरें भी उड़ने लगी थीं। एक अजीब सनसनी फैली हुई थी। दिलों में एक अजब मस्तानापन था। यह अपने ढंग की पहली ही कान्फ्रेंस थी। फिर इतने नेताओं के एकत्र हो जाने से दूर-दूर की जनता उमड़ रही थी। उस समय युक्तप्रांत के किसान उद्वेलित हो रहे थे; उनके संघटन ने सरकार को चिंता में डाल दिया था। लालाजी कुछ ही दिन पहले अमेरिका से आये थे। चारों ओर एक हलचल मची हुई थी। यह असह-

योग का मध्याह्नकाल था। ऐसे ही समय कुमारी सरूपकुमारी की शादी हुई और ऐसे ही समय वह कान्फ्रेंस होने जा रही थी।

कान्फ्रेंस हुई और बड़ी शान से हुई। हिंदू मुस्लिम ऐक्य के पवित्र भावों ने राष्ट्र में उमंग का दरिया बहा दिया था। कान्फ्रेंस में दोनों जातियों के लोग शामिल थे—और खूब थे। मेरे लिए इतनी बड़ी राजनीतिक कान्फ्रेंस में शामिल होने का पहला अवसर था। मैं मंच के नीचे ही एक कोने में बैठा हुआ सिनेमा के चित्रपट की भांति सामने से गुज़रते हुए इन अद्भुत दृश्यों को देख रहा था! यदि मैं भूलता नहीं तो हिन्दी के राष्ट्रीय गायक कवि पं० माधव शुक्ल का 'यह हिन्द मेरा आज़ाद रहे, माता के सिर पर ताज रहे,' गायन पहली बार इसी कान्फ्रेंस में, शायद उन्हीं के द्वारा, गाया गया था। इस गाने से उस समय लोगों के दिल बल्लियों उछल रहे थे!

धीरे-धीरे एक के बाद एक नेता बोलने खड़े हुए। बोले; तालियाँ पिटीं और बोलकर बैठ गये। इतने में नाटे, मझोले, क़द का एक गठा हुआ पंजाबी मंच पर आकर खड़ा हुआ। किसी ने कहा—होगा कोई। पर दिल मानता न था। गांधी जी, मोतीलाल जी, जवाहरलाल, मुहम्मदअली इत्यादि को मैं पहले देख एवं जान चुका था। कहीं देखा है, ऐसा तो लगता है। याद आया, १६२० में काशी में देखा था पर यह है कौन? इतने में एक तरफ़ से आवाज़ आई—लाला लाजपतराय। अरे! यह लालाजी हैं, जिनकी क़लम का अमेरिकन भी लोहा मान चुके हैं। तन कर बैठ गया। लालाजी उठे, बोले और खूब बोले। मैंने देखा कि लालाजी के बोलने के ढंग पर पश्चिम का बड़ा प्रभाव पड़ा है। अंगों के आंदोलन में—'गेस्चर्स-पास्चर्स'—में, सिवाय श्री रंगा ऐयर के दूसरे किसी भारतीय को मैंने उनसे बढ़कर नहीं पाया। मंच पर भी वह बड़ी स्वतंत्रता से काम लेते थे। बोलते जा रहे हैं और पीछे फिरकर नीचे बैठे मौलाना मुहम्मदअली के कंधे पर एक धप जमाकर पूछते हैं—'क्यों भाई मुहम्मदअली,

ठीक है न ?' मनोरंजक व्याख्यान देने, बीच-बीच में हँसाते जाने की उनकी कला पहली बार वहीं देखी। वह बोलते थे, जनता के लिए। जनता पर काबू करना, उसे भावों से ओतप्रोत कर देना उनका काम था। इसी नींव पर उनका सारा सार्वजनिक जीवन खड़ा है। मैंने पहली बार उनका व्याख्यान सुना और पहली बार ही समझ गया कि यह व्यक्ति लोकप्रिय नेता क्यों है ? तब से लाला जी को और भी देखा, सुना, पास बैठकर बातें भी कीं पर पहली बार का वह चित्र भूला नहीं। यह एक जीवित आदमी था !

यह मेरा लालाजी का प्रथम दर्शन था !

—दो—

और चार वर्ष बाद !

'लाँग लिव् लाजपतराय, दि लॉयन ऑव् पंजाब, लाजपतराय दि लॉयन ऑव् पंजाब, इज़ डेड !' (पंजाब के शेर लाजपतराय चिरजीवी हों, पंजाब का शेर लाजपतराय मर गया !')१६२५ या २६ में देशबंधु दल के प्रसिद्ध अंग्रेज़ी दैनिक 'फारवर्ड' के किसी अग्रलेख की पहली लाइन यह थी। यह हिन्दू संगठन, शुद्धि और तब्लीग़ का ज़माना था। राष्ट्रीय एकता का बसंत आया और शैदाई बुलबुलों की बोली सुनाकर, बहार की दस बीस कलियाँ इधर-उधर खिलाकर, पुराने वृक्षों में सरसब्ज़ी पैदाकर चला गया। इधर गई—उधर गई; कोई जान भी न सका कि वह बहार किधर गई। वह दीवानापन, वह मस्ती जिसने शताब्दियों के दर्दनाक कारनामों को धो बहाया था, कब आई और कब गई। जब आई तब हम होश में न थे, जब होश हुआ तो वह चली गई। वे दिन—

मादकता से आये वे संज्ञा से चले गये थे !

जहाँ भाई-भाई मिलते थे, जहाँ दिल्ली की जामा मस्जिद में कट्टर आर्यसमाजी नेता स्वा० श्रद्धानन्द का 'वाज़' (उपदेश) होता था; जहाँ मुसल-

मान हिन्दू त्योहारों पर शर्बत पिलाते थे और हिन्दुओं ने मुसलमानों के लिए दिल का दरवाजा खोल दिया था, वहाँ यह क्या हो गया। भारत के राष्ट्रीय जागरण की यह अद्भुत प्रतिक्रिया थी। स्वप्न-जैसी। मानो कल ही ब्याहकर आई हुई लड़की आज विधवा हो गई हो! जो न होना चाहिए था, वही हो रहा था। जहाँ 'भारतमाता की जय' के नारे उछलते हुए दिलों से निकलकर आते थे, वहाँ 'हर-हर महादेव' और 'अल्लाहो-अकबर' एवं 'या अली' के नारे बुलन्द होने लगे। अखाड़ों के भाग्य चमके; लाठियाँ धड़ाधड़ बिकने लगीं। धर्म ने व्यवसाय का रूप पकड़ा। शुद्धि और तबलीग़ वाले 'ग्राहकों' पर इस तरह टूटे, जैसे पण्डे यात्रियों पर टूटते हैं! अविश्वास का कोहरा देखते-देखते सम्पूर्ण भारतीय आकाश पर छा गया। औरङ्गजेब और शिवाजी रङ्ग-मंच पर खींच-खींचकर लाये जाने लगे। कृष्ण और हज़रत मुहम्मद पर हमारे हृदय की गंदगी उबल पड़ी। दाढ़ी चोटी से जा भिड़ी और चोटी ने दाढ़ी की मुश्कें कसनी शुरू कीं। भाईचारे, विश्वास, सहिष्णुता, प्रेम और उदारता का दौर देखते-देखते खत्म हुआ और ईर्ष्या-द्वेष, दंभ, अविश्वास एवं अनुदारता का दुःखद एवं तूफानी दौर आया। बड़े बड़े डगमगा गये। ऐसा सैलाब आया जिसने पुराने तनों को खोखला कर दिया। हसरत मोहानी और सावरकर, इक़बाल और परमानन्द—इस क्षेत्र में! और लाला जी, मानों भारत का भाग्य फूट गया हो। वह लाला जी, जो पंजाब के शेर थे; वह लाला जी जिन्होंने कहा था—'मेरा धर्म देश पूजा है'; वह लालाजी जिन्होंने अमेरिका से, आग के शब्दों में लिखी हुई अपीलें निकाली थीं और वह लालाजी जिन्होंने मण्डाले देखा, असहयोग-आन्दोलन में जेलखाना देखा, वही लालाजी आज जातिगत झगड़ों के मैदान में! हिन्दू कैंप और मुस्लिम कैंप की इस मोर्चाबन्दी में लालाजी! कौन विश्वास कर सकता था कि

यह वही लालाजी हैं, इसलिए उस वीर राजपूतनी की तरह जिसने अपने युद्ध से भागकर आने वाले पति के लिए महल का दरवाजा बन्द करके कहा था कि यह मेरा पति नहीं हो सकता, मेरा पति इतना कायर कभी न होगा, 'फारवर्ड' ने हृदय की पीड़ा व्यक्त करके लिखा—

'लाजपतराय जीवित रहे पर लाजपतराय, पंजाब का शेर; मर गया!

हाय! ये कैसे हृदय-बेधक शब्द थे! यह भारत के दुर्भाग्य पर एक टिप्पणी थी!

× × ×

इस प्रकार के परिवर्तन लालाजी के जीवन में कई बार हुए। पर उनका कारण बताने अथवा उनके जीवन की आलोचना एवं विश्लेषण करने के पहले यह अच्छा होगा कि हम उनकी जीवन-कथा पाठकों को सुना दें।

—तीन—

जीवन-कथा

लालाजी के पूर्वज पंजाब के लुधियाना ज़िले में स्थित जगरांव के रहने वाले थे। इनके पिता लाला राधाकृष्ण भी समय-समय पर वहाँ रहा करते थे। लाजपतराय का जन्म २८ जनवरी १८६५ ई० को अपनी ननिहाल—ढोडिग्राम—में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा पिता की देख-रेख में हुई। पिता सरकारी शिक्षा-विभाग में काम करते थे, इसलिए उनकी बदली होती रहती थी। वह बालक लाजपत को बहुत मानते थे, इसलिए उसे भी जहाँ जाते साथ ले जाते थे। जरा बड़ा होने पर यह लुधियाना के मिशन स्कूल में पढ़ते रहे पर बाद में पिताजी की बदली होने पर उनके साथ अम्बाला चले गये। वहाँ एक बंगाली बाबू से अंग्रेज़ी पढ़ने लगे। उर्दू, फारसी और गणित स्वयं लाला राधाकृष्ण पढ़ाते थे। १८८० ई० में एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की। एण्ट्रेंस परीक्षा के बाद इन्हें छात्रवृत्ति मिलने लगी। तब यह पिता के अनुरोध से आगे पढ़ने के लिए

जन्म, बचपन और शिक्षा

लाहौर चले गये। उस समय सम्पूर्ण पंजाब (दिल्ली-सहित) में लाहौर में ही एक कालेज था। दिल्ली का कालेज १८७७ ई०में तोड़ दिया गया था। जब एफ० ए०में पढ़ रहे थे तभी मुख्तारी की परीक्षा पास की। लाहौर में छात्रावस्था में ही, स्व० गुरुदत्तजी, ला० हंसराज इत्यादि से परिचय हुआ तथा यहीं यह मेजर बी० डी० वसु के भाई एवं 'ट्रिब्यून' के जन्मदाता श्रीशचन्द्र वसु से मिले। उस समय श्री वसु नवयुवकों के उत्साह के एक केन्द्र थे। उनके तथा अन्य लोगों के सम्पर्क से लालाजी के अन्दर सार्वजनिक सेवा के भाव उदय हुए। इनके पिता भी लेखादि लिखा करते थे; उसका भी इनके जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

मुख्तारी की परीक्षा पास करने के बाद 'लाला जी' जगरावँ में ही मुख्तारी करने लगे। वहाँ मुख्तारी चल भी निकली थी पर कुछ दिनों बाद यह रोहतक आ गये और वकालत की तैयारी करने लगे। १८८५ ई०में वकालत की परीक्षा पास की। १८८६ ई० में हिसार में वकालत शुरू की।

वकालत और आर्य-समाज में प्रवेश

१८९२ ई० तक वहीं वकालत करते रहे। यहाँ सफलता भी मिली। अप्रैल १८९२ ई० में मित्रों के अनुरोध से लाहौर चले आये। वहाँ आने पर आर्यसामाजिक संस्थाओं की इन्होंने विशेष उन्नति की। जब यह पढ़ते थे तो देव-समाज के संस्थापक श्री अग्निहोत्री की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुए थे। देव-समाज ब्रह्म-समाज का ही एक संस्करण था। पर पीछे आर्य-समाज ने इनको अपनी ओर खींच लिया। उन दिनों आर्य-समाज की धूम थी। स्वामी दयानन्दजी का प्रभाव खूब बढ़ा हुआ था। १८७७ में उन्होंने लाहौर में आर्य समाज स्थापित किया। १८८२ ई०में 'लालाजी', स्व० गुरुदत्तजी एवं ला० हंसराज इत्यादि के साथ, आर्यसमाज में शामिल हुए। ये लोग पढ़ते भी थे और आर्य-समाज का काम भी करते थे। उन दिनों हिंदी-उर्दू का भी विवाद चलता था। ये लोग हिन्दी के पक्ष में थे। इसी समय (कार्तिक कृष्णा,

अमावस्या—दीवाली—संवत् १६४० को) स्वामी दयानन्द का अजमेर में देहान्त हुआ। उस समय आर्य-समाज लाहौर की ओर से शोक प्रकट करने के लिए जो सार्वजनिक सभा हुई उसमें लालाजी बोले और ऐसा बोले कि जनता पर उनकी वक्तृत्व शक्ति का उसी दिन से सिक्का जम गया। इनके तथा अन्य लोगों के प्रयत्न से १८८६ ई० में लाहौर में, स्वामीजी के स्मारक में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना हुई।

हिसार की सेवाएँ

जब यह हिसार में वकालत करते थे तब भी सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते रहते थे। बहुत दिनों तक हिसार की म्युनिसिपल कमिटी के अवैतनिक मंत्री भी रहे। स्वतन्त्र विचार और निर्भीकता आरंभ से ही उनकी विशेषताएँ थीं। जिसे ठीक समझते, करते। एक घटना याद आती है। जब वह म्युनिसिपलिटी के सेक्रेटरी थे तब एक बार पंजाब के छोटे लाट दौरा करते हुए हिसार पहुँचे। हिसार के डि० कमिश्नर म्युनिसिपलिटी के सभापति थे। म्युनिसिपलिटी में यह विवाद उपस्थित हुआ कि छोटे लाट को मानपत्र ('एड्रेस') अंग्रेजी में दिया जाय या उर्दू में। डिपुटी कमिश्नर अंग्रेजी पर जोर दे रहे थे। क्योंकि इससे उन्हें स्वयं मानपत्र पढ़ने का मौका मिलता; फिर जो चाहते लिखते। लालाजी चाहते थे कि उर्दू में दिया जाय क्योंकि इसे वही पढ़ते और जनता के कष्टों का उल्लेख किये बिना न रहते। बड़ा वाद-विवाद हुआ पर लालाजी टस से मस न हुए। फलतः उन्हीं की बात रही। उन्होंने ही मानपत्र लिखा और पढ़कर सुनाया एवं प्रजा के कष्टों का वर्णन करने से भी न चूके।

हिसारमें उन्होंने अनाथों के लिए एक उद्योग-शाला भी स्थापित की थी।

श्री गुरुदत्त विद्यार्थी एवं श्री श्रीशचन्द्र वसु के उत्साहवर्द्धन एवं पथ-प्रदर्शन से इनमें दिन-दिन सार्वजनिक सेवा का भाव बढ़ा। श्रीगुरुदत्त के अनुरोध से ही यह लाहौर आये। लाहौर आने से पहले दयानन्द कालेज का थोड़ा बहुत काम तो करते ही रहते थे पर यहाँ आकर विशेष

रूप से उसकी उन्नति के कार्य में लग गये। कई वर्ष तक यह उक्त कालेज की प्रबंध-समिति के अवैतनिक मंत्री रहे। बाद में बहुत दिनों तक उपसभापति भी रहे। कई वर्षों तक निःस्वार्थ भाव से उसमें अध्यापक का भी काम किया। यहाँ यह इतिहास पढ़ाया करते थे। इतिहास और शिक्षा-विज्ञान का इनका अच्छा अनुभव था। १९०५ ई० में अमेरिका की शिक्षा-संस्थाओं के अवलोकनार्थ भी गये थे। वहाँ से लौटकर उर्दू तथा अंग्रेज़ी में राष्ट्रीय शिक्षा पर पुस्तकें लिखीं।

लाहौर में—

आर्य-समाज की सेवा में इनका ध्यान अनाथों की ओर विशेष रूप से आकर्षित हुआ। आर्यसमाजियों में शायद लाला जी पहले आदमी थे जिन्होंने संगठित रूप से, ईसाइयों के ढंग पर, अनाथों के लिए अनाथालयों की स्थापना की। संवत् १९५३ (१८९६ ई०) में उत्तर भारत में भयंकर अकाल पड़ा। लोग दाने-दाने को तरस रहे थे। कितनों ने अपने बच्चों को बेच दिया; कितने माता पिता अपने लाड़लों को छोड़कर चलते बने; कितने विधर्मी हो गये; कितनी बहनों ने पापी पेट की भूख मिटाने के लिए अपनी इज्ज़त बेच दी। उस समय लाला जी का कोमल हृदय यह दृश्य देखकर व्यथित हो गया। उन्होंने सैकड़ों मनुष्यों को इस कष्ट से बचाया। इसके बाद ही संवत् १९५६ (१८९९ ई०) में राजपूताना में भयंकर अकाल पड़ा। तब भी लाला जी ने लोगों की बड़ी सहायता की। पंजाब सरकार तक को उनके अनाथ-रक्षा सम्बन्धी कार्य की तारीफ़ करनी पड़ी और जब १९०१ ई० में भारत-सरकार ने 'फैमीन कमीशन' (दुर्भिक्ष कमीशन) बैठाया तब पंजाब की ओर से लाला जी ही साक्षी नियुक्त हुए। इसमें उनकी गवाही बड़े मार्के की हुई। उन्होंने अनाथ-रक्षा सम्बन्धी कई बातें सुझाईं; कमीशन ने उनमें से कुछ की सिफ़ारिश भी की पर सरकार ने उधर विशेष ध्यान न दिया।

अनाथों की रक्षा तथा जन-सेवा

सन् १९०५ ई० में उन्होंने लाहौर आर्य-समाज की ओर से एक सहायक-समिति स्थापित की। यह आजकल की सेवा-समिति के ढंग पर थी। इसी साल भारत में भूकम्प हुआ। काँगड़ा (पंजाब) में इसका विशेष असर हुआ। कितने ही घर गिर गये; कितनी ही जानें गईं। उस समय लालाजी दल-बल-सहित वहाँ पहुँच गये। उनकी बड़ी सेवा-सहायता की। दिन-रात इधर-उधर दौड़ते फिरते थे। इन सब कार्यों के साथ जगह-जगह चंदा उगाहने के लिए भी जाना पड़ता था।

सन् १९०७–८ में उड़ीसा, मध्यप्रदेश एवं युक्तप्रांत में फिर भयंकर अकाल पड़ा। उस समय भी उन्होंने अकाल-पीड़ितों की बड़ी सहायता की। जगह-जगह घूमकर चंदा इकट्ठा किया और स्वयंसेवकों के द्वारा धन की तथा अन्य प्रकार की सहायता लोगों को पहुँचाई। इस सहायता का उल्लेख सरकार ने भी अपनी मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में किया था।*

---

*सन् १९११ की संयुक्तप्रांत की रिपोर्ट में लालाजी की इस सहायता का उल्लेख करते हुए बर्न साहब लिखते हैं—"The emissary of a well known Arya leader came round distributing relief during the famine of 1907-08 and visited a certain village near which I had encamped. After his visit, the recipients of his bounty being not quite sure whether they were doing right in accepting private charity when Government was looking after them, sent a deputation to ask me whether they might keep his gifts. I, of course, told them to take all they could get, and then their leader asked me who was the man (the Arya leader) who was distributing money in this wholesale way." अर्थात् "आर्य-समाज के एक प्रसिद्ध नेता का एक प्रतिनिधि १९०७-८ के अकाल के समय चारों तरफ सहायता के लिए धन बाँटता हुआ आया और उस गांव में भी आया जिसके निकट मैंने पड़ाव डाला था। उसके जाने के बाद, उसकी उदारता से लाभ उठाने वालों ने, सहायता लेने न लेने के औचित्य का कुछ निश्चय न कर सकने के कारण,

आधुनिक समय में हरिजनों की समस्या को महात्मा गांधी ने बड़े बल-पूर्वक हिन्दू-समाज के सामने रखा और इस पाप का चिह्न मिटा डालने के लिए उन्होंने प्राण तक उत्सर्ग कर देने का निश्चय करके अपूर्व उदाहरण देश के सामने उपस्थित किया। लाला जी का भी इधर बहुत ध्यान था। सन् १९१२-१३ ई० में अछूतों की दुर्दशा के प्रति कट्टर हिन्दुओं का ध्यान आकर्षित करने के लिए उन्होंने काशी, प्रयाग, बरेली, मुरादाबाद इत्यादि की यात्रा की; उनके उद्धार के लिए व्याख्यान दिये। सन् १९१३ में गुरुकुल काँगड़ी में जो अछूत-सम्मेलन हुआ था उसके यही सभापति थे। इसी साल चालीस हज़ार रुपये अछूत जातियों में शिक्षा-प्रचार के लिए भी उन्होंने दिये। ईसाइयों की 'मुक्ति सेना' (सैलवेशन आर्मी) की भाँति एक समिति भी बन गई। लालाजी ने कुमाऊँ इत्यादि में जाकर स्वयं अछूतों की स्थिति की जाँच की और बड़ी हृदय-द्रावक भाषा में प्रयाग के 'लीडर' नामक अंग्रेज़ी दैनिक पत्र में, उनके सम्बन्ध में, एक लेख लिखा। इस सम्बन्ध में युक्तप्रांत के तात्कालिक लाट सर जेम्स मेस्टन से भी वह मिले थे। और बाद में तो उनकी जन-सेवक-समिति के अनेक कार्यकर्ताओं ने अपना सारा समय अछूतोद्धार कार्य में लगाया।

हरिजनों की सेवा

लाला जी के कांग्रेस में शामिल होने के साथ एक मनोरंजक पर दुःखद इतिहास लगा हुआ है। जब कांग्रेस का आरम्भ हुआ तो सरकार की उससे सहानुभूति थी। गवर्नर-जेनरल लार्ड डफरिन ने भी कई बार उससे सहानुभूति प्रकट की थी पर पीछे ज़ोर बढ़ता देख वह विरक्त हो गये—यहाँ तक कि एक वक्तृता में उन्होंने असंतोष भी प्रकट कर दिया। उस समय पश्चिमोत्तर

राजनीति में प्रवेश

मेरे पास डेपूटेशन भेजा कि सहायता लें या न लें। मैंने उनसे कह दिया जो मिले ले लो। तब डेपूटेशन के नेता ने मुझसे पूछा कि वह कौन है जो इस प्रकार उदारता से धन बाँट रहा है।"

प्रान्त (इस समय का युक्तप्रांत) के छोटे लाट सर आकलैण्ड काल-विन थे। वह कांग्रेस के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने भिनगा-नरेश के नाम से 'प्रजातंत्र भारत के लिए सुविधाजनक नहीं है' (डेमोक्रेसी इज़ नॉट सूटेड टु इण्डिया) नाम की एक पुस्तिका भी निकाली थी। यह बात पीछे मालूम हुई कि इसके लेखक दरअस्ल कालविन साहब ही थे। इसमें कांग्रेस का प्रबल विरोध किया गया था। उधर सरकार ने जब देखा कि लोगों में देशभक्ति के भाव फैल रहे हैं तो सर सैयद अहमद इत्यादि को ऐसा भड़काया कि वे कांग्रेस के विरुद्ध हो गये। सर सैयद, काशी के राजा शिवप्रसाद, मुंशी नवलकिशोर तथा भिनगा-नरेश इनमें मुख्य थे। पिछले तीनों से तो आशा ही क्या थी पर सर सैयद भी चकमे में आ गये। यह वही सर सैयद थे जो पहले भारतीय आकांक्षाओं के प्रबल समर्थकों में थे; यह वही सर सैयद थे जिन्होंने लाहौर के 'इण्डियन असोसिएशन' के सामने, अभिनंदन पत्र के उत्तर में, बोलते हुए कहा था—"हिन्दू-मुसलमान दोनों मेरी आँखें हैं। काश मेरे एक ही आँख होती, एक ही आँख से दोनों को देखता;" यह वही सर सैयद थे जिन्होंने अपने भाषण में कहा था कि बंगाली भारतवर्ष के मस्तिष्क हैं;—वही सर सैयद ऐसे बदले कि दोनों आँखों को एक दूसरे से लड़ा दिया। मुसलमानियत ('पान इस्लामिज़म') का खब्त उनपर सवार हुआ। उनके इस परिवर्तन पर हिन्दी के उस पुराने पत्रकार (स्व० बालमुकुन्द गुप्त) को 'सैयद का बुढ़ापा' में रोना पड़ा—

> द्रव्य पाय के अपने मन में अब वह इतना फूल गया।
> बड़ा अचम्भा है दो दिन में सब पिछली गति भूल गया॥
> कीड़ों ने 'असबाबे बग़ावत'* के अबतक नहिं खाया है।
> उल्था करनेवाला भी भूतल में नहीं समाया है॥

* सर सैयद ने १८५७ के ग़दर पर 'असबाबे बग़ावत' नाम की एक अच्छी पुस्तक लिखी थी; उसी की ओर इशारा है।

बोलो तो बुड्ढे बाबा क्या उस सनेह का हुआ निचोड़ ।
भूल गये पंजाब-सफर में तुम जो आँख रहे थे फोड़ ॥
हिन्दू और मुसलमानों को एकहि-सा बतलाते थे।
आँख फोड़ने को अपनी झटपट प्रस्तुत हो जाते थे ॥

× × ×

करके द्रोह दीन-दुखिया लोगों से क्या पद पाओगे ?
अपना नाम बड़ा कर लोगे देश का नाम मिटाओगे ॥
कारूँ और शद्दाद के झगड़े अब इस समय कहानी हैं ।
पर कलंक औ अपयश की तो चिरस्थायिनी बानी हैं ॥
वह दिन गये वक्तृता देते आँसू टप-टप गिरते थे ।
नैन तुम्हारे दीन-हीन लोगों से कभी न फिरते थे ॥

× × ×

स्मरण हमें इस अवसर पै साद़ी का कहना आता है ।
ज्यों-ज्यों नर बूढ़ा होता है लोभ अधिक आ जाता है ॥

'लालाजी' के पिता सर सैयद के बड़े भक्त थे। उनका 'सोशल रिफार्मर' (समाज-सुधारक) पत्र वह बड़े चाव से पढ़ा करते थे; पुत्र को भी पढ़ाते थे। पर अकस्मात् उनके विचारों में यह परिवर्तन देख अचंभे में आ गये। उन्होंने लाहौर के 'कोहनूर' नामक उर्दू अखबार में कई खुली चिट्ठियाँ सर सैयद के नाम छपवाईं। लाजपतरायजी ने इनका अंग्रेज़ी अनुवाद किया तथा स्वयं भी अंग्रेज़ी में कई खुली चिट्ठियाँ छपवाईं जिनमें सर सैयद के पहले के और उस समय के परिवर्तन की तुलना करके दुःख प्रकट किया गया था।

सर सैयद कांग्रेस का व्यक्तिगत रूप से विरोध करके ही नहीं रह गये; उन्होंने एक विरोधी सभा ('एएटी-कांग्रेस') भी स्थापित की।

यह असहयोग-काल की अमन-सभाओं की भांति थी। सरकार ने बाधाएँ डालीं; इस सभा ने भी विरोध का तूफ़ान खड़ा किया फिर भी चौथी कांग्रेस प्रयाग में श्री यूल के सभापतित्व में शान से हुई। उसमें लाजपतराय भी आये थे। उस समय यह सिर्फ़ २३ वर्ष के थे पर, कौंसिल-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव के समर्थन में खूब बोले। उससे उनकी तरफ़ लोगों का ध्यान गया। 'रईस ऐण्ड रैयत' इत्यदि पत्रों ने उस व्याख्यान को लेकर उनकी प्रशंसा की। *

इसी समय से उनका कांग्रेस के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ। सन् १९०५ ई० में कांग्रेस की ओर से श्री बिशन नारायन दर, श्री गोखले

कांग्रेस डेपूटेशन में

एवं लालाजी को इंग्लैण्ड भेजकर वहाँ पार्लमेण्ट के सदस्यों के सामने भारतीय स्थिति में सुधार की

---

* 'रईस ऐण्ड रैयत' ने अपने साहित्यिक स्तंभों में लिखा—

"To hear this very youngman of short stature is to be agreeably surprised. Who could a f w minutes before believe that he was capable of so much ? × × His intelligent. intellectual expression is a true index to his real worth. With remarkable effect, did he quote Sir Syed's former heretic (judged from his present attitude) professions from a very valuable pamphlet "Open Letters to Sir Syed Ahmed", whose authorship some people would father upon him. He gave fair promise of a first rate speaker. He should cultivate the art."

भावार्थ यह कि "इस नाटे कद के नवयुवक की वक्तृता सुनने से प्रसन्नता के साथ आश्चर्य हुआ। चंद मिनटों पहले किसे विश्वास था कि वह इतना सुन्दर भाषण दे सकेगा? उसकी बौद्धिक एवं चतुराई से पूर्ण वक्तृता उसकी असली योग्यता की सूचक है। अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से उसने सर सैयद के पहले के मत का उदाहरण देकर उनके इस समय के मत की आलोचना की।..................उसमें प्रथम श्रेणी के वक्ता होने के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। उसे इस कला को विकसित करना चाहिए।"

समस्याएँ रखने का निश्चय हुआ। श्री दत्त तो बीमारी के कारण न जा सके पर श्री गोखले एवं लालाजी गये। इंग्लैण्ड में लालाजी ने लोगों के सामने भारतीयों की स्थिति रक्खी। एक महीने में ४० व्याख्यान दिये; पत्रों में लेख लिखे; कितने ही प्रतिष्ठित आदमियों से मिले। पर वहाँ जो अनुभव हुए उससे उन्होंने समझ लिया कि भिक्षा-वृत्ति से काम नहीं चल सकता और पैरों पर ही खड़ा होना पड़ेगा। यही संदेश लौट कर उन्होंने भारत-वासियों को दिया।

बंगाल नवीन भारत की जागृति का केन्द्र हो रहा था। एक नया भाव लोगों में फैल रहा था, एक नूतन प्राणोन्मेष हो रहा था। यह भारतीय संस्कृति का जागरण अधिकारियों से देखा न गया। १९०५-६ में तात्कालिक वायसराय लार्ड कर्ज़न ने बंगाल को दो टुकड़ों में विभक्त करके राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए प्रभाव को दबाना चाहा। बंगालियों ने एक स्वर से विरोध किया पर उनकी पुकार पर कुछ ध्यान न दिया गया। निराश होकर बंगालियों ने सत्याग्रह आरंभ किया। विलायती वस्तुओं के बहिष्कार एवं स्वदेशी के उपयोग का ऐसा आंदोलन उठा कि वह देखते-देखते तूफ़ान की तरह भारत में छा गया। लालाजी ने भी समर्थन किया। स्थान-स्थान पर घूम-घूमकर भाषण किये और जनता को जगाने लगे। सरकार ने दमन का सहारा लिया। अनेक देशभक्त जेलों में ठूँस दिये गये। इसी समय काशी की कांग्रेस श्रीगोखले के सभापतित्व में हुई। इसमें लालाजी ने कहा—

बंगभंग

"......An Englishman hates or dislikes nothing like beggary. I think a beggar deserves to be hated. Therefore, it is our duty to show Englishman that we have risen to the sense of consciousness, that we are no longer beggars......" अर्थात् "एक अंग्रेज भीख माँगने से अधिक किसी बात को घृणा या नापसंद नहीं करता। मैं

समझता हूँ कि भिक्षुक इसी योग्य है कि उससे घृणा की जाय। इसलिए अंग्रेज को यह दिखा देना हमारा कर्तव्य है कि हमें अपनी अवस्था का अनुभव हो गया है और अब हम भिक्षुक नहीं हैं...।" इस कांग्रेस के बाद ही देश में दो राजनीतिक दल हो गये—गरम, नरम। पहले में लाल-बाल-पाल (लाजपतराय, बाल गंगाधर तिलक, विपिन चंद्र पाल) प्रधान थे और दूसरे में सर फीरोजशाह मेहता, गोखले, सुरेन्द्रनाथ और मालवीयजी इत्यादि थे। देश में चारों ओर 'लाल-बाल-पाल' की धूम थी।

काशी कांग्रेस के बाद देश की स्थिति और भयंकर हो गई। बंगाल में दमन से हाहाकार मच गया। धर-पकड़ एवं तलाशियों की धूम थी। बारीसाल में बंगाल प्रांतीय कान्फ्रेंस का अधिवेशन होने वाला था। ए० श्री रसूल उसके सभापति मनोनीत हुए थे पर वहाँ के जिला मजिस्ट्रेट श्री इमर्सन ने कान्फ्रेंस न होने दी। सुरेंद्रनाथ को गिरफ्तार कर लिया और उन पर ५००) जुर्माना किया। इससे असंतोष की आग और भड़की। उस समय 'लालाजी' घूम-घूमकर व्याख्यान दे रहे थे। उसी साल कलकत्ता में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कांग्रेस हुई। उन्होंने स्वराज को ही सारे मर्ज की दवा बताकर सबको दृढ़ रहने का उपदेश किया। बाद में पंजाब में भी असंतोष फैल गया। उस समय लालाजी ने जनता में जागृति उत्पन्न करने में अपनी शक्ति लगा दी। फल-स्वरूप पंजाब-सरकार के अनुरोध पर भारत सरकार ने देश-निकाले की आज्ञा जारी कर दी।

पंजाब की अशान्ति

बंगाल की छूत पंजाब में भी फैल गई थी। सन् १६०७ में पंजाब क्षुब्ध-सा हो रहा था। पंजाब के कुछ हिस्सों में बस्ती बसाने के लिए सरकार लोगों को ले गई और बस जाने पर उन-पर कर लगाने का विचार किया। भूमि-कर सम्बन्धी नियमों में भी वह फेरफार करना चाहती थी। इस समय लाहौर के

गोरे समाचार पत्र 'सिविल ऐण्ड मिलिटरी गजट' में भी भारतीयों के प्रति ईर्ष्या-द्वेषपूर्ण लेख निकलने लगे। 'सिंचाई-कर' में भी वृद्धि हुई; लोकप्रिय 'पंजाबी' पत्र पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और उसका, जनता की राय में, जो अनीतिपूर्ण फैसला हुआ उससे असन्तोष की आग सुलग गई। इस जागृति का उपयोग करने के लिए सरदार अजीतसिंह ने 'अंजुमन मुहिब्बाने वतन' (देश-प्रेमियों की सभा) स्थापित की। प्रति रविवार को इसका अधिवेशन होता था। हजारों की भीड़ होती थी; लाहौर के बाहर के लोग भी आते थे। सरदार साहब के व्याख्यान बड़े जोशीले होते थे। पंजाब में घूम-घूमकर उन्होंने व्याख्यान दिये। उस समय की पंजाब और बंगाल की जागृति का क्या कहना था! देश ने १८५७ के ५० वर्ष बाद, अपने अन्दर एक नई चेतना का अनुभव किया था। जिस प्रकार बंगाल के प्राणों से 'के बले मां तुमि अबले?' स्वर उठ रहा था वैसे ही पंजाब के घर-घर में 'पगड़ी सँभाल ओ जट्टा!' * गीत गाये रहे थे। पंजाब के जाटों में यह जागृति देखकर सरकार घबरा उठी थी। अंत में

---

*यह गीत बहुत बड़ा है पर दो चार पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

पगड़ी सँभाल ओ जट्टा! टेक॥
असांनु पता नाहीं रंज हो जावना।
साडीयां कूकां साडा कुछ न बन आवना।
काहनु करदे ऐडे जोश उबाल ओ। पगड़ी०॥

× × ×

लिख लिख चिट्ठियां ऐ वे साडनु घल्लियां।
कूड़ होगइयां लोको सबोलरघल्लियां॥
मेढा कीती थी पिच्छे हाल ओ हालो॥ पगड़ी०॥

उसने सरदार अजीतसिंह और लाला लालपतराय को निर्वासित कर दिया।

× × ×

निर्वासन-सम्बन्धी कुछ प्रासंगिक घटनाओं की चर्चा यहाँ ज़रूरी हो जाती है। 'मेरे निर्वासन की कहानी' (The Story of My Deportation) में लालाजीने उनका विस्तार के साथ वर्णन किया है पर यहाँ अत्यंत संक्षेप में मैं उन्हें देता हूं।

कुछ प्रासंगिक घटनाएँ

बात यह है कि रावलपिण्डी के लाला गुरुराम एडवोकेट, लाला हंसराज तथा ला० अमोलक राम प्लीडर बड़े ही देश-प्रेमी थे। वे लोग कभी कभी एकत्र होकर देशसेवा-सम्बन्धी बातों की चर्चा किया करते थे। १० अप्रैल १९०७ को वहाँ के ज़िला मजिस्ट्रेट (मि० पी० डी० ऐग्यू) ने निम्नलिखित विचित्र नोटिस इन लोगों के नाम जारी की—

"लाला गुरुदासराम एडवोकेट, लाला हंसराज प्लीडर, लाला अमोलक राम प्लीडर—मेरे पास यह रिपोर्ट पहुँची है कि कुछ दिन पहले इस शहर में एक सभा हुई थी, जिसमें अजीतसिंह नामक एक मनुष्य मुख्य वक्ता था। सुना जाता है कि लाला हंसराज उस सभा के सभापति थे। सभा के संयोजक और मंत्री लाला अमोलकराम थे और वक्तृता देनेवालों

ऐक्ट पास जेड़ा होना सी हो गया।
इक जेड़ा जेड़ा खोना सी खो गया।
हुन की करिए दस्सी मेरा सवाल हो। पगड़ी० ॥

× × ×

निरियां गल्लां नाल कुझ नहीं बनदा।
उड़ो काज करो कोई वतन दा॥
बाजिया छुटी जांदा देस बंगाल ओ॥ पगड़ी० ॥

इत्यादि

में भी एक वक्ता लाला अमोलक राम थे। मुझे यह भी खबर मिली है कि अजीतसिंह की वक्तृता अत्यन्त राजविद्रोह फैलाने वाली थी और गुरुदासराय की वक्तृता भी ऐसी ही थी। उनकी वक्तृता में बंदोबस्त के कलक्टर और मजिस्ट्रेट मि० किचन पर कठोर आक्षेप थे। इसलिए आप लोगों को यह नोटिस देता हूं कि आगामी दूसरी मई के ११ बजे दोपहर को इसके सम्बन्ध में तहकीकात करूँगा, इसलिए आप लोगों को उस समय वहाँ उपस्थित होने की अनुमति देता हूं। वहाँ आप लोग इस सम्बन्ध में जो कुछ कहेंगे वह भी ध्यानपूर्वक सुना जायगा। इस तहकीकात करने के दो उद्देश्य हैं,—(१) ताज़ीरात हिन्द की १२४ और ५०५ धारा के अनुसार आप लोगों पर मुकदमा चलाने के यथेष्ट प्रमाण प्रस्तुत हैं या नहीं। (२) यदि तहकीकात में ये बातें निश्चय हो जायँ तो फिनानशल कमिश्नर और चीफ़ कोर्ट की सेवा में, आप लोगों के पास रेवेन्यू एजेण्टों के जो लाइसेंस हैं उन्हें रद्द करने अथवा कानूनी व्यवसाय कानून (Legal Practitioner Act) के ४१—३७ वीं धारा के अनुसार जैसी स्थिति हो उसके मुताबिक करने कि आज्ञा प्राप्त करने को प्रार्थना की जाय। कृपया इस नोटिस के नीचे लिख दें—देख लिया।

(हस्ता०) पी० डी० एग्यू,

जिला मजिस्ट्रेट।

३० अप्रैल १९०७।"

यह नोटिस गैर-कानूनी और हास्यास्पद थी। आज तक भी अन्यत्र ऐसी नोटिस नहीं देखी गई पर यहाँ तो किसी तरह इन्हें नीचा दिखाना था। लालाजी को समाचार मिला; वह तुरन्त पहुँचे। सलाह-मशविरे के बाद यह ते पाया कि इन लोगों में से कोई अदालत न जाय। इनकी ओर से वकील कर दिये गये। लोगों में नोटिस की अफवाह फैल गई। ठट्ट के ठट्ट आदमी इन लोकप्रिय नेताओं का मुकदमा देखने

अदालत में उपस्थित हुए। मजिस्ट्रेट ने जब यह दृश्य देखा तो कह दिया, 'मुकदमा आज न होगा; पीछे तारीख की सूचना दे दी जायगी।' इधर जनता इतनी उतावली हो रही थी कि उसने जुलूस निकालना चाहा। लाला जी से व्याख्यान देने के लिए कहा गया; उन्होंने इन्कार कर दिया पर भीड़ हटती न थी इसलिए विवश होकर दोपहर को व्याख्यान देने का वादा करना पड़ा; इसके बाद समाचार मिला कि कुछ उजड्ड आदमी डिप्टी कमिश्नर के बंगले के अहाते में गड़बड़ कर रहे हैं तथा कुछ लोग जिला जज की कोठी की तरफ भी गये हैं। अब सभा करके इस प्रकार के कृत्यों की निन्दा करना आवश्यक हो गया पर इस बीच ज़िला मजिस्ट्रेट ने लाला जी को बुला कर कहा—"सभा ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई है, पुलीस को कारतूस दे दिये गये हैं एवं घुड़सवार सेना भी बुला ली गई है। यदि सभा हुई तो गोलियां चलाई जाएँगी।" खैर सभा तो स्थगित कर दी गई फिर भी सारी रात धर-पकड़ होती रही। ३ मई को लाला जी के ये सब वकील मित्र तथा और भी दो एक मित्र गिरफ़्तार कर लिये गये। लाला जी ने इन मित्रों को छुड़ाने का बीड़ा लिया और आन्दोलन करने में लग गये।

निर्वासन के दृश्य

युरोपियन राज-कर्मचारी लाला जी से जलते थे। वे दाँत पीस रहे थे। लाला जी की गिरफ़्तारी की अफ़वाह भी गर्म थी। उस समय लाला जी के बड़े लड़के (जो इस समय शायद बैरिस्टर हैं) लाहौर में थे। स्त्री, पुत्र, पुत्री सब लुधियाना, उनके ससुराल, में ही थे। लाला जी को वृद्ध पिता की चिन्ता अधिक थी। उन्होंने पिता को पत्र लिखा और चिन्ता न करने का अनुरोध किया। यद्यपि लालाजी ने कोई ग़ैर-क़ानूनी काम न किया था इसलिए उनको विश्वास न था कि सरकार देश-निकाले का अदूरदर्शितापूर्ण काम करेगी, फिर भी उन्होंने अपने को तैयार रखना ज़रूरी समझा। उन्होंने दूसरे प्रान्त के नेताओं को पंजाब की परिस्थिति के सम्बन्ध में पत्र भेजे; सर

विलियम वेडरबर्न के पास चिनाब नहर की कर-वृद्धि के सम्बन्ध में एक पत्र, आवश्यक कागज़ों के साथ, भेजा। विलायत भी एक मित्र को पत्र लिखा। इसमें लिखा—"पता नहीं विलायती डाक के दिन मैं पत्र लिखने में समर्थ होऊँगा या नहीं इसलिए यह पत्र इतनी जल्दी भेज रहा हूं।" पत्र लिखकर भोजन किया। फिर दो पत्र और लिखे। इसके बाद एक लेख लिखा। फिर चिट्ठियाँ, लेख आदि जेब में रखकर चीफकोर्ट जाने के लिए गाड़ी तैयार करने की आज्ञा दी।

"आपसे मिलना चाहते हैं।"

लालाजी अदालत जाने के लिए तैयार हो रहे थे कि उनके मुंशी ने खबर दी—"दो आदमी आपसे मिलना चाहते हैं।" लाला जी उनकी अभ्यर्थना को बाहर आये तो देखा कि एक सज्जन शहर और दूसरे अनारकली थाने के थानेदार हैं। सिटी पुलीस के इन्सपेक्टर ने लालाजी से कहा कि आपसे कमिश्नर और डिपुटी कमिश्नर मिलना चाहते हैं, शीघ्र चलिए। लाला जी ने सोचा कि शायद अफ़सरों ने उन्हें अशान्ति-निवारण के लिए प्रयत्न करने के सम्बन्ध में बुलाया है। इसलिए बोले—"मुझे कचहरी में कुछ काम है अतः वहाँ से लौटते समय में कमिश्नर साहब से मिलूंगा।" शहर के थानेदार ने कहा—"कमिश्नर साहब डिस्ट्रिक्ट आफ़िस में हैं; चंद मिनटों के लिए ही आपसे मिलना चाहते हैं। आप उनसे मिलकर कचहरी जा सकते हैं।"

लालाजी को कुछ सन्देह हुआ। वह दोनों थानेदारों के साथ गाड़ी में बैठ गये। अभी गाड़ी थोड़ी ही दूर चला था कि जिला पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट, एक और अंग्रेज़ के साथ, कूदकर गाड़ी के पायदानों पर चढ़ गये। लालाजी के आग्रह करने पर वे भी अन्दर बैठे। आफ़िस में पहुँचने पर कमिश्नर ने उन्हें सपरिषद् बड़े लाट-द्वारा निकाली गई निर्वासन की आज्ञा सुनाकर कहा—"आप गिरफ़्तार किये गये हैं और आपको देश-निकाला होगा; हाँ व्यवहार सज्जनतापूर्ण किया जायगा।" कमिश्नर

से पूछा—"क्या निर्वासन के पहले आप किसी से मिलना चाहते हैं?" लालाजी बोले—"नहीं।" कमिश्नर ने फिर पूछा—"किसी को पत्र लिखना चाहते और अपने कपड़े एवं बिस्तर आदि मँगवाना चाहते हैं?" लालाजी ने उत्तर दिया—"हाँ।" इस पर कमिश्नर ने लालाजी को काग़ज-कलम-दवात दी। लालाजी ने दो चिट्ठियाँ लिखीं। एक ज्येष्ठ पुत्र को,—जिसमें अपने देश-निकाले की सूचना के साथ लिखा कि मेरी अनुपस्थिति में अपने पितामह की आज्ञानुसार चलना। दूसरा पत्र अपने मित्र (अब स्व०) लाला दुर्गादास को वकालत-सम्बन्धी बातों के विषय में लिखा। इसके बाद लालाजी की तलाशी ली गई; फिर वह डिपुटी कमिश्नर की मोटर में बैठाये गये। डि० कमिश्नर खुद मोटर चला रहे थे; पास में जिला पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट हाथ में पिस्तौल लेकर बैठे तथा पिछली सीट पर लालाजी एवं एक यूरोपियन सब इन्सपेक्टर बैठे। इस प्रकार लेजाकर लालाजी को युरोपियन गारद में बन्द कर दिया गया।

भीतर जाते ही लालाजी एक तख्त पर लेट गये; उनकी छाती में दर्द हो रहा था। जब दर्द कुछ कम हुआ तो मन में तरह-तरह के विचार उठने लगे। लालाजी स्वयं अपने निर्वासन की कहानी में लिखते हैं—"सबसे पहले मैंने ऐसा अच्छा अवसर उपस्थित करने के लिए परमात्मा का धन्यवाद किया क्योंकि इस समय मेरे पिता, मेरी स्त्री तथा बच्चों में से कोई उपस्थित न था; उनमें से किसी के रहने पर जो हृदय-विदारक दृश्य उपस्थित होता उसे देखकर चित्त विचलित हो जाना कोई बड़ी बात न थी। दूसरी बात, जिसके लिए मैंने परमात्मा का धन्यवाद किया, यह थी कि मेरी माता का देहान्त हो गया था। मुझे अपने पिता की चिन्ता थी किन्तु यह विश्वास था कि वे दृढ़ चित्त के पुरुष हैं इसलिए विपत्ति से विचलित न होंगे। मैं अपने बच्चों और स्त्री की ओर से भी निश्चिन्त था क्योंकि ये लोग भी मेरे पिता की देखरेख में थे। इस प्रकार अपनी

लाहौर से मण्डाले

कुटुम्ब-सम्बन्धी बातों का विचार करने के बाद, अपनी परिस्थिति के विषय में स्वतंत्रता-पूर्वक विचार करने लगा। मुझे अपने अन्दर किसी प्रकार की मानसिक या नैतिक दुर्बलता का कुछ पता न लगा और न अपने विचारों से डगमगाने का मुझे कोई कारण प्रतीत हुआ। बाल्यावस्था से ही मुझे परमात्मा पर अटल विश्वास था। यही विश्वास इस समय भी मुझे बल दे रहा था। मुझे अपनी तात्कालिक अवस्था में संकटों को सहने की अधिक शक्ति प्राप्त हुई। मैंने अपने को इस आत्म-निरीक्षण में अत्यन्त दृढ़ पाया। मैंने प्रभु से प्रार्थना की कि वह मुझे इन कठिनाइयों को सहन करने का बल दे और मुझसे जान या अनजान में कोई ऐसा कार्य न होने दे जिससे मातृभूमि की सेवा के मेरे उद्देश्य में किसी प्रकार की अड़चन आवे या मेरा समाज किसी तरह अपमानित और लज्जित हो।"

चार बजे शाम को लाला जी ने माँगकर जल पिया। छः बजे दरवाजा खुला और वह फिटन पर सवार कराकर मियाँमीर स्टेशन पहुँचाये गये, जहाँ पहले से ही स्पेशल ट्रेन तैयार खड़ी थी। उसमें बैठते ही गाड़ी चल दी। साथ में सार्जेण्ट एवं सिपाही थे जिनकी हर स्टेशन पर बराबर तलाशी ली जाती थी। इस प्रकार पंजाब, युक्तप्रान्त, बिहार एवं बंगाल की सीमा पार कर लालाजी डायमन्ड हारबर (बन्दरगाह पर) पहुँचाये गये। रास्ते में स्नान, भोजन इत्यादि का प्रबन्ध कर दिया गया था। डायमंड हारबर से लालाजी ने घर वालों को तार देना चाहा पर उनका अनुरोध स्वीकार नहीं किया गया फलतः उन्होंने एक पत्र पुत्र को और एक पिता को भेजा। १२ मई को डायमंड हारबर से चलकर १५ मई को रंगून पहुँचे। फिर वहाँ से रेल-द्वारा माँडले पहुँचाये गये। मांडले स्टेशन पर गाड़ी पहुँचते ही स्टेशन बिलकुल खाली करा लिया गया। स्टेशन से बाहर निकलते ही, भारत-सेवक-समिति, (सरवेण्टस ऑव इण्डिया सोसायटी) के सदस्य और आज प्रधान, श्री देवधर लालाजी

के चरणों पर गिर पड़े। पुलिस वालों ने दोनों को अलग कर दिया पर लालाजी ने मस्तक नवाकर देवधर के प्रणाम का जवाब दिया। इस प्रकार १६ मई १६०७ को लालाजी माण्डले पहुँचे।

इधर यह सब हो रहा था, उधर लालाजी के निर्वासन का समाचार सारे देश में फैल गया। इससे लोगों में बड़ा असंतोष फैला। जो अबतक उनके विरोधी थे वे भी सरकार की अनीति का विरोध करने लगे। इंग्लैंड एवं भारत के अनेक पत्रों ने इस कार्य का प्रतिवाद किया। उस समय के असंतोष का अनुमान गदर के बाद भिखारियों एवं सर्वसाधारण में प्रचलित गीतों की इन कड़ियों के फिर से प्रसार पाने से किया जा सकता है—'न्हस जा फिरंगिया, हटजा दुरंगिया, अकाल सिक्खां दी फौज आई' तथा इसी प्रकार, 'आठ फिरंगी नौ गोरा, लड़ै जाट का दो छोरा' एवं 'फिरंगी रे जाट मिल गयो जंगी रे' इत्यादि। लोग पागल हो रहे थे। अन्यथा ऐसे गीतों का सिवाय असंतोष-प्रदर्शन के कोई अर्थ नहीं हो सकता था। लोकमान्य (तिलक) और गोखले दोनों ने निर्वासन का विरोध किया था। गोखले ने कई बार बड़ी कौंसिल में भी इसकी चर्चा की। इंग्लैण्ड, दक्षिण अफ्रिका, जापान, अमेरिका इत्यादि में प्रतिवाद में हिन्दुस्तानियों ने सभाएँ कीं; अनेक विदेशियों ने भी प्रतिवाद में उनका साथ दिया। श्री हैण्डमैन, मजदूर दल के नेता श्री कैयर हार्डी एवं नेविंसन इत्यादि ने सरकार के इस कार्य की निन्दा की। पार्लमेण्ट में अनेक प्रश्नोत्तर हुए। ४ जून १६०७ को पार्लमेण्ट में सर विंसेण्ट के यह कहने पर कि 'लालाजी को गोली क्यों न मार दी जाय' बड़ी चखचख हुई। सर विंसेण्ट के इस कथन पर लिबरल दल के अनेक सदस्य बिगड़ खड़े हुए। पीछे श्री मार्ले ने बड़ी कठिनाई से लोगों को शान्त किया।

जनता में असंतोष

लालाजी १६ मई १६०७ से ११ नवम्बर १६०७ तक ही मांडले में कैद रहे। मांडले के किले के एक बँगले में इनको रखा गया तथा एक

(मद्रासी रसोइया दिया गया। पीछे बार-बार पंजाबी रसोइया माँगने पर एक पंजाबी लड़का दिया गया; बर्मी सिपाहियों की एक गारद उनकी निगरानी के लिए नियुक्त हुई।

कैद एवं छुटकारा

टहलने की सुविधा कर दी गई थी तथा भंगी, नाई, धोबी इत्यादि की सुविधाएं भी मिल गई थीं पर उनपर पहरा बड़ा कड़ा था। मिलने-जुलने की इजाज़त न थी। इनके छोटे भाई लाला धनपतरायने मिलने के लिए कई बार सरकार को लिखा पर पंजाब सरकार ने आज्ञा न दी। जेल में लालाजी की छाती का दर्द बढ़ गया था अतः स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। 'लालाजी' प्रायः धार्मिक पुस्तकों के अध्ययन में समय काटते थे। गीता एवं दीवाने हाफिज को खूब चाव से पढ़ा तथा उर्दू में वर्मियों के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी। उर्दू में एक उपन्यास एवं अंग्रेज़ी में समाज-सुधार पर एक लेख भी लिखा। 'गीता का सन्देश' नामक लेख भी वहीं का लिखा हुआ है।

११ नवम्बर १९०७ को लालाजी छोड़ गये। पुलिस के पहरे में स्पेशल ट्रेन से (मण्डाले से) रंगून पहुँचाये गये; फिर जहाज़-द्वारा बजबज लाये गये; फिर स्पेशल ट्रेन से लाहौर पहुँचाये गये। १८ नवम्बर १९०७ को लाहौर पहुँचे। उनके छूटने का समाचार सारे देश में फैल गया जिसे सुनकर जनता को हार्दिक प्रसन्नता हुई।

निर्वासन के समय कलकत्ता के गोरे अखबार 'इंग्लिशमैन' ने लिखा था कि लालाजी ने हिन्दुस्तानी सैनिकों को विद्रोह के लिए भड़काया है। इसी प्रकार की बेतुकी बातें लाहौर के 'सिविल मिलिटरी गज़ट' ने भी लिखी थीं। लन्दन के 'डेली एक्सप्रेस' ने तो यह गप उड़ा दी थी कि लालाजी अमीर काबुल से मिलकर भारत से अंग्रेज़ी राज्य मिटाना चाहते हैं। लालाजी ने इन पत्रों पर नालिश की। कलकत्ता हाईकोर्ट ने 'इंग्लिशमैन' पर आपको डिग्री दी। लन्दन के 'डेली एक्सप्रेस' एवं

अखबारों पर नालिश

लाहौर के 'सिविल ऐण्ड मिलिटरी गजट' ने क्षमा माँग ली।

पहले लिखा जा चुका है कि देश में नरम-गरम दो राजनीतिक दल हो गये थे। कांग्रेस नरमदल वालों के हाथ में थी; जनता गरमदल की पीठ ठोकती थी। कांग्रेस का अधिवेशन नागपुर में होनेवाला था और गरमदल वाले लोकमान्य (तिलक) को अध्यक्ष बनाना चाहते थे पर इससे सरकार के चिढ़ जाने का अन्देशा था इसलिए नरमदल वालों ने नागपुर की जगह सूरत में अधिवेशन करने का निश्चय किया। उनका यह अभिप्राय था कि उसी प्रांत के निवासी होने के कारण लोकमान्य (तिलक) अध्यक्ष न हो सकेंगे पर गरमदल ने लालाजी का नाम प्रस्तावित किया। वास्तव में यह देश में बढ़ती हुई युवक-मनोवृत्ति के प्रकाशन का सवाल था। गरमदल आगे बढ़कर पैरों पर खड़ा होना चहता था। १९०६ ई० में दादाभाई नौरोजी की अध्यक्षता में कलकत्ता-अधिवेशन में पास हुए 'स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वराज्य' सम्बन्धी चार प्रस्तावों को भी नरमदल हटाना चाहता था। उन लोगों ने श्री (पीछे 'सर') रास बिहारी घोष को अध्यक्ष चुना था। लालाजी ने 'ट्रिब्यून' नामक पत्र में चिट्ठी छपाकर अपने स्थान पर श्री घोष को ही मनोनीत करने का प्रस्ताव रखा।

तूफानी सूरत कांग्रेस

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में सूरत में लोग एकत्र हुए। लालाजी भी पहुँचे। उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत हुआ। उन्होंने दोनों दलों को मिलाने का बड़ा प्रयत्न किया पर सफलता न मिली। कांग्रेस में बड़ा हुल्लड़ मचा; किसी उच्छृङ्खल युवक ने मंच पर जूता तक फेंक दिया। श्री सुरेंद्रनाथ ने अपने संस्मरणों में इसका बड़ा दर्दनाक और दुःखप्रद खाका खींचा है; उन्होंने श्री तिलक को ही इस घटना के लिए ज़िम्मेदार बताया है। जो हो; कांग्रेस भंग-सी हो गई। दोनों दलों ने अपनी अलग-अलग कान्फ्रेंसें कीं। गरमदल-वालों के अध्यक्ष श्री अरविन्द

घोष और नरम के श्री रासबिहारी घोष हुए। लालाजी दोनों में शरीक हुए। इन दिनों स्वदेशी का आंदोलन ज़ोरों पर था। ३० दिसम्बर १९०७ को अखिल भारतीय स्वदेशी सभा हुई जिसके लालाजी ही सभापति हुए। १९०८ के अप्रेल महीने में नरमदल वालों ने कांग्रेस के ध्येय ('क्रीड') की रचना के लिए सम्मेलन किया। इसमें सम्मिलित होकर भी लालाजी ने दोनों दलों को मिलने का प्रयत्न किया पर सफलता न हुई। यह वह समय था जब बंगाल में क्रान्तिकारी दल का ज़ोर बढ़ रहा था। कई जगह बम-काण्ड हो चुके थे। सारे देश में तलाशियाँ एवं गिरफ्तारियों की धूम मच गई। लोकमान्य (तिलक) इत्यादि गिरफ्तार हुए। लोकमान्य को छः वर्ष का कारावास दण्ड मिला। इसी वर्ष लालाजी ने इंग्लैण्ड के लिए दूसरी यात्रा की।

इंग्लैण्ड में

लालाजी भारत की स्थिति से खिन्न होकर इंग्लैण्ड गये थे पर वहाँ भी भारत को नहीं भूले। वहाँ के अखबारों में भारत के सम्बन्ध में अनेक लेख लिखे और वहाँ के हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों में व्याख्यानों-द्वारा जागृति पैदा की। दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतवासियों के लिए, भारत में बेगार प्रथा दूर करने के लिए तथा अन्य अनेक बातों के लिए लालाजी ने बड़ी चेष्टा की। इंग्लैण्ड में उनका जीवन बड़ा कार्यमय रहा। जब लालाजी इंग्लैण्ड में थे तभी मार्ले-मिण्टो सुधारों की घोषणा हुई। लालाजी ने उस समय इन सुधारों की निस्सारता प्रकट की और उनका विरोध किया।

पंजाब हिन्दूसभा

सन् १९०९ ई० में लालाजी भारत लौट आये। लौटने पर कई मित्रों की सहायता से पंजाब हिन्दू सभा की स्थापना की जिसका प्रथम अधिवेशन स्वामी श्रद्धानन्द जी (उस समय महात्मा मुंशीराम जी) के विरोध करने पर भी स्व० सर प्रतुलचन्द्र चटर्जी की अध्यक्षता में धूमधाम से हुआ। इसमें पहली बार सनातनी, आर्यसमाजी, जैन, सिख, ब्राह्मसमाजी आदि सब हिन्दू भाई एक

प्लेटफार्म पर एकत्र हुए। मानो आगे जिस हिन्दू महासभा का संगठन हुआ, यह सभा उसका बीज हो।

१९१० ई० में लालाजी का पुत्र, जो इंग्लैंड में पढ़ता था वहीं, बीमार पड़ा। उसे लेने को लालाजी फिर इंग्लैण्ड गये। वहाँ सम्राट

तीसरी विलायत यात्रा

एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण के अवसर पर हिन्दुस्तानी राजनीतिक कैदियों को छोड़ने की अपील की पर उसका कुछ फल न हुआ। वहाँ से लौटने के थोड़े ही दिन बाद (२३ फरवरी १९११ को) उस पुत्र का देहान्त हो गया। पुत्र-वियोग से लाला जी को बड़ी चोट लगी पर वह किसी प्रकार सार्वजनिक कार्यों में लगे ही रहे। १९११ ई० के अंतिम भाग में पंजाब में शिक्षा संघ स्थापित किया। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए कई स्कूल खोले और अपने गाँव में, शिक्षा-संघ के अन्तर्गत, पिता के नाम पर, 'राधाकृष्ण हाई स्कूल' स्थापित किया।

सन् १९१२ ई० में लाला जी लाहौर म्युनिसपल बोर्ड के सदस्य चुने गये। उसके द्वारा उन्होंने नगर की यथासंभव सेवा की। १९०७ के

प्रवासी भारतीयों की सेवा

बाद देश से बाहर रहने तथा दलबंदी एवं फूट के कारण लाला जी कांग्रेस में सम्मिलित नहीं हुए थे। १९१२ ई० में वह बाँकीपुर (पटना) कांग्रेस में शामिल हुए। श्री गोखले ने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के दुःखों का वर्णन बड़े हृदय-द्रावक शब्दों में किया। मालवीयजी और लालाजी ने समर्थन—अनुमोदन में बड़ी ओजस्वी वक्तृताएँ दीं। इसके बाद ही १९१२-१३ में महात्मा (उस समय कर्मवीर) गांधी ने दक्षिण अफ्रिका में सत्याग्रह आरंभ किया। १९१३ ई० के अंतिम भाग में इस सत्याग्रह ने बड़ा जोर पकड़ा। लोगों में एक नया जीवन आ गया। अबतक प्रार्थनाओं और अपीलों का रास्ता ही लोगों को मालूम था; गाँधीजी के इस नवीन ढंग के आंदोलन ने लोगों की आँखें खोल दीं। उस समय

श्री गोखले ने, इस सम्बन्ध में, धन के लिए सारे भारत से अपील की थी। लालाजी ने पंजाब में घूम-घूमकर लगभग २५ हज़ार रुपये चन्दा एकत्र कर वहाँ भेजवाया। १६१३ ई० में करांची-कांग्रेस में भी दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में लालाजी बोले। इस सम्बन्ध में, १६१४ ई० में, एक डेपूटेशन भी इंग्लैण्ड भेजा गया। लोगों के अनुरोध से इस कार्य में लालाजी ने भी भाग लिया पर इस भिक्षा-वृत्ति का कोई फल न निकला। डेपूटेशन के और सदस्य तो लौट आये पर लालाजी वहीं रह गये। वहाँ उन्होंने आर्यसमाज पर एक पुस्तक लिखी। १६१४ ई० की मद्रास कांग्रेस के लिए अधिकांश प्रान्तों ने लालाजी का ही नाम भेजा पर कांग्रेस के विधाता नहीं चाहते थे कि उनके हाथ में कांग्रेस की बागडोर चली जाय। इसलिए उन लोगों ने प्रान्तों से अपना मत वापस लेने का अनुरोध किया; इनके मन के अनुसार ही हुआ।

इंग्लैण्ड से लालजी जापान गये। वहाँ से भारत आना चाहते थे कि युद्ध छिड़ गया। पासपोर्ट न मिलने के कारण वह भारत न आ सके; इंग्लैण्ड लौट गये। वहाँ से सन् १६१४ ई० के नवम्बर में अमेरिका चले गये। यों तो १६०५ ई० में भी थोड़े दिनों के लिए अमेरिका हो आये थे पर इस बार काफ़ी समय मिला।

अमेरिका में कार्य

सम्पूर्ण संयुक्त राज्य में भलीभाँति घूमकर लालाजी ने वहाँ की शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थाओं का परिचय प्राप्त किया। इस देश के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे। वहीं 'तरुण-भारत' (यंग इण्डिया), 'भारत का राजनीतिक भविष्य' (पोलीटिकल फ़्यूचर ऑव् इण्डिया) इत्यादि पुस्तकें भी लिखीं। पहली पुस्तक उस समय भारत में आने से रोक दी गई थी।

अमेरिका के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुषों से मिलकर लालाजी ने उनका ध्यान भारतीय परिस्थिति की ओर आकर्षित किया। उस समय भारत में होमरूल आन्दोलन चल रहा था। लालाजी ने अमेरिका में भी (स्व०)

श्री केशवदेव शास्त्री और हार्डिकर की सहायता से, 'इण्डिया होमरूल-लीग' की स्थापना की तथा इस संस्था-द्वारा 'यंग इंडिया' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकालना शुरू किया। लालाजी स्वयं इसका सम्पादन करते थे। 'लीग' के सभापति एवं कोषाध्यक्ष भी लालाजी ही थे; मंत्री श्री हार्डिकर थे। इस लीग ने वहाँ बड़ा काम किया। अमेरिका के अनेक नगरों में उसकी शाखायें स्थापित हुईं। भारतीयों के अलावा प्रायः ८०० और लोग भी 'लीग' के सदस्य हो गये थे। अमेरिका में भी लालाजी के पीछे अंग्रेज़ खुफ़िया लगे रहते थे। एक दिन तो उन्होंने यहाँ तक दुस्साहस किया कि जिस कमरे में लालाजी अपने मित्रों से कुछ परामर्श करनेवाले थे उसमें छिपाकर 'डिक्टोग्राफ़' रख दिया। इस मशीन में यह बात है कि जो कुछ आदमी बोलता है सब उसमें रेकार्ड की तरह भर जाता है। पर संयोग-वश कोई बात उनके विरुद्ध न निकली

युद्ध की समाप्ति पर भारत को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दिलाने के लिए 'लीग' ने बड़ा प्रयत्न किया। लालाजी ने 'टुकड़ों के लिए झगड़ा' (Fight for Crumbs) नामक पुस्तिका लिखकर उसकी लाखों प्रतियाँ अमेरिका में बँटवाईं। इनसे बड़ा आन्दोलन फैला। यहाँ तक कि अमेरिकन शासन-सभा की वैदेशिक समिति के सामने भी एक प्रस्ताव आया। अमेरिका के कितने ही पत्रों में खुली चिट्ठियाँ एवं लेख निकले जिनके अनुवाद स्पैनिश, जर्मन, स्वेडिश, जापानी इत्यादि भाषाओं में भी हुए। 'लीग' ने बड़ी तादाद में पुस्तिकाएँ बटवाईं।*

---

*अक्टूबर १९१८ ई० से अक्टूबर १९१९ तक 'लीग' ने 'भारत के लिए संगठित कार्य' नामक पुस्तिका की २०,००, 'भारत का स्वराज्य का अधिकार' की ५००० और 'अमेरिकन श्रमजीवियों के प्रति भारत का संदेश' की ५०००० प्रतियाँ बँटवाई थीं।

भारतीय व्यापार की उन्नति के लिए, अमेरिकनों एवं भारतीयों के साझे में लालाजी ने एक कम्पनी खोली तथा न्यूयार्क में 'इण्डियन इन्फ़ार्मेशन ब्यूरो' की भी स्थापना की।

जिस समय लालाजी इस प्रकार विदेश में काम कर रहे थे, पंजाब का भयानक हत्याकांड हुआ। लालाजी का हृदय अपनी मातृभूमि के लिये तड़प रहा था पर भारत-सचिव ने स्वदेश लौटने की आज्ञा न दी। युरोप में संधि होने एवं पूर्ण शान्ति स्थापित होने के बाद ही उन्हें भारत आने की आज्ञा मिली। २० फरवरी १९२० ई० को लालाजी बम्बई पहुँचे। वहाँ बड़ी धूमधाम से उनका स्वागत हुआ। इस देश में लौटने पर उन्होंने निश्चित किया कि अब केवल स्वदेश-सेवा का ही काम करूँगा। आते ही घूम-घूमकर पंजाब में जागृति लाने की चेष्टा करने लगे। राष्ट्रीय सप्ताह में लाहौर से उर्दू का दैनिक 'वन्दे मातरम्' निकाला। उसके लक्ष्य का ज़िक्र करते हुए, अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये।

"मेरा मजहब ······ हक़परस्ती
मेरी मिल्लत ······ क़ौमपरस्ती
मेरी इबादत ······ खुलकपरस्ती
मेरी अदालत ······ मेरा अन्तःकरण
मेरी जायदाद ······ मेरी क़लम
मेरा मन्दिर ······ मेरा दिल
मेरी उमंगें ······ सदा जवान हैं"

'सुधार' और असहयोग

पहले लालाजी माण्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार-योजना के पक्ष में थे। पीछे पंजाब के हत्याकांड के विषय में न्याय न होता देख उनका विश्वास उससे उठ गया। इसके बाद ही इलाहाबाद ज़िला कान्फ्रेंस में जो स्पीच दी उसमें इन पंक्तियों का लेखक स्वयं उपस्थित था। उसमें उन्होंने आगामी युद्ध के लिए देश को तैयार रहने की अपील की। इन्हीं दिनों लालाजी

कौंसिल-प्रवेश के भी विरुद्ध हो गये। कलकत्ता की विशेष कांग्रेस के पहले ही असहयोग के पक्ष में वह कई लेख लिख चुके थे। असहकार-आंदोलन आरम्भ करने के कार्यक्रम पर विचार करने के लिए कलकत्ता में जो विशेष कांग्रेस हुई उसके लालाजी ही अध्यक्ष निर्वाचित हुए। ४ दिसम्बर १९२० ई० का दिन, इस दृष्टि से, भारत के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यहाँ से भारत की राष्ट्रीयता एक नया मार्ग ग्रहण करती है; तबसे महात्माजी भारतीय राजनीति के रंग-मञ्च पर सूत्रधार के रूप में प्रकट हुए। कलकत्ता में महात्माजी का असहकार का प्रस्ताव पास हुआ। लालाजी ने बड़ी योग्यता से कांग्रेस का कार्य सम्पादित किया।

इसके बाद १९२० के दिसम्बर में, नागपुर में, कांग्रेस का नियमित अधिवेशन हुआ। वहाँ भी बहुमत से असहयोग का कार्यक्रम पास हुआ।

गिरफ्तारी और सज़ा

नागपुर-कांग्रेस के कुछ पहले ही राजनीति की उच्च शिक्षा देने के लिए लालाजी ने, लोकमान्य के स्मारक में 'तिलक स्कूल ऑव पालिटिक्स' नामक संस्था खोली। यह वह समय था जब देश की धमनियों में नवीन रक्त भर रहा था; चारों ओर हलचल मची हुई थी। इधर देश ने करवट ली, उधर सरकार ने दमन की लाठी सँभाली। चारों ओर धर-पकड़ मच गई। देश के छोटे-बड़े सभी कार्यकर्त्ता गिरफ़्तार होने लगे। ऐसी अवस्था में लालाजी कैसे पीछे रह सकते थे? ३ दिसम्बर १९२१ को वह गिरफ़्तार हुए। १८ महीने की सज़ा एवं ५००) जुर्माना हुआ। गिरफ़्तारी के समय राष्ट्र एवं पंजाब के नाम लालाजी ने जो अपील निकाली थी उसके प्रत्येक शब्द से उनके हृदय में भरे देश-प्रेम का परिचय मिलता है।

कुछ समय बाद पंजाब-सरकार ने एक दिन, रात के समय, लालाजी को छोड़ दिया। पर थोड़ी देर बाद ही वह फिर गिरफ़्तार कर लिये गये। ६ मार्च १९२२ ई० को, राजद्रोही सभा-कानून और ताज़ीरात हिन्द की ११७ धारा के अनुसार एक वर्ष का कठोर कारावास और

क्रिमिनल-ला एमेण्डमेण्ट ऐक्ट की १७ (२) धारा के अनुसार एक वर्ष सादी सज़ा का दण्ड हुआ। यह भी आज्ञा हुई कि पहले कड़ी सज़ा भुगतनी पड़ेगी, फिर सादी। जेल में इन्हें अपने सम्बन्धियों से भी मिलने न दिया जाता था; अधिकारियों का व्यवहार बड़ा खराब था। लालाजी का स्वास्थ्य बिगड़ गया; धीरे-धीरे उन्हें क्षय रोग हो गया। देश में हलचल मच गई। नरमदल के नेताओं और समाचारपत्रों ने भी इस विषय में आन्दोलन किया; पार्लमेण्ट में भी सवाल पूछे गये पर कुछ नतीजा न निकला। सरकार चाहती थी कि लालाजी छुटकारे के लिए अर्ज़ी दें। भला लालाजी से यह कब संभव था? फल यह हुआ कि दिन दिन स्वास्थ्य खराब होता गया। बाद में सरकार ने अस्पताल में रखकर चिकित्सा की व्यवस्था की, अन्य सुविधाएँ भी कर दीं पर कुछ लाभ न हुआ; रोग बढ़ता गया। सरकार कहती थी कि क्षय रोग नहीं है। अन्त में सिविल सर्जन इत्यादि के परीक्षा करने पर जब क्षय का संदेह हुआ और सरकार ने देखा कि लालाजी को जेल में रखने में खतरा है तो १६ अगस्त १९२३ ई० को उन्हें छोड़ दिया।

देश की हालत

इस समय गांधीजी जेल में थे। देश में, नेताओं में, दलबंदी का राज्य था। कौंसिल-प्रवेश और कौंसिल-बहिष्कार के प्रश्न ने इतना व्यापक रूप पकड़ा कि देश-सेवा की असली भावनाएँ छिन्न भिन्न हो गईं। एक हंगामा उठ खड़ा हुआ; अधिकारवाद ने ज़ोर पकड़ा। परिवर्तनवादी और अपरिवर्तनवादी दोनों दलों में से कोई झुकना न चाहता था। गया-कांग्रेस का वह जमाना मुझे याद है जिसमें प्रतिनिधियों के दाम और केराये ठीक किये जा रहे थे। उनकी वह हालत थी जो तीर्थों में जानेवाले यात्रियों की दो दलों के पण्डों के बीच होती है। मेरे नाम पर दास-पार्टी की ओर से दो-दो प्रतिनिधि टिकट कैम्प में पड़े थे। इसीलिए मैंने इस खींचातानी में भाग लेना मुनासिब न समझा। अस्तु; मतलब यह कि इस वातावरण

में देश-भक्ति का दम घुटा-जा रहा था और द्वेष-दंभ एवं अधिकार का धुआँ चारों ओर फैला हुआ था। गया-कांग्रेस में अपरिवर्तनवादियों की विजय हो चुकी थी। पर (स्व०) देशबंधुदास और (स्व०) पं० मोतीलाल के प्रयत्नों से लोकमत बदल रहा था। उधर श्री राजगोपालाचार्य थे। लालाजी तथा अन्य कई नेताओं ने समझौते के लिए प्रयत्न किया पर कुछ फल न निकला। अन्त में जब लोग इन झगड़ों से ऊब गये तो दिल्ली में स्पेशल कांग्रेस बुलानी पड़ी। उसमें जाकर समझौता हुआ। परिवर्तनवादियों को कौंसिल-प्रवेश का अधिकार दे दिया गया। इस समझौते का श्रेय सर्वश्री राजेन्द्रप्रसाद, वल्लभ भाई, जमनालाल बजाज, (स्व०) मुहम्मद अली, अबुलकलाम आज़ाद, (स्व०) दास और (स्व०) पं० मोतीलालजी को है।

लालाजी जेल से तो छूट गये पर बाहर भी उनका स्वास्थ्य खराब ही रहता था। देश में असहयोग-काल की अभूतपूर्व हिन्दू मुस्लिम एकता की प्रतिक्रिया होने लगी थी; तबलीग़ और शुद्धि के भाव ज़ोर पकड़ रहे थे। मुसलमानों में श्री हसननिज़ामी और हिन्दुओं में (स्व०) स्वा० श्रद्धानन्द—यही दिखते थे। यह वही हसन निज़ामी थे जिन्होंने कृष्ण पर एक सुन्दर पुस्तक लिखी थी और जिनका ग़दर का इतिहास मुस्लिम शासकों की दुर्दशा का एक करुण चित्र है; और यह वही श्रद्धानन्दजी थे जो अभी कुछ ही वर्ष पहले दिल्ली की जामा मस्जिद में 'वाज़' (उपदेश) कर चुके थे। हाय, देश के लिए यह कैसा दुःखद ज़माना था। भाई से भाई लड़ रहे थे। इसी समय मालवीयजी, लालाजी और स्वामीजी ने मिलकर हिन्दू महासभा का संगठन किया। इसका पहला अधिवेशन बनारस में हुआ। इसमें बौद्ध, जैन, पारसी, सनातनी, आर्यसमाजी, ब्रह्मसमाजी, अछूत सभी सम्मिलित हुए थे। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं उसमें उपस्थित था। जिस समय बंगाल के प्रसिद्ध नाटक-कार स्व० द्विजेन्द्र लाल राय के सुपुत्र गायक श्री दिलीप कुमार राय ने अपने मधुर कण्ठ से मीरा का 'म्हांने चाकर राखो जी' गीत गाया, उस समय

एक समाँ बँध गया। बड़ा ही उत्साहप्रद दृश्य था पर महासभा का वह रूप ज्यादा दिन तक क़ायम न रह सका। राष्ट्रीयता की नींव जातिगत भावों को लेकर डाली ही नहीं जा सकती।

सन् १९२५ ई० में कलकत्ता में हिन्दू महासभा का जो अधिवेशन हुआ लालाजी उसके अध्यक्ष थे। लेकिन महासभा में भाग लेते हुए भी लालाजी 'सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व' के विरोधी थे, जैसा कि १९२५ के प्रारंभ में हुए दिल्ली के ऐक्य—सम्मेलन में की हुई उनकी घोषणा से स्पष्ट हो गया था। उन के प्रयत्नों से ही १९२६ में यह निश्चय हुआ कि हिन्दू महासभा अपनी ओर से उम्मीदवार न खड़ा करे।

कौंसिल में

सन् १९२५ ई० में जब स्वराज्य दल का ज़ोर था, लालाजी स्वराज-दल में सम्मिलित हुए थे और कुछ दिनों तक बड़ी कौंसिल में उसके डिपुटी लीडर भी रहे पर कुछ दिनों बाद मत-भेद के कारण अलग हो गये। यह 'वाक आउट' (कौंसिल से बाहर चले जाना) नीति को ठीक न समझते थे। अलग होकर, मित्रों की सहायता से 'स्वतंत्र कांग्रेस' दल की स्थापना की और इसी पार्टी की ओर से, विरोध होते हुए भी, दो-दो स्थानों से, बड़ी कौंसिल के लिए निर्वाचित हुए। लालाजी ने असेम्बली में सदा जन-पक्ष का साथ दिया। 'शान्तिरक्षा बिल' और 'साइमन कमीशन' के विरोध में दी हुई उनकी वक्तृताएँ स्मरणीय हैं। बाद में, मद्रास कांग्रेस में, लालाजी ने हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए बड़ी चेष्टा की। सर्वदल-सम्मेलन की नेहरू-रिपोर्ट का कई बातों में मत-भेद रखते हुए भी, समर्थन किया।

जीवन का आरोह-अवरोह

१९२५ के बाद कुछ समय तक लालाजी पर जातिगत रंग आ गया था और देश के दर्द की वह गरमी जो, पहले ज़माने में उनमें दिखाई पड़ी थी, कुछ उनकी स्वास्थ्य की खराबी एवं उम्र और कुछ उनकी अस्थिर नीति के कारण कम हो गई थी—इतनी कम कि युवक-दल की आँखों में वह

गिर गये थे। 'पंजाब का शेर' अपनी दहाड़ भूल गया था। पंजाब के अन्दर भी उनकी वह लोक-प्रियता न रह गई थी। पर समय पर उन्होंने देश की गति को पहचाना और महसूस कर लिया कि हम पिछड़ते जा रहे हैं। इस दृष्टि से देखें तो उनके जीवन के अन्तिम दिनों में जो-कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। यदि वह न होता तो इसमें संदेह है कि लालाजी अन्तिम दिनों तक अपनी लोकप्रियता बनाये रख सके होते। घटनाओं ने उनके गिरते हुए प्रभाव को बचा लिया।

बलिदान

३० अक्टूबर १६२८ ई० को साइमन कमीशन लाहौर पहुँचने वाला था। जनता काले झण्डों का जुलूस निकालकर अपना असंतोष प्रदर्शित करना चाहती थी। उधर पुलिस ने भी पूरी तैयारी कर रखी थी। १४४ धारा (सभाबन्दी कानून) लगा दी गई थी पर उधर जनता भी जुलूस निकलने पर तुली हुई थी। लालाजी इटावा (युक्तप्रांत) की प्रांतीय हिन्दू कान्फ्रेंस से उसी दिन लाहौर पहुँचे थे। १४४ की घोषणा का समाचार सुनकर उन्होंने भी जुलूस में शामिल होने का विचार कर लिया। दोपहर को जुलूस निकला। लालाजी, सरदार शार्दूलसिंह (कवीश्वर) इत्यादि जुलूस के आगे थे। जुलूस स्टेशन के पास ठहर गया और साइमन कमीशन के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। 'साइमन लौट जाओ' एवं 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि से स्टेशन गूँज रहा था। पुलीस से यह बर्दाश्त न हुआ। एकाएक पुलिस ने लाठियाँ चलानी शुरू कीं। लालाजी की पीठ एवं छाती पर भी एक गोरे ने कई लाठियां चला दीं। कहते हैं कि यह सीनियर पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट साण्डर्स था। लालाजी पर पड़ने वाली कई लाठियां रायजादा हंसराज ने अपने ऊपर ले लीं। लालाजी ने उस गोरे अफ़सर से उसका नाम पूछा पर उसने नाम नहीं बताया। उस दिन की सभा में लालाजी ने बड़ी जोशीली वक्तृता दी। कहा था—'मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफ़न की कील होगी।'

उस समय तो ताज़ी चोट कुछ मालूम न हुई पर वस्तुत: वह सांघातिक थी। लालाजी की शारीरिक अवस्था बिगड़ती ही गई। चोट से छाती में घाव एवं सूजन हो गई। पर अपने शरीर का खयाल न कर वह दिल्ली के सर्वदल-सम्मेलन एवं भारतीय कांग्रेस की कार्य-समिति में शामिल होने गये। इससे उनपर और ज़ोर पड़ा। वहाँ से लौटने पर उनकी दशा बिगड़ती ही गई। फिर भी किसी को यह ख्याल न था कि लालाजी इतनी जल्द हमें छोड़कर चले जायँगे पर जो बातें मानवी शक्ति के बाहर की हैं उन्हें वह कैसे जान सकता है? १७ नवम्बर १९२८ को प्रातःकाल ७ बजे, ६३ वर्ष की उम्र तक भारत की सेवा करके, पंजाब-केसरी चिर-निद्रा में मग्न हो गया!

—चार—

व्यक्तित्व का विश्लेषण

लालाजी का नाम सुनते ही उनका मझोले क़द का गठा हुआ पंजाबी आकार नेत्रों के सामने नाचने लगता है! पंजाबी प्रकृति की सारी अच्छाइयां और बुराइयाँ उनमें प्रस्फुटित हुई थीं! भावुकता, दयाद्रता, जोश, शहादत की ओर ले जाने वाली भावुकता,—और इसलिए एक प्रकार की अस्थिरता—सभी रंग-बिरंगी कलियों एवं फूलों से यह गुलदस्ता बना था। इसमें हर प्रकार का रंग मौजूद था। इसलिए लालाजी की जीवन-धारा एक निश्चित मार्ग से बहती हुई नहीं दिखाई दी; वह जीवन के अनेक टेढ़े-मेढ़े मार्गों के बीच हो कर बही। ऐसा नहीं कि उसमें कोई प्रवाह था नहीं; प्रवाह तो एक था ही पर मार्ग अनेक थे। उनकी जीवन-धारा गंगा की नहीं रेवा (नर्मदा) की याद दिलाती है। यह मैदान की शान्त, स्थिर, अपनी धुन और गति में चुपचाप—सीधे अपने मार्ग पर बढ़ती जानेवाली सरिता नहीं, पहाड़ियों को काटती, चक्करदार घेरों के बीच अपने को कभी सरल-सुगम और कभी दुर्गम बनाती घूमती-फिरती, अठखेलियाँ करती बहनेवाली

गंगा नहीं, रेवा!

सरिता का पेचदार प्रवाह है।

पर इतना कह देने से काम कहाँ चलता है? इसके बाद, इतना कह चुकने पर, मन मानों यह पूछने के लिए उतावला है—'ऐसा क्यों?'

ऐसा क्यों?

लालाजी के जीवन में प्राचीनता का वह नशीला, धुँधला और मन आकर्षित करने वाला रंग नहीं, जो मालवीयजी की विशेषता को आबदार बना देता एवं उनके व्यक्तित्व में एक खास दिलचस्पी पैदा कर देता है। लालाजी में वह स्थिर, तर्क से तराश कर चारों ओर से सुडौल की हुई, तलवार की पैनी धार की तरह सामने से आकर आर-पार करने वाली संगठित राजनीतिक नेतृत्व की एवं विरोधी को जवाब देने की प्रतिभा नहीं, जो स्व० पं० मोतीलालजी की एक विशेषता थी और जिसने भारतीय राजनीति के क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व को शासन की अद्भुत क्षमता प्रदान की थी और उसे अध्ययन का एक मनोरंजक विषय बना दिया था। मानवात्मा का वह प्रकाश उनके जीवन में जगमगाता नहीं जो महात्मा गांधी को अत्यन्त दिव्य रूप में जगत् के सामने रखता है।

फिर लालाजी का इतना प्रभाव क्यों? इतना आदर क्यों? मन पूछना चाहता है, और वह पूछकर रहेगा।

राजनीति शतरंज का खेल है—कम-से-कम महात्माजी से पहले हम उसको इसी रूप में जानते-सुनते आये। इस दुरूह पेचीली सघन

बार-बार पक्ष-परिवर्तन

वनस्थली में जब कोई खिलाड़ी आ जाता है तब उसका अध्ययन करके उससे कुछ निष्कर्ष निकाल लेना हो नहीं सकता। हो भी तो वह खतरे से खाली नहीं। बड़प्पन में सब बह जाता है और राजनीति में तो जनता जिसे बना दे और जो जनता का बन जाय। यदि मन न माने और पूछना ही चाहे तो कहना पड़ेगा कि लालाजी की सफलता का रहस्य उनकी लोकप्रियता में है। वह एक लोकप्रिय नायक थे, पथ प्रदर्शक (अपना

एक खास कार्यक्रम लेकर चलने वाले नेता नहीं। वह जनता के थे; जन-समूह के भावों पर उनके जीवन की सुई घूमती रहती थी। जब से वह राजनीति के क्षेत्र में आये तब से लेकर जीवन के अन्तिम दिनों तक उनकी यही अवस्था रही। पहले सरकार में उनका थोड़ा-बहुत विश्वास था पर विदेशी यात्राओं ने उनकी आँखें खोल दीं। युरोपीय यात्रा से लौटकर उन्होंने अपने अनुभव प्रकाशित करते हुए कहा था—"मैं इंग्लैण्ड गया, मैं फ्रांस गया, मैं युरोप के अन्य देशों में गया, मैं अमेरिका गया पर मैं जहाँ गया वहाँ एक पराजित जाति की शर्म अपने साथ ले गया!" तब से लालाजी की गणना उग्रवादी दल के लोगों में हुई। उस समय लाल बाल-पाल की त्रिमूर्ति, भारतीय राजनीति के मंच पर, उत्साह के साथ, प्रकट हुई थी। उस समय तिलक के विचार व्यापक हो रहे थे तब लालाजी भी उसी 'स्कूल' के थे। बाद में जब भारतीय राजनीति के क्षितिज पर अव्यवस्था और दलबंदी के कोहरे को भेद कर गान्धीवाद का सूर्योदय हुआ तब भी लालाजी ने उसे पहचाना नहीं, उसका स्वागत नहीं किया। आरम्भ में वह असहयोग-आन्दोलन के विरुद्ध थे। पर सूर्य निकला; निकला ही नहीं उसने अविश्वास के बादलों को अपने प्रकाश से ढक दिया; चारों ओर वही वह हो गया। जनता उसको अर्घ्य देने को दौड़ी। जन-हृदय पर उसका ऐसा ऐसा प्रभाव हुआ कि देखनेवाले दाँतों-तले अँगुली दबाने लगे; अविश्वासियों ने बार-बार आँखें मींचकर देखा मानो उस समय भी उनका मन प्रश्न कर रहा हो, यह कैसे हो गया? अपने साथ प्रबल विश्वास की जो आँधी गांधीजी लाये उसमें बड़ों-बड़ों के पाँव उखड़ गये। लालाजी भी असहयोगी हुए; बिना ऐसा किये देश-सेवा का, जनता की आँखों में अपने को न गिरने देने का कोई मार्ग ही किसी के लिए नहीं रह गया था। उसके बाद फिर जमाने ने पलटा खाया। स्व० देशबन्धु (चितरञ्जन दास) और स्व० पं० मोतीलालजी ने देश में, पश्चिम की पार्लमेंटरी पार्टियों के समान सुसंगठित

एक दल—स्वराजदल—खड़ा कर दिया। कुछ तो कौंसिल की स्वाभाविक मोहनी थी और कुछ मोतीलालजी की अद्भुत् संगठन-शक्ति ने असत् को भी सत् कर दिया। स्वराज-दल का ज़ोर बहुत बढ़ गया; तब लालजी भी स्वराज-दल में शामिल हुए; असहयोगी से स्वराजी हुए। पर राजनीति में प्रतिक्रिया का होना तो निश्चित ही है। धीरे-धीरे राष्ट्रधर्म का स्थान जातिगत, साम्प्रदायिक सुविधाओं ने ले लिया। एक आँधी उठी। भाई ने भाई के विरुद्ध लकड़ी उठाई; भाई के विरुद्ध भाई संगठित हुआ। देखते-देखते आकाश धुएँ से भर गया जैसे किसी मायावी ने चुटकी बजाते-बजाते सबकी सुधि हर ली हो। लोग अचेत हो गये। स्वराज-दल का ज़ोर कुछ कम हुआ। एक बार हिन्दू जनता राष्ट्र-सेवा के पथ से विरत हुई; उसके अन्दर ज़ोरों से संगठन की लहर उठी। लालाजी उस प्रवाह के विरुद्ध तनकर खड़े न हो सके। वह प्रतिसहयोगी या स्वतंत्र कांग्रेस दल में सम्मिलित हुए। पर वह महल, जिसकी नींव में कोई ठोस चीज़ न थी, कबतक खड़ा रहता। दो वर्ष के अन्दर वह जोश, हिन्दुत्व की सेवा का वह उत्साह, संगठन का वह बिगुल, फिर बन्द हुआ। आघात पर आघात करके अंग्रेज बन्धुओं ने हमें फिर जगाया। जनता फिर पलटी; फल-स्वरूप हम अन्तिम दिनों में, लालाजी को साइमन कमीशन के विरुद्ध निकाले गये जलूस में शामिल होकर लाठियाँ खाते देखते हैं और दिल्ली एवं लाहौर की सभाओं में एक बार फिर उनकी वह दहाड़ सुनते हैं जो 'पंजाब का शेर' की एक समय की अपनी विशेषता थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लालाजी जन-रुचि के साथ चलने वाले थे। ८ वर्ष के अन्दर जन प्रवाह के साथ-साथ उन्होंने ४ बार अपना मार्ग बदला। इसीलिए वह सदा लोकप्रिय बने रहे। जनता ने उन्हें हाथों-हाथ रक्खा। उनके देहावसान के समय युवक बहुत असन्तुष्ट हो रहे थे और यदि वह जीते रहते तो बहुत सम्भव था कि लाहौर में लोग

उन्हें फिर युवकों के साथ देखते ।

× × ×

एक लेखक ने लालाजी की, जन-रुचि के साथ बदलती रहनेवाली, इस मनोवृत्ति का बड़ा मनोरंजक चित्र खींचा है। मनोरंजक हम इसलिए कहते हैं कि उसमें रंग ज़रा गाढ़ा हो गया है; सत्य का पलड़ा उठ गया है; बातें जरा बढ़ाकर कही गई हैं पर ऊपर के आवरण को उठा दें, शब्दों में ज़रा हेर-फेर कर दें तो सब मिलाकर उससे लालाजी के राजनीतिक जीवन की आकृति बन जाती है। उसका चित्र यह है—

एक तीखा चित्र

"हम भाई भाई की तरह रहेंगे"—ज़ोर से भीड़ कहती है।

"रहेंगे क्या, हम भाई हैं ही",—अपने मुसकराते हुए पंजाबी चेहरे के साथ, लाला लाजपतराय कहते हैं।

"हम भाई नहीं हो सकते,"—भीड़, ज़रा देर ठहरकर, उतने ही जोश के साथ, सिर हिलाकर कहती है।

"एकता की बात करना व्यर्थ है," 'पंजाब का शेर' दहाड़ता है!

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ रंग तीखा है पर चित्र का आधार ठीक है। लालाजी जनता के भाव-प्रवाह में प्रायः बह जाते थे। हिन्दू संगठन का ज़ोर जब ज्यादा था तो एक बार उनके मुँह से "स्वराज्य ठहर सकता है" (Swaraj can wait) शब्द सुनकर मुझे रोना आ गया था। यह भाषण कहीं उत्तर भारत में दिया गया था। बम्बई की जनता दूसरे प्रकार की थी; वहाँ के हिन्दू युवकों पर राष्ट्रवादी भावों का असर था। इसलिए वहां उन्होंने ऊपर के वाक्य को सुधार कर कहा—"सरकार एवं मुसलमानों के विरोध के होते हुए भी हिन्दू स्वराज्य प्राप्त करेंगे।" काँग्रेस के एक सभापति के मुँह से ऐसे वाक्य निकलना दूरदर्शिता का उदाहरण नहीं उपस्थित करता। पर लालाजी भाषण देते समय भूत और भविष्य को भूल जाते थे; केवल वर्तमान जनता का

विचार ही उनके सामने रहता था। मोतीलालजी के मुँह से ऐसे वाक्य, जिनका विरोधी अवसर पर फ़ायदा उठा लें, कभी न निकलते; मालवीय जी ने, जो हिन्दू-संगठन के कर्ता-धर्ता थे, कभी ऐसी कोई बात नहीं कही। पर लालाजी पर, भाषण करते समय, जनता के दिल पर क़ाबू करने का भाव, उसे प्रभावित कर देने, उस पर हावी हो जाने का भाव इतना प्रबल होता था कि वह अपने को भूल जाते थे, अपने पर क़ाबू न रख सकते थे। जन-रुचि के विरुद्ध तनकर खड़े होना, उनसे न हो सकता था। वह राजनीति में सदा शुद्ध तत्काल के प्राणी रहे।

समय के प्रवाह साथ

पर इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें नेतृत्व कमाने की कोई लालसा थी; न इसका यही अर्थ है कि वह सम्प्रदायवादी (कम्यूनलिस्ट) थे। ऐसा कुछ नहीं। उनके हृदय में देश के लिए ज़बर्दस्त लगन थी। वह मातृभूमि की स्वतंत्रता के आजन्म पुजारी रहे पर उनकी प्रकृति ही कुछ इस प्रकार की बन गई थी, उनकी तबियत ही कुछ ऐसी थी कि वह जनता में ओतप्रोत हो गये थे। जनता का होकर भी जनता से ऊपर या अलग रहना उनसे नहीं हो सकता था। उनमें कुछ ऐसा भाव ही आ गया था कि बिना जनता की भक्ति प्राप्त किये, बिना लोकप्रिय हुए, लोक-सेवा को समष्टिगत शक्तियों से युक्त नहीं किया जा सकता। लालाजी के जीवन का उत्तरार्द्ध उनके पूर्वार्द्ध से अधिक मनोरंजक है। देश के प्रत्येक नवीन राजनीतिक प्रवाह को देखकर वह प्रश्न करता है—'क्या समय इसके उपयुक्त है ? क्या इसमें सफलता होगी ?' यदि विश्वास हो गया कि सफलता इधर है तो लालाजी को आप उधर पायंगे। ऐसा नहीं कि वह स्वयं आगे आकर मार्ग दिखायें, नये रास्ते पर ले चलें और समय को उपयुक्त बना लें। किसी भी जन-आंदोलन के मध्याह्न में आप उस आन्दोलन के कर्णधार से भी इन्हें आगे पायेंगे। एक लेखक लिखते हैं—"भले ही वह महात्मा गांधी हों जिन्होंने जन-प्रियता के क़िले को

माडरेटों को निकाल बाहर किया हो पर यह लाला लाजपतराय ही होंगे, जो उन 'विश्वास-घातकों' (ट्रेटर्स) पर फ़ैसला देंगे। चाहे साम्प्रदायवाद के प्रवाह को रोकनेवाले दास और मोतीलाल ही हों पर पंजाब-केसरी ही यह बात कहेगा कि मुसलमानों द्वारा हिन्दू दुकानों का लूटा जाना आसूदा और ग़ैर-आसूदा लोगों के बीच होनेवाले संघर्ष का एक अंग है।" मतलब यह कि चाहे आरम्भ में वह किसी जन-आंदोलन से मत-भेद भी रखते रहे हों पर, उसकी सफलता की आशा होने पर, उसके मध्याह्नकाल में वह सदा ज़ोरों के साथ उसका समर्थन करते देखे गये। उनकी मनोवृत्ति ही समष्टि मनोवृत्ति (क्राउड मेण्टेलिटी) थी। इसीलिए उसमें समयानुसार परिवर्तन होता रहता था। मौलाना मोहम्मद अली उन्हें 'द्रुत परिवर्तनशील कलाविद्' ('क्विकचेंज आर्टिस्ट') कहा करते थे।

'क्विकचेंज आर्टिस्ट'

पर जब हम इस मनोवृत्ति की बात लिख रहे हैं तब यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं, और ऐसा किये बिना न्याय के साथ ज़्यादती होती है कि इस प्रकार की सतत परिवर्तनशील मनोवृत्ति भी उनमें कुछ ऐसे अद्भुत रूप में प्रकट हुई थी कि उसने उनको एक शक्तिमान पुरुष बना दिया था। इस परिवर्तनशीलता को उन्होंने जीवनमय, प्राणमय बना दिया था। इसलिए उनमें कभी जड़ता नहीं आई। उनका परिवर्तन ऐसे मनोवैज्ञानिक क्षण में होता था कि जनता में आश्चर्य पैदा करने की अपेक्षा वह उत्साह ही अधिक पैदा करता था। भीषण तूफ़ान के समय बिजली की भाँति एकाएक वह कड़कड़ाते हुए सामने आते थे। पूर्ववर्ती के साथ परवर्ती और कल के साथ आज को इस प्रकार जोड़नेवाला कलावन्त आधुनिक भारतीय राजनीति के क्षेत्र में दूसरा नहीं हुआ। इसी विशेषता के कारण वह जन-समाज में सदा जिन्दा रहे; विपिनचंद्रपाल में यही बात नहीं थी जिससे धारा ने उन्हें

फिर भी शक्तिशाली क्यों ?

एक किनारे लगा दिया और आगे बढ़ गई। इस सतत परिवर्तन ने मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए उनमें अटूट उत्साह पैदा कर दिया था। बदलती रहनेवाली विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार स्वयं अपने को मोड़कर वह अपने भावावेश, अपने मनोभाव की एकता ('यूनिटी ऑव् इम्प्रेशन') बनाये रखते थे। उनकी इस विशेषता ने ही उन्हें देश-बन्धु दास और लोकमान्य के समकक्ष कर दिया था। इसके कारण ही उनमें एक प्रकार का नैतिक प्रवाह उमड़ता था जो बड़े-बड़े जन-समूहों को हिला देता था; इसके कारण ही उनके शब्दों में ऐसी शक्ति पैदा हो जाती थी जो श्रोता को आत्मसात् कर लेती थी; जिसमें एक अवि-श्वासी तार्किक श्रोता का सब विरोध बह जाता था। इसी के कारण वह अपने समय के भारत के अत्यन्त प्रभावशाली, और शायद सबसे शक्तिशाली, वक्ता थे।

पर यह प्रश्न रह ही जाता है कि उनमें इस प्रकार की परिवर्तन-शीलता बाहर से आई या स्वयं उनकी प्रकृति में ही इसके बीज थे।

यह बात आई कहाँ से?

इसका सहसा कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह बहुत विचार की बात है और बहुत सोचने-विचारने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहेंगे कि बीज आंतरिक था, उन्हीं के अन्दर था। परिस्थितियों एवं राजनीति की शतरंजी चालों ने बाहर से भी उसे सहारा दिया। बात यह है कि लालाजी दिल से राजनीतिज्ञ न थे; परिस्थिति ने उन्हें राजनीतिज्ञ बना दिया। उनका हृदय एक जन-सेवक एवं समाज-सुधारक का हृदय था। पर जब किसी पराधीन देश में जागरण का काल आता है तब उसमें चेष्टा करके भी सुधार के एक क्षेत्र को दूसरे क्षेत्र से अलग नहीं रक्खा जा सकता। पराधीन देश की राजनीति और पराधीन देश का समाज-सुधार सब जब उठते हैं तो शक्ति के एक ही स्रोत को लेकर उठते हैं। भारत में भी यही हुआ। इसलिए हम ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज और राम-कृष्ण मिशन

के अनेक सेवकों और प्रचारकों में राष्ट्रीयता की ज्योति देखते हैं। कोई राष्ट्र जब उठता है तो सबको लेकर उठता है; उसके उत्थान को टुकड़े-टुकड़े करके नहीं देखा जा सकता। उस सम्पूर्ण का एक व्यक्तित्व बनता है, एक अलग व्यापक आत्मा बन जाती है।

मानवी आधार

लालाजी भी, गोखले की तरह, शुरू में समाज-सुधार को लेकर चले थे। उनमें सेवा की ज़बर्दस्त प्रवृत्ति थी। वह दीन-दुखियों, रोगियों, अछूतों की दुर्दशा देख न सकते थे। अन्त तक राजनीति के नीचे दबी हुई, उनकी आकांक्षा साथ-साथ चलती रही। जन-सेवक समिति द्वारा उन्होंने अन्तिम वर्षों में अछूतों के प्रश्न को हाथ में ले भी लिया था और अन्तिम दिनों में तो यह भाव उनमें इतना प्रबल हो गया था कि राजनीति के क्षेत्र से वह अलग हो जाने की सोच रहे थे, जैसा कि एण्डरूज को उन्होंने एक पत्र में लिखा भी था। राजनीति के बाह्याचार के बोझ से विशुद्ध जन-सेवा की मानवी भावना यद्यपि दब गई थी फिर भी जो चीज़ उनकी प्रकृति में ही रम गई थी वह कहाँ जाती? परिस्थितियों ने उन्हें राजनीति के क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि वह इसमें पड़ गये पर राजनीतिक नेता में कुछ निश्चित सिद्धान्तों को लेकर चलने और ज़रूरत पड़ने पर विरोध करनेवाली जनता का मुकाबला करके, अपनी संगठन-शक्ति एवं अध्यवसाय के उसकी मनोवृत्ति में परिवर्तन कर देने की जो विशेषता होनी चाहिये वह उनमें नहीं थी। वह आगे हो कर जनता को एक रास्ते पर चलाने की अपेक्षा, जनता के स्वयं एक रास्ते पर चलने का निर्णय एवं तैयारी कर चुकने के बाद, उसके आगे-आगे चलने को तैयार होते थे। आवश्यक होने पर, जनता-द्वारा चिढ़ाये जाकर भी मार्ग दिखाने एवं अनुशासन की जो निष्ठुरता नेता को अपने एवं दूसरों के साथ करनी पड़ती है वह उनमें नहीं थी। उनका कोमल हृदय ऐसा हो भी नहीं सकता था।

इसीलिए हम उन्हें जन रुचि को 'अधीन' करनेवालों में अग्रगण्य पाते हैं। भीड़ को, जन-समूह को देखकर उनमें अद्भुत भावावेश आ जाता था। मेरे एक स्नेही बंधु ने, जो एक अच्छे वक्ता हैं, मुझसे एकबार अपने सम्बन्ध में कहा—"जितने ही अधिक श्रोता हों, उतना ही मेरा भाषण अधिक प्रभावशाली होता है।" लालाजी के विषय में भी यह बिलकुल ठीक है। थोड़े से आदमियों में वह उतना अच्छा कभी न बोल सकते थे, जितना अच्छा विशाल जन-समूह के सामने बोलते थे। जन-समूह नशा का काम करता था; उस समय वह और सब भूल जाते थे। वह हैं और जनता का एक विशाल समूह है (जो उनका व्याख्यान सुनने की आशा से एकत्र हुआ है) इतना ही उन्हें याद रहता था! यह याद रखने की बात है कि जनता तर्कपूर्ण भाषणों को कभी पसन्द नहीं करती; विश्लेषणात्मक भाषण उसे थका देते हैं; वह साफ-साफ, 'हाँ या नहीं', इस पार या उस पार के वक्ता का निर्णय सुनना चाहती है। लालाजी में यही बात थी। रूजवेल्ट ने कहा था—"सबसे सफल राजनीतिज्ञ वह है जो वे बातें कहता है, और सबसे ज़ोरदार आवाज़ में उन्हें कहता है, जिसे सर्वसाधारण सोच रहे हों।"* यह एक सत्य है, यदि सफल से श्री रूज़वेल्ट का अभिप्राय लोकप्रिय राजनीतिज्ञ से हो। लालाजी के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। 'वह वर्तमान के संदेश-वाहक थे।' ×

जनता के नेता

इस वर्तमान के कारण ही वह भूत को बिलकुल भूल जाते थे। नहीं तो उनके समान व्यक्ति, जिसने अपनी सारी उम्र अछूतोद्धार में व्यतीत की और जो अनेक बार युरोप और अमेरिका की यात्राएँ कर चुका था, जातिगत वैमनस्य के जमाने

वर्तमान के पुजारी

* "The most successful politician is he who says what everybody is thinking most often and in the loudest voice."

× "He is the prophet of the present mood, the mood that is passing away."

ने, कौंसिल-निर्वाचन के समय, मोतीलालजी पर यह आक्षेप करता है कि वह होटल सेसिल में टिकते हैं और मुसलमानों के साथ खाना खाते हैं! लालाजी के मुँह से यह बात! मालवीयजी यदि यही बात कहते तो उचित न होते हुए भी उसमें एक सचाई होती पर लालाजी, मानों यह कहकर अपने ही भूतकाल पर पानी फेर रहे हों। ऐसा क्यों? इसीलिए कि वर्तमान का आवेश उनमें इतना प्रबल हो जाता था कि वह भूतकाल को बिलकुल भूल जाते थे। वह हिंदू-मुस्लिम अविश्वास का ज़माना था। उस समय ऐसी बातें हिन्दुओं को रुचती थीं। इसलिए जन-रुचि के इस महान् प्रतिबिम्ब में हम ऐसी बातें पाते हैं। ऐसा नहीं कि वह मुसलमानों के विरोधी थे; नहीं, यह सोचना उनको बिलकुल गलत दृष्टि से देखना है। उनमें मुसलमानों के प्रति द्वेष का ज़रा भी भाव न था। यदि जनता हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए तैयार होती तो वह उसके ही ज़बर्दस्त हामी होते। वर्तमान के प्रति, बिलकुल तुरन्त के प्रति, उनकी इस आसक्ति को समझे बिना उनके जीवन को समझने में बड़ी भूल हो सकती है। जबतक इसे न समझ लिया जाय तबतक यह कैसे समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने मातृभूमि की सेवा में बाल पकाये, निर्वासन और जेल-यातनाएँ सहीं वह हिंदू-संगठन के समय, कौंसिल-निर्वाचन के अवसर पर, हिन्दू जनता को सम्बोधन करके यह कह सकता है—"मेरा समग्र जीवन, हिन्दुत्व की सेवा में लगा रहा है। मेरे जीवन, मेरे रगोरेशे में वह व्याप्त है!"

एक घटना हिन्दू-संगठन के उस ज़माने में उनकी कैसी अस्थिर मनोवृत्ति हो रही थी, इस सम्बन्ध में एक घटना* का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता—

स्वामी श्रद्धानन्द की, एक मुसलमान द्वारा, हत्या हो चुकी थी। इस घटना के कुछ ही दिनों बाद का ज़िक्र है। मध्यप्रांत के एक महाराष्ट्र

*Pillars of Nation से ली हुई।

ब्राह्मण शिमला गये हुए थे । लौटती बार उन्होंने सोचा—पंजाब केसरी के दर्शन करते चलें । लालाजी उस समय बड़ी अस्थिर मनोदशा में थे । अफ़वाहें उड़ रही थीं कि मुसलमान उनके पीछे भी पड़े हैं और उनकी भी वही दशा होगी। बेचारे ब्राह्मण देवता ऐसे ही समय दर्शन के लिए पहुँचे। लालाजी ने ग़ौर से उनकी ओर देखा; सिर पर लम्बी चोटी और कानों में छेद नहीं थे। "तुम हिन्दू नहीं हो," लालाजी ने कहा। निर्दोष ब्राह्मण ने कहा—"मैं हिन्दू हूँ।" लालाजी को विश्वास नहीं हुआ; वह घबड़ा गये, बोले—"नहीं, तुम हिन्दू नहीं हो।" इसके बाद आवाज़ दी—"मेरा पिस्तौल लाओ!" बेचारा ग़रीब ब्राह्मण अपनी जान लेकर भागा। लालाजी के आदमी ने उसका पीछा किया पर वह किसी तरह निकल गया और दिल्ली आकर वहाँ के स्थानीय नेताओं से इस घटना की चर्चा की।

× × ×

उनका महत्व

इस विश्लेषण में मैंने लालाजी के व्यक्तित्व को खोलकर समझाने की चेष्टा की है। इससे उनका महत्व कम नहीं होता। भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में उन्हें लोकमान्य के साथ ही स्थान मिलेगा। स्वाधीनता-यज्ञ में दो प्रकार के आदमियों की आवश्यकता होती है। पहले आन्दोलन की, हलचल मचाने वालों की, लोगों में स्वाधीनता का भाव भर देने वालों की; बाद में गंभीर नेता की। लालाजी पहली श्रेणी के थे। वह आन्दोलन-कारी ('एजीटेटर') थे; नेता ('लीडर') नहीं। या यह कह सकते हैं कि 'एजीटेटर' अधिक थे, 'लीडर' कम। उपयोगिता के लिहाज़ से पराधीन देश में, आन्दोलनकारी का, 'एजीटेटर' का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि बिना उनके राष्ट्र में चेतना नहीं आती। बिना इसके समष्टि—समाज—जीवन-शून्य रहता है, और बिना इस जाग्रति के, हलचल के राष्ट्रीयता की दीवार खड़ी की नहीं जा सकती। आन्दोलन—हलचल

कारी,—'एजीटेटर'—जो शक्ति पैदा करता है उसी पर आगे आनेवाला नेता अपनी नींव रखता है। इस दृष्टि से हमारे तिलक और लालाजी, गोखले और सप्रू से कहीं बड़े ठहरते हैं। उनकी कोई स्पष्ट देन तो दिखाई नहीं देगी—उन्होंने देश के लिए सरकार से कुछ सुविधाएँ नहीं प्राप्त कीं, न कोई महत्वपूर्ण समझौता उनके नाम के आगे अंकित किया जा सकता है फिर भी उन्होंने विशाल भारतीय जन-समूह के हृदय में एक भावना, एक लगन, एक प्यास पैदा की—वह प्यास जो लक्ष्य में सफल हुए बिना शायद ही बुझे। लालाजी का महत्व यहीं पर है।

—०ॐ०—

विभिन्न क्षेत्रों में कार्य

लालाजी एक प्रबल समाज-सुधारक, जन-सेवक, शिक्षा-विशेषज्ञ, सफल लेखक और शक्तिमान वक्ता थे। सेवा का शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा हो जिनमें उन्होंने कुछ न कुछ काम न किया हो। उन्होंने विभिन्न देशों की शिक्षा-पद्धतियों का अच्छा अध्ययन किया था। लेखक की हैसियत से देखें तो उनकी रचनाओं में भाषा का वह प्रवाह, तथ्यों एवं घटनाओं का वह संकलन मिलता है जो दूसरी जगह बहुत कम मिलेगा। उनकी मेज़िनी, गेरीबाल्डी, शिवाजी, कृष्ण, दयानन्द, गुरुदत्त की जीवनियाँ इस बात को प्रकट करती हैं कि वह एक सफल जीवनी-लेखक थे। 'आर्य समाज' और 'भारत का राजनीतिक भविष्य' नामक उनकी पुस्तकें, अपने समय में, बड़ी प्रामाणिक मानी जाती थीं। उनके 'तरुण भारत' (यंग इण्डिया) ग्रंथ ने एक समय बड़ी हलचल पैदा की थी और उस समय भारत में उसका आना भी रोक दिया गया था। उनकी अन्तिम पुस्तक, जिसमें उन्होंने बड़ा परिश्रम किया था, और जिससे अनेक पाठक परिचित हैं, मिस मेयो की पुस्तक 'भारत माता' के जवाब में लिखा हुआ,

'दुखी भारत' है । इससे अच्छा और प्रामाणिक उसका दूसरा जवाब नहीं निकला । 'वन्देमातरम्' और 'पीपुल' में लिखे हुए लेख उनकी ज़बर्दस्त क़लम की यादगार छोड़ गये हैं ।

और वक्ता तो वह ला-जवाब थे । कितना ही विशाल जन-समूह हो उसको क़ाबू में कर लेना उनके बायें हाथ का खेल था । उनकी वक्तृता 'मार्च' करती हुई फौज के सामने बजनेवाले धौंसे के—बैण्ड के समान, जो सैनिकों को मस्त कर देता है, थी । लालाजी ने बोलने का यह ढंग देव समाज के स्थापक पं० शिवनारायण अग्निहोत्री से लिया था । अग्निहोत्री जी (पीछे से देवगुरु) अपने समय में, भारत में, हिन्दी-उर्दू के बेजोड़ वक्ता थे ।

निस्सन्देह विभिन्न क्षेत्रों में लालाजी ने बड़ा काम किया था ।

— छः —

उनकी स्मृति में—

यह भी मेरा भाग्य था कि मृत्यु के दो-चार दिन पहले ही मैंने उनके दर्शन किये थे । चोट लगने के बाद भी लालाजी दिल्ली आये थे । उस समय सर्व-श्री मोतीलाल, जवाहरलाल, माता बसन्त, सुभाष बोस, विजय-राघवाचार्य, मालवीयजी, लालाजी इत्यादि सभी वहाँ एकत्र हुए थे । मुझे जवाहरलाल, सरदार शार्दूलसिंह और लालाजी से मिलना था । जवाहरलाल जी और कवीश्वर शार्दूलसिंहजी के दर्शन किये, कुछ बातें भी हुईं । लालाजी बहुत व्यस्त थे । इसलिए सरदार साहब की सलाह से मैंने लाहौर जाकर मिलना निश्चय किया । दो दिन बाद लालाजी एवं सरदार साहब लाहौर लौटे । तीन-चार रोज़ बाद मैं लाहौर पहुँचा । वहाँ टण्डन जी के भी दर्शन हुए । सरदार साहब से मिलकर मैं लालाजी के यहाँ पहुँचा । मेरे मित्र श्री राजाराम शास्त्री ने (जो उस समय द्वारकादास

पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष थे) कहा—'लालाजी की तबीयत तो ठीक नहीं है। शायद ही मिल सकें।' पर दिल कहाँ मानता था? काँपते हाथों एवं धड़कते हृदय से मैंने चिट्ठी लिखी और उनके पास भेज दी। थोड़ी देर बाद ही उन्होंने मुझे बुला लिया। एक आरामकुर्सी पर लेटे हुए थे। उस समय भी काम तो करते ही जाते थे पर चेहरे पर वह उत्साह न था। थकान मालूम होती थी, फेफड़ों में कुछ तकलीफ़ थी इसलिए धीरे-धीरे बोलते थे। मैंने देखा कि ऐसी हालत में ज्यादा कष्ट देना ठीक नहीं। काम की दो-चार बातें करके मैंने उन्हें झुककर प्रणाम किया और वहाँ से चला आया।

उसके बाद कानपुर होता हुआ मैं बनारस पहुँचा ही था कि मुझे उनके देहावसान का समाचार मिला। वज्राघात-सा हुआ। समाचार इतना आकस्मिक था कि हृदय मानना ही न चाहता था। किसी का, लालाजी के कुटुम्बियों तक का, यह खयाल न था कि लालाजी हमें इतनी जल्द छोड़ जायँगे। मैंने मन ही मन उन्हें प्रणाम किया और कलेजा मसोस कर रह गया!

यह १७ नवम्बर १९२८ का दिन था!

× × ×

लालाजी का जीवन अनवरत अध्यवसाय का जीवन था। कभी वह शान्त नहीं बैठे। सदा कुछ न कुछ करते रहते थे। स्त्रियों एवं अछूतों के लिए उनके दिल में सब से ज्यादा पीड़ा थी। इस दिशा में वह सदा प्रयत्नशील रहे। उनका जीवन प्रकाश है जिसकी सहायता से वर्तमान और अगली संतति निरन्तर सेवा के अत्यन्त कल्याण-कारी मार्ग पर बढ़ सकती है। गाँधी जी ने ठीक ही कहा था—

"लालाजी तो एक संस्था थे। अपनी जवानी के समय से ही उन्होंने देश-भक्ति को अपना धर्म बना लिया था और उनके देश-प्रेम में संकीर्णता न थी। वह अपने देश से इसलिए प्रेम करते थे कि वह संसार से प्रेम

करते थे। उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता में भरपूर थी। × × × उनकी सेवाएँ विविध थीं। वे बड़े ही उत्साही समाज और धर्म-सुधारक थे। × × ऐसे एक भी सार्वजनिक आन्दोलन का नाम लेना असम्भव है जिसमें लाला जी शामिल न थे। सेवा करने की उनकी भूख सदा अतृप्त ही रहती थी। उन्होंने शिक्षण-संस्थाएँ खोलीं; वे दलितों के मित्र बने; जहाँ कहीं दुख-दरिद्र हो वहीं वह दौड़ते थे।"

जीवन-तालिका

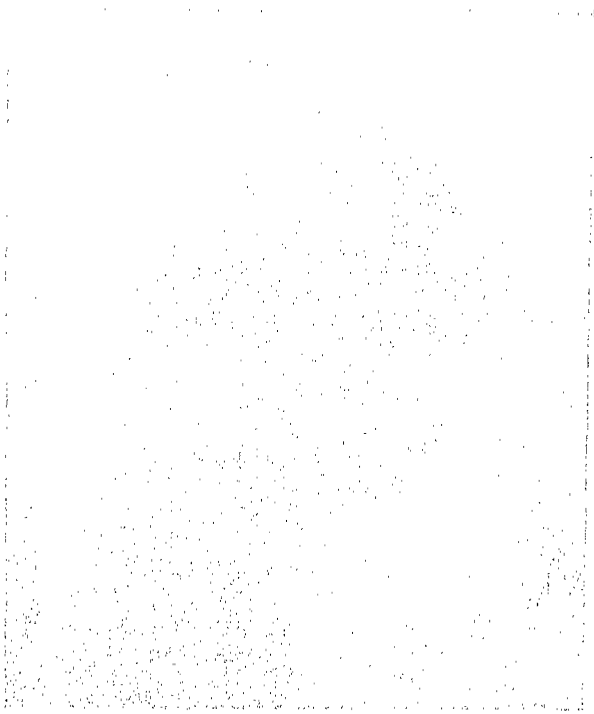
१८६५	२८ जनवरी	ढोडिग्राम (ननिहाल) में जन्म।
		पिता के पास ही प्रारम्भिक शिक्षा।
		मिशन-स्कूल लुधियाना में प्रवेश।
		बाद में अम्बाला में एक बंगाली शिक्षक से घर पर ही विद्या-लाभ।
१८८०	....	एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की।
		फिर लाहौर में पढ़ने गये।
१८८२	....	एफ० ए० में पढ़ते समय मुख्तारी परीक्षा पास की।
		लाहौर में स्व० गुरुदत्त, ला० हंसराज इत्यादि से परिचय।
१८८३	...	जगराँव में मुख्तारी।
१८८५	...	वकालत की परीक्षा पास की।
१८८६	....	हिसार में वकालत शुरू की।
		हिसार की म्युनिस्पल कमेटी के अवैतनिक मन्त्री।
१८९२	अप्रैल	लाहौर आये। वहाँ वकालत करने लगे। देव-समाज के संस्थापक श्री अग्निहोत्री से परिचय। आर्य-सामाजिक संस्थाओं

		में सेवा-कार्य। दयानन्द कालेज की (अवैतनिक मंत्री, उपसभापति एवं अध्यापक के रूप में) सेवा।
१८९६	....	उत्तर भारतीय अकाल में स्मरणीय सेवा।
१८९९	...	राजपूताना-दुर्भिक्ष में स्मरणीय सेवा।
१९०५	...	काँगड़ा-भूकम्प के समय स्मरणीय सेवा। काँग्रेस डेपुटेशन में इंग्लैण्ड-यात्रा। महत्वपूर्ण प्रचार-कार्य। वहाँ से अमेरिका की यात्रा।
१९०७	अप्रैल	गिरफ़्तारी। निर्वासन।
	१६ मई	मण्डाले के क़िले में पहुँचाये गये।
	११ नवम्बर	छुटकारा।
	१८ नवम्बर	लाहौर पहुँचे।
	दिसम्बर	तूफ़ानी सूरत कांग्रेस में सम्मिलित हुए। कांग्रेस के दोनों दलों में समझौते का प्रयत्न किया पर असफल रहे।
	३० दिसम्बर	अखिल भारतीय स्वदेशी सभा (सूरत) का अध्यक्षता।
१९०८	अप्रैल	कांग्रेस के नरम दलवालों का सम्मेलन। लालाजी सम्मिलित हुए। यहाँ भी दोनों दलों को मिलाने की कोशिश की पर सफलता न हुई।

१९०८	...	इंग्लैण्ड-यात्रा । इंग्लैण्ड में प्रचार कार्य।
१९०९	....	भारत लौटे। पंजाब हिंदूसभा की स्थापना।
१९१०	...	पुत्र इंग्लैण्ड में बीमार था । इसलिए तीसरी इंग्लैण्ड-यात्रा । प्रचार-कार्य ।
१९११	...	पुत्र का देहावसान ।
	...	पंजाब-शिक्षा-संघ की स्थापना । प्राथमिक शिक्षा-प्रसार के लिए कई स्कूल खोले । पिता के नाम पर राधा-कृष्ण हाईस्कूल की स्थापना ।
१९१२	....	लाहौर म्युनिसिपल बोर्ड के सदस्य चुने गये ।
		बाँकीपुर कांग्रेस में सम्मिलित हुए ।
१९१२-१३	....	दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह के सहायतार्थ, श्री गोखले की अपील पर, पंजाब से २५ हज़ार चंदा करके भेजा ।
१९१३	....	कराँची कांग्रेस में दक्षिण-अफ्रिका के प्रवासी भारतीयों की समस्या पर भाषण।
१९१४	...	कांग्रेस की ओर से इंग्लैण्ड डेपुटेशन गया । उसमें लालाजी भी गये । इंग्लैण्ड से जापान-यात्रा । इसी बीच युरोपीय महायुद्ध की घोषणा । फलतः इंग्लैण्ड लौट गये; भारत न आ सके ।

	नवम्बर	इंग्लैण्ड से अमेरिका गये। अमेरिका में 'यंग इण्डिया', 'पोलिटिकल फ्यूचर आफ् इण्डिया' इत्यादि पुस्तकें लिखीं। अनेक पुस्तिकाएँ लिखीं तथा खूब प्रचार किया। वहाँ 'इण्डियन इन्फार्मेशन ब्यूरो' की स्थापना की।
१९२०	२० फरवरी	बम्बई में आगमन।
	सितम्बर	कलकत्ता के विशेषाधिवेशन की अध्यक्षता। 'तिलक स्कूल ऑव पालिटिक्स' की स्थापना।
१९२१	....	असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए।
	३ सितम्बर	गिरफ्तारी। १८ महीने एवं ५००) जुर्माना की सजा। पर कुछ समय बाद छुटकारा। फिर गिरफ्तारी।
१९२२	६ मार्च	एक वर्ष का कठोर कारावास एवं एक वर्ष की सादी कैद की सजा। स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया।
१९२३	१६ अगस्त	स्वास्थ्य की खराबी के कारण मुक्ति। हिन्दू-महासभा—आन्दोलन में सम्मिलित हुए।
१९२५	...	हिन्दू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन की अध्यक्षता।

	....	स्वराज्य-दल में सम्मिलित हुए। पीछे अलग हो गये और स्वतन्त्र कांग्रेस दल का संघटन किया।
१९२८	अक्तूबर	संयुक्तप्रान्तीय हिन्दू कान्फरेंस इटावा की अध्यक्षता।
	३० अक्तूबर	साइमन कमीशन का लाहौर—आगमन। १४४ की घोषणा। जुलूस का संघटन। पुलिस-द्वारा लाठी-वर्षा, लालाजी की छाती में चोट।
	१७ नवम्बर	प्रातःकाल ७ बजे देहावसान।



मोहनदास करमचन्द गांधी

('महात्मा' : 'बापू')

: जन्म :

आश्विन कृष्ण १२, सं० १९२५ वि० : २ अक्टूबर १८६९ ई०

: मृत्यु :

माघ कृष्ण ३, शुक्रवार २००४ : ३० जनवरी १९४८ ई०

"आज महात्मा गांधी समग्र संसार के जीवन के मध्य में खड़े हैं, और कई शताब्दियों का भाग्य अपनी मुट्ठी में बन्द किये हुए हैं।"

—जान होम्स।

कई वर्ष पूर्व अमेरिका के प्रसिद्ध धर्मशिक्षक श्री होम्स ने ये शब्द कहे थे, जो आज भी उतने ही सत्य लगते हैं।

२ अक्टूबर! एक भाग्यवान दिवस, जिसने गाँधी की ८० वर्ष-गाँठें देखी हैं। यह छोटी सी दो की संख्या मानव-जाति के इतिहास में तब भी याद की जायगी जब इतिहास की घटनावलियों के तिथि क्रम मनुष्य के स्मृति-पट से मिट जायँगे!

ता० ३० जनवरी! वह दिन जब भारतीय संस्कृति की मूर्त्त अभिव्यक्ति और प्रतीक गांधी को, राष्ट्र की विकृति और कुसंस्कृति ने गोलियों का उपहार दिया—जब इस यज्ञ-पुरुष की छाती ने उन मारक गोलियों का स्वागत किया, मानो जीवन निःशेष होकर भी मृत्यु पर छा गया हो। यह ३० जनवरी हमारे चिर-कलंक के रूप में युग-युग तक याद की जायगी!

प्रवक्ताओं का महत्व

प्रवक्ता और महापुरुष शताब्दियों बाद संसार में आते हैं। उनके रूप में प्रभु का रूप हमारे सामने आता है। पृथ्वी पर ईश्वरत्व के अवतरण का यही रूप है। इन महापुरुषों के आते रहने से ही मनुष्यता अपने को सुरक्षित और पनपती हुई रख सकी है। हमारी संस्कृति की धरोहर को इन्होंने सुरक्षित रखा है। इन्होंने पथभ्रष्ट मनुष्य जाति को और अन्धकार में डूबते हुए दिलों को उभारा है और फिर ठीक मार्ग पर लगा दिया है। संसार का इतिहास इन महापुरुषों की कृति है और यदि हम इनको भूल जायँ तो अपने को उस विष से

बचा न सकेंगे जिसका नाम मृत्यु है और जिसमें आत्मा की मूर्च्छना का मारक अन्धकार है।

\+ \+ \+ \+

हाँ, तो कह रहा था कि आज से ८० वर्ष पूर्व २ अक्टूबर ने मानवता की गोद में एक भावी महापुरुष का अवतरण किया था। तब से ८० हेमन्त बीत गये हैं। १८६६ की दुनिया १९४९ में पहुँच गई है। इस बीच वह बढ़ा, पनपा फूला और फला। उसने हमें प्रकाश दिया; उसने हमारे अन्तःकरण को जाग्रत किया—जैसे जीवन में, वैसे ही मृत्यु में भी। क्या अच्छा हो, आज जरा हम लेखा लगा लें और देखें कि उसने हमें क्या दिया; और उसकी महानता का रहस्य क्या है?

किसी विचारक ने जब लिखा था कि 'संसार अपने महापुरुषों के विषय में कुछ नहीं जानता' तो उसने मनुष्य जाति के विवेक पर एक अप्रिय पर सत्य टीका की थी। आज यातायात एवं प्रचार की वैज्ञानिक सुविधाओं के इस युग में भी वह बात कुछ कम सत्य नहीं है। राजनीति के प्रबल प्रभञ्जन ने यद्यपि गांधी को संसार के प्रत्येक भाग तक पहुँचा दिया और उन पर लिखा भी इतना जा चुका है कि एक अलग पुस्तकालय बन सकता है, फिर भी यह कहने में

गांधी के विषय में अज्ञान

जरा भी अत्युक्ति न होगी कि उनके विषय में संसार का ज्ञान नगण्य है और जो कुछ लिखा गया है वह अनुभूति एवं ज्ञान के लिए नहीं वरं समाचारपत्र एवं पुस्तक-पाठकों की उत्कण्ठा की तृप्ति के लिए लिखा गया है। हममें से भी, जो उस प्रकाशपिण्ड के निकट रहे हैं, बहुत ही थोड़े लोग ज्योतिःपुञ्ज की जगमगाहट में स्थिर दृष्टि से उसकी महानता को देख सके हैं। उसका वर्णन तो बहुत किया गया है पर उसे समझने देखने और अनुभव करने की चेष्टा बहुत ही कम की गई है।

\+ \+ \+ \+

संसार में राजनीतिज्ञ तो बहुत हुए हैं और हमारे देश में भी उनकी कुछ कमी नहीं है। देशभक्तों की सूची उठाकर देखें तो दादाभाई, लोकमान्य, फीरोजशाह मेहता, मालवीय जी, देशबन्धु, मोतीलाल जी, लालाजी एक से एक नाम हमारे मन में गूंजते हैं। इनके चरणों में सिर झुक जाता है। इनके त्याग और मातृभूमि के प्रति इनकी अविरल निष्ठा को देखकर दिल आदर और सम्मान से उमड़ता है।

परन्तु एक प्रश्न! भारत को एक दुबले-पतले गांधी ने जिस तरह चेतना से भर दिया उस तरह ये क्यों न कर सके? वाइसराय से लेकर साधारण सिपाही तक और महाराजाओं से लेकर साधारण जङ्गली गोंड तक क्यों उसके स्पर्श से सिहर उठा? ऐसा विराट् रूप दूसरों को प्राप्त क्यों न हुआ? एक आदमी जिसका व्यक्तित्व कुछ आकर्षक नहीं था, जिसका वक्तृत्व झल्लाहट पैदा करता था और जिसकी बौद्धिक शक्तियां कुछ असाधारण नहीं थीं क्यों भारत के प्राणों में बस गया और दुनिया में उनके प्रति इतनी उत्सुकता क्यों दिखाई देती है? वह क्या चीज है जिसने उसे ऐसे अजेय, ऐसे शक्तिमान रूप में हमारे सामने ला खड़ा किया?

वह विराटता दूसरों को क्यों प्राप्त नहीं?

बात यह है कि हमारा जीवन मूर्च्छना से भर गया था और जब हम आधुनिक सभ्यता की गति में आत्मविश्वास खोकर बेसुध बहे जा रहे थे, जब मनुष्य अपनी शक्ति एवं आनन्द के स्रोत को भूल गया था और दुनिया की बाहरी गुलकारियों, मदिर प्रवञ्चनाओं में भटक रहा था, जब मनुष्य अपने को मशीन समझ बैठे थे और जीविका एवं धन की प्रबल होड़ ने हमारे दृष्टिकोण को स्वार्थान्ध कर दिया था, तब ऐसे अन्धकारमय क्षितिज के ऊपर, गांधी की वाणी अकस्मात्, बिजली की नाईं, चमक उठी और उसने बोध एवं विश्वास-भरे शब्दों में पुकार कर कहा—'ऐ भूले मनुष्य, तेरे लिए यह मार्ग असत् है। तू अपने

को भूल कर दुनिया को न पा सकेगा ।'

गांधी, आत्म-विस्मृत, दैन्य से भरे हुए हमारे जीवन के बीच, असीम आत्मविश्वास के ध्रुवतारे की भाँति, हमें मार्ग निर्देश करता है। यह छोटा सा आदमी! इसका साहस हमें आकर्षित करता था—गरीब इसकी ओर माता समझ कर देखते थे; धनी और अधिकारी इसकी हिम्मत पर आश्चर्य करते थे। यह कैसा आदमी है! पर यही गांधी है; आत्म-विश्वास की मूर्ति; मानवता के दुःख से दुखी और उसे अन्धकार से प्रकाश में लाने को उद्यत! सर्वश्रेष्ठ मानव-संस्कृति के प्रतीक-सा।

सतत साधना से गढ़ा जीवन

उसकी साधना उसके जीवन में प्रकाश-रेखा की भाँति चमक रही है। जब हम उसकी जीवनी पढ़ते हैं तो देखते हैं कि वह आरम्भ से अन्त तक साधनामय है। वह उठता है, गिरता है, फिर उठता है और आगे बढ़ता जाता है। यह साधना सत्य की साधना है। इस सत्य साधना में अहिंसा उसका साधन है; अन्तःकरण कसौटी है; निजी एवं भारत का सार्वजनिक जीवन उसकी प्रयोगशाला है। और इस दृष्टि से देखें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचने में देर न लगेगी कि वह राजनीतिक नेता उतना नहीं, जितना साधक और हमारी संस्कृति का उद्धारक है। उसका सन्देश राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वदेशिक है। राजनीति को भी इस साधना ने प्रभावित किया पर वह इसलिए कि आज राजनीति ने हमारे जीवन को चारों ओर से आच्छन्न कर लिया है और बिना उससे निबटे कोई चल नहीं सकता। राजनीति में वह आँधी की तरह आया, इसलिए कि वह प्रत्येक ऐसे बन्धन का विरोधी था जो आत्मा को मूर्छित करता और अन्तःकरण की आवाज को दबाता है। वह ऐसी प्रत्येक शासन-प्रणाली एवं समाज-व्यवस्था के प्रति विद्रोही रहा जो मनुष्य में पशुता को बढ़ाती, स्वार्थ का मार्ग प्रशस्त करती और उसे वासनाओं का गुलाम बनाती है। और वह

प्रत्येक ऐसी चीज का समर्थक था जिससे आत्मिक शक्ति बढ़ती है, अन्तःकरण को बल मिलता है और जो मनुष्य में देवत्व लाती है।

समाज-सुधारक एवं राजनीतिज्ञ इत्यादि तो इस साधक पुरुष, सत्य पुरुष गांधी, के टुकड़े, अपूर्ण पक्ष हैं। वस्तुतः उसका जीवन, बचपन से मृत्यु तक, साधना की एक अविच्छिन्न धारा है। यह असत् एवं प्रेय के साथ सतत संघर्ष का जीवन है जिसमें श्रेय की ओर जाने के लिए सतत युद्ध है, सतत तैयारी है, सतत जागरूकता है। प्रवासी

प्रेय से श्रेय की ओर

भारतीय समस्या में, खिलाफत में, असहयोग में, सत्याग्रह में, हरिजन-सेवा एवं ग्राम-सेवा में सर्वत्र वही तैयारी का क्रम है; वही साधना का जीवन है; वही श्रेय के चिरयात्री का चित्र है। यह स्पष्टतः आत्म-परिष्कार एवं आत्म-साक्षात्कार का मार्ग है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस सत्य की साधना में न केवल लक्ष्य निर्मल एवं विशुद्ध है वरन् साधनों की निर्मलता एवं विशुद्धता पर भी

साधनों की शुद्धता

बहुत जोर दिया गया है। बुराई से भलाई पैदा नहीं हो सकती और अशुद्ध साधनों के द्वारा विशुद्ध लक्ष्य की प्राप्ति असम्भव है। इसका वैज्ञानिक कारण यह है कि साध्य वस्तुतः साधन की ही चरम परिणति का नाम है। वह साधनों से बिलकुल अलग-सी कोई चीज नहीं है। संसार में सत्य के शोधक और साधक भी बिलकुल ही नगण्य नहीं हुए पर दो-तीन को छोड़ साधनों की शुद्धता पर किसी ने इतना ध्यान न दिया। गांधी ने अपनी सत्य-साधना में जो अहिंसा को इतना महत्त्व दिया वह योंही नहीं है। संसार में जो जीवन है, सब स्रष्टा का चैतन्यांश है अतः सब पवित्र है; यह भाव रख कर ही मनुष्य सृष्टि के सम्पूर्ण जीवन की अभिन्नता को देख एवं ग्रहण कर सकता है। इस दृष्टि से अहिंसा विश्व की अभिन्नता, एकात्मरूपता की अनुभूति का आवश्यक

उपादान है, और इस अर्थ में, एक प्रकार से वह स्वयं अपरिणत सत्य ही है। इसमें अपने एवं दूसरे के जीवन-नाश की सबसे कम सम्भावना है। इससे शक्ति का क्षय नहीं होता; इससे आत्म-शक्ति जाग्रत करनेवाली भावनाओं को उत्तेजन मिलता है। इसलिए यह अहिंसा तात्त्विक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से गांधी की सत्य-साधना का महत्वपूर्ण अङ्ग है।

और अहिंसा को उसने अपने सतत परीक्षण एवं सतत जागरूकता के जीवन में माँज-माँज कर अत्यन्त व्यापक एवं परिष्कृत रूप दिया। केवल जीव का नाश न करने तक ही वह सीमित नहीं है; उसे किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक पीड़ा उसके अकल्याण की भावना से न देना, उलटे उसके कल्याण के लिए कामना एवं चेष्टा करना भी उसकी अहिंसा में शामिल है। और इस भाव की परिक्षति के लिए ईर्ष्या-द्वेष, लोभ, भय इत्यादि तामसिक एवं असात्विक प्रवृत्तियों का त्याग करना आवश्यक है। इस बात को समझ लें तो हम हिन्दू संस्कृति के मूल तक पहुँच जाते हैं और आधुनिक सभ्यता में जो होड़, अशान्ति एवं प्रतिक्रिया है, उसका अन्त अपने आप हो जाता है।

नीति का प्रवक्ता

इसीलिए गांधी ने नीति (मॉरैलिटी) पर इतना जोर दिया है। सच बात तो यह है कि बुद्ध के बाद, जीवन में नीति की प्रधानता पर इतना जोर देने वाला दूसरा महापुरुष हमारे बीच नहीं आया। गांधीजी की सारी हस्ती जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होनेवाले अन्तःकरण-नाशक कार्यों के विरुद्ध एक स्थायी —अविच्छिन्न—नैतिक विद्रोह है। जहाँ कानून मनुष्यता की आत्मा के विकास की सुविधा नहीं देता, उसे धुँधला कर देता है वहाँ उसका मानना पाप है। जहाँ धर्म विवेक एवं सच्ची निष्ठा का तिरस्कार करता है और व्यक्ति एवं समाज की नैतिक उन्नति में बाधक होता है वहाँ वह त्याज्य है। इस प्रकार के नैतिक अत्याचार को आश्रय न देना सत्य-शोधक का कर्तव्य है और कर्तव्य-पालन में जो कष्ट

मिलें उन्हें शुद्ध हृदय से सहन कर लेना उसका धर्म है।

इस प्रकार उसका सत्याग्रह का तत्वज्ञान विशुद्ध भारतीय संस्कृति के मूल, जीवन की शुद्धता एवं नैतिकता से जन्म लेता है। इस नीति का उसने व्यापक प्रयोग किया और उसे व्यक्तिगत साधना के जीवन से उठाकर विश्व के राजमार्ग पर ला खड़ा किया अपने प्रतिहिंसा-शून्य कष्ट-सहन के प्रयोग से उसने आधुनिक समाज-व्यवस्था के दोष हमारे सामने स्पष्ट कर दिये हैं। साधु एवं सज्जन का उत्पीड़न स्वयं समाज के विरुद्ध एक टीका है। श्री जी० वी० मेहता ने अपनी पुस्तक 'कांशंस ऑव् ए नेशन' में ठीक ही लिखा है :—

"एक गांधी का अपना अपराध स्वीकार करना ही वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के दोषपूर्ण होने की घोषणा है इसे देख कर लोगों के अन्तःकरण में यह बात उठती है कि जो समाज व्यवस्था कायर के लिए पेंशन का प्रबन्ध करती है और एक संत को छः वर्ष के लिए जेल भेज कर उसका मुँह बन्द कर देती है, उसके मूल में अवश्य ही कुछ दोष होगा।"

इस नैतिक भावना को, जिसके बिना मनुष्य का जीवन पशु के स्तर को छूता है, गांधी ने मानव समाज के सामने अत्यन्त व्यावहारिक रूप में रखा और इसलिए वह इस युग का नैतिक पैगम्बर बन गया।

× × ×

इस नीति के कारण ही हमारे लिए वह इतना महान् है। उसने भारतीय संस्कृति के उद्गम को पहचाना। उसने भारत की आत्मा को देखा। उसने भारत की मूर्च्छित दिव्य अन्तःशक्ति को चैतन्य किया। बहुत से लोग जो गांधी के टुकड़े देखते हैं, पूरा पूरा न देख सकने के कारण, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में उनके हस्तक्षेप पर उत्तेजित हुए, पर मैंने तो गांधी को कभी इसलिए नहीं अपनाया कि वह राजनीतिक नेता है। मैंने सब तरफ से उसे देखा और अत्यन्त निर्दय

कसौटियों पर कसता रहा हूँ। मेरा तो यह विश्वास है कि वह उलटे राजनीतिक की अपेक्षा इन्हीं क्षेत्रों में बोलने एव हस्तक्षेप करने का अधिकारी था क्योंकि तत्वतः वह भारत का राजनीतिक नेता नहीं, सांस्कृतिक नेता था और मृत्यु के बाद भी है। वह हमारी पंगु-सी हो रही हिन्दू संस्कृति का पक्ष है। राजनीति में उसको जो हमने देखा और पाया है इसका कारण यह है कि वह जीवन को सम्पूर्णता में ग्रहण करता है, खण्ड-खण्ड करके उसे नहीं अपनाता। इसीलिए हम लोगों में से जहाँ कोई राजनीतिज्ञ, कोई समाज-सेवक, कोई आदर्शवादी और कोई व्यावहारिक बन कर बैठता है तहाँ वह राजनीतिज्ञ, समाज-सेवक, आदर्शवादी और व्यावहारिक सब एक में था—है। उसने जीवन के प्रत्येक कार्यक्षेत्र में नीतिप्रधान धर्म को महत्व दिया। वह एक क्षेत्र में अर्थ और दूसरे में धर्म को लेकर नहीं चला। उसका सत्य सब में व्याप्त है। राजनीति में धर्म को स्थान न था। उसने कड़क कर कहा—"वह कौन सा क्षेत्र है जिसमें धर्म को स्थान नहीं?" जीवन के भिन्न दृष्टिकोणों के कारण ही सङ्कीर्णता पैदा होती है। यदि हम सर्वाङ्गीण दृष्टि से वस्तुओं को देख सकें तो यह सङ्कीर्णता कैसे रहे? जैसे राजनीति को लें तो गांधी की दृष्टि में वह सर्वसाधारण के कल्याण का साधन है। इस कल्याण का स्थूल तात्पर्य तो सबके लिए रोटी-कपड़े की समुचित व्यवस्था होना है। अब इस रोटी एवं

परिपूर्ण दृष्टि

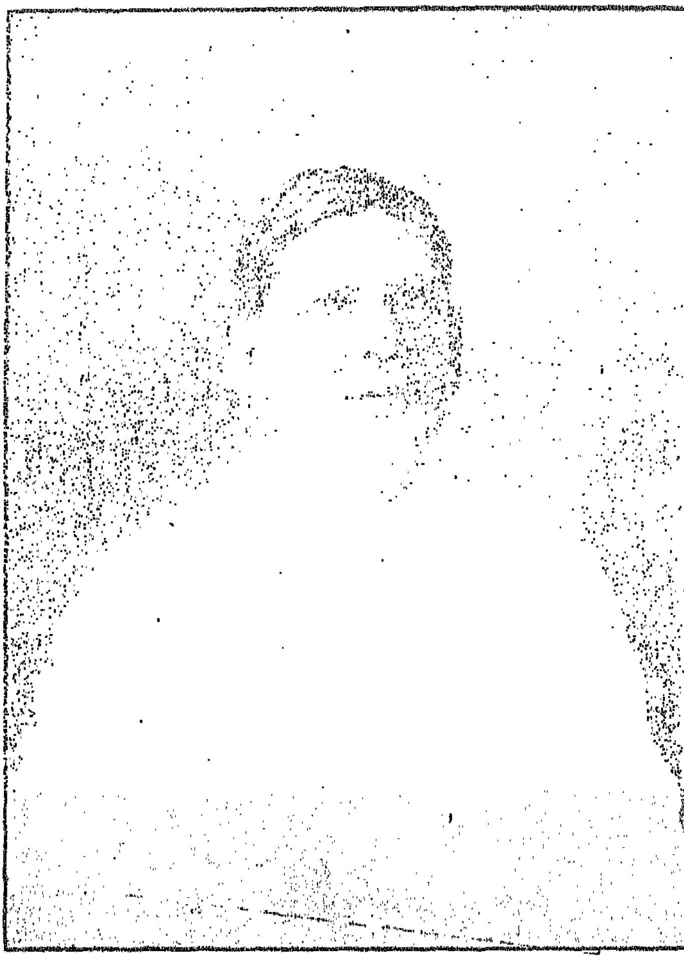
कपड़े को ही लें तो राष्ट्र या राज्य की दृष्टि से यह राजनीति एवं अर्थ-नीति का प्रश्न है। समाज-शास्त्री की दृष्टि से समाज में धन एवं सुविधाओं के न्यायपूर्ण बँटवारे और उचित समाज-व्यवस्था का प्रश्न है और मानवता की दृष्टि से नीति-शास्त्र, तत्वज्ञान एवं धर्म का प्रश्न है। इसीलिए इन अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार करने वाले, इन क्षेत्रों एवं दृष्टिकोणों को अलग-अलग लेकर चलने वाले जहाँ उसे एक संकुचित रूप में ग्रहण करते हैं तहाँ

गांधी की दृष्टि में वह धर्म भी है, राजनीति भी है समाज सुधार भी। इन तीनों को मिलाकर उसने एक में—उस प्रश्न की परिपूर्णता में देखा।

मतलब यह कि राजनीति जीवन से भिन्न नहीं है। इसलिए वह उसके सार्वदेशिक नीतिपूर्ण धर्म से अलग न हो सकी। पर मेरी दृष्टि से तो विगत कई सौ वर्षों में ऐसी दूसरी शक्ति भारतवर्ष में न आई जिसने हिन्दू संस्कृति के विनाश की गति को इतनी सफलता एवं शीघ्रता के साथ रोक दिया हो और जिसने उसके उद्धार एवं उसकी पुनः प्रतिष्ठा में इतना अधिक कार्य किया है।

जन्म से बनिया और आदर्श से ब्राह्मण गांधी में भारतीय समाज-व्यवस्था पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। धर्म और आदर्श की प्रतिष्ठा में लगने वाला उसका त्याग और तपस्या का जीवन आदर्श ब्राह्मण का जीवन है। इस आदर्श को कार्यमय बनाने में उसका उत्साह, उसका युद्ध, उसकी लगन एक आदर्श क्षत्रिय को प्रकाशित करती है। उसकी सहिष्णुता, उसका परिश्रम, उसकी समझौते की व्यावहारिक बुद्धि, उसके श्रेष्ठ वैश्यत्व का उदाहरण है और मजदूर के प्रति, अछूत के प्रति उसका असीम प्रेम, उसका निरन्तर सेवामय जीवन, उसकी अपने को भङ्गी कहने की उत्सुकता और किसान-मजूर जैसा स्वच्छ, सीधा-साधा परिश्रमी जीवन बिताने की भावना उसे श्रेष्ठ शूद्र के रूप में हमारे सामने लाती है। इस प्रकार वह भारतीय सभ्यता एवं समाज-व्यवस्था का शुद्ध समीकरण एवं समन्वय है। जब कभी उसके जीवन का उचित रूप में अध्ययन किया जायगा, इतिहासकार एवं विवेचक इसी निश्चय पर पहुँचेगा कि संस्कृति के उद्धारक गांधी ने भारतीय राजनीति को उच्च स्तर पर पहुँचाने का सतत प्रयत्न किया।

भारतीय समाज-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब



चित्तरंजन दास

चित्तरंजन दास

[देशबंधु]

जन्म
५ नवम्बर १८७० ई०

मृत्यु
१६ जून १९२५ ई०

"Man truely reveals himself through his gift, and the best gift that Chitta Ranjan has left for his countrymen is not any particular political or social programme, but the creative force of a great aspiration that has taken a deathless form in the sacrifice which his life represented."

—RABINDRA NATH TAGORE.

× × ×

"वस्तुतः व्यक्ति अपनी देन के द्वारा ही अपने को प्रकट करता है, और चित्तरंजन अपने देशवासियों के लिए जो सर्वोत्तम देन छोड़ गये हैं वह कोई विशेष राजनीतिक या सामाजिक कार्यक्रम नहीं है वरन् एक महान् आकांक्षा की सृजनकारी—उत्पादक—शक्ति है जो उनके जीवन-द्वारा निरूपित त्याग में अमर हो गई है।"

—रवीन्द्रनाथ।

O God ! whose heavenward face beaming
With Passionate lovliness, is a light
For all ages ! O Thou whose angel heart
Has wept many a bitter tear over
The wrongs of much-opressed humanity.

--*C. R. Das.*

हे देव ! तुम्हारा स्वर्गोन्मुख मुख, जो भावमय सौन्दर्य से दीप्त है, सभी युगों के लिए प्रकाश देने वाला है। हे देव ! तुम्हारे सुन्दर हृदय ने दलित मानवता के अन्यायों पर कितने ही आँसू बहाये हैं।

—चित्तरंजनदास।

—एक—

उन्हें देखा था—

कैसे आश्चर्य की बात है कि यह अंग्रेजी कविता, जो ऊपर दी गई है और जो स्वयं देशबंधु ने अंग्रेज़ कवि शेली के प्रति लिखी थी (पर उनके जीवन-काल में प्रकाशित न हो सकी), उन्हीं के जीवन की ओर इशारा कर रही है ! देशबंधु भारतीय रंगमंच पर कई रूपों में आये। अपनी प्रतिभा से जिधर गये, आँधी की तरह गये और आसमान

पर छा गये। पर इन सब रूपों और प्रकारों के भीतर उनका अत्यन्त मानवी जो एक रूप था वह अन्त तक जगमगाता रहा और जब हमें उसकी याद आती है तो छाती फूलती हुई सी और आँखें भरती—उमड़ती हुई-सी मालूम पड़ती है। मैंने उन्हें कई बार देखा। पहली बार असहयोग--काल के आरंभिक दिनों में—काशी में। शायद *'क्लार्क' या 'होटेल द पेरी' में ठहरे थे। उनका चेहरा लोगों को चुम्बक की नाईं आकर्षित करता था। ऐसा मालूम होता था कि इस व्यक्ति में ऐसा भी कुछ है जो इसके द्वारा होनेवाले राजनीतिक कार्यों से ऊपर है—, इसलिए विरोधी और समर्थक दोनों उसकी ओर खिंचते हैं। कैसा व्यक्तित्व है इसका! जैसे सब आग ही आग है! मुर्दे को छुआ और उसमें जान आई! भाषण दिया और जनता में नशा चढ़ा। बड़े-बड़े जन-समूहों के साथ इस तरह खेलनेवाला जैसे हवा डालियों को हिलाती, पत्तों से खेलती और और फूलों में एक सिहर पैदाकर, एक जान डालकर चली जाती है! जो-कुछ बुरा-भला बंगाल में है, वह सब उसका है। बंगाल का ऐसा पूर्ण प्रतिनिधि, ऐसा जो उसकी बुराई भलाई सबको ज्यों का त्यों लेकर विकसित हुआ हो, विगत ५० वर्षों में तो कोई हुआ नहीं! वह चैतन्य, वह भावुकता, वह तेजस्विता, वह तूफ़ानी स्वभाव, वह उदारता, वह प्राकृतिक देन, वह अस्थिरता,—सुजलां सुफलां वंगभूमि मानो इस व्यक्ति में हाड़-मांस का रूप धारण कर अवतीर्ण हुई हो!

आधुनिक भारतीय राजनीति में—मेरा मतलब १९२० के बाद के भारतीय जागरण-काल की राजनीति से है—जो चार व्यक्ति (गाँधी, दास, मोतीलाल, जवाहरलाल) युग-निर्माता हुए हैं और जिन्होंने हमारे सामने मानव-सेवक और देश-सेवक के चार निश्चित 'टाइप'—नमूने प्रकार रखे, उनमें कई दृष्टियों से गांधीजी के बाद ही देश-बन्धु का नाम

* उस समय के काशी के दो प्रसिद्ध होटलों के नाम।

आता है। पाँच-छः वर्षों में उन्होंने बंगाल को इतना बढ़ाया जितना वह पचासों वर्षों में नहीं बढ़ा था! श्री पी० सी० राय ने ठीक ही कहा है—"देशबंधु बीसवीं शताब्दी के (प्रथम चतुर्थांश में) सबसे बड़े बंगाली थे।"

पर इसके पहले कि इस राष्ट्र-निर्माता के जीवन की समीक्षा करके हम उससे कुछ निष्कर्ष निकालें या उसके व्यक्तित्व को खोलकर पाठक के सामने रखें, यह आवश्यक मालूम पड़ता है कि उसकी नींव में जो कँक-रियां डाली गई थीं और जिनपर जीवन की सारी इमारत खड़ी है, उनकी थोड़ी चर्चा करलें और उसके जीवन-मन्दिर की एक परिक्रमा भी करलें। इससे समझने में अच्छा रहेगा।

"Deshbandhu's life was a song and a passion —a Vaishnavite rhapsody of suffering and sacrifice. × × A poet he imagined richly. A patriot he dared immensely. A warrior he lived and died heroically. A leader he swept all obstacles before him." LIBERTY.

—दो—

जीवन-कथा

चित्तरंजन का जन्म ५ नवम्बर १८७० ई० को, मध्य कलकत्ता के पटलडाँगा स्ट्रीट में हुआ था। चित्तरंजन के पिता श्री भुवनमोहनदास सालिसिटर थे और चित्तरंजन के जन्म के कई वर्ष पहले कलकत्ता में बस गये थे। असल में ये लोग विक्रमपुर (ढाका) के तेलीरबाग़ गाँव के एक प्रसिद्ध वैद्य कुटुम्ब के थे और वहां से कलकत्ता आये थे। यह विक्रमपुर एक समय बंगाल की बौद्धिक संस्कृति का केन्द्र था और आरंभिक मध्यकाल में सेन राजाओं की राजधानी भी रह चुका था।

जन्म और संस्कार

पीछे जब इसकी आबादी बहुत बढ़ गई और जीविका का प्रश्न कठिन हो गया तो यहाँ के लोगों के मन में, स्वभावतः, खेती के अलावा कोई दूसरा धन्धा करने का भाव पैदा हुआ। एक प्रकार की मानसिक अशान्ति फैल गई और इसी मानसिक अशान्ति के संस्कार लेकर चित्त-रंजन पैदा हुए थे,—वह अशान्ति, वह प्यास जिसे दबाने के लिए एक दिन भारत के एक वायसराय—लार्ड कर्जन—को बंगाल के टुकड़े कर देने का निश्चय करना पड़ा था।

एक बात और। विक्रमपुर से दास-कुटुम्ब के कुछ लोग (चित्तरंजन के दादा---पिता के चाचा आदि) जाकर बारीसाल बस गये थे। भौगोलिक स्थिति और विशेष संस्कारों ने बारीसाल के निवासियों को सामान्य बंगाली से भिन्न कर रखा था। यहाँ के लोगों में एक प्रकार की दृढ़ता, लगन एवं कष्ट-सहिष्णुता पाई जाती है। अपने पूर्वजों के द्वारा यह संस्कार चित्तरंजन में भी आया, जैसा कि बड़ा होने पर हम उनके जीवन में देखते हैं।

ऊपर मैं कह चुका हूं कि चित्तरंजन के पिता (श्री भुवनमोहन दास) सालिसिटर थे। पर इसके साथ ही वह पत्रकार भी थे। अपने समय में वह ब्रह्मसमाज के एक विशिष्ट पुरुष माने जाते थे। ब्रह्म-समाज के मुखपत्र 'ब्रह्मो पब्लिक ओपीनियन' के भी वही सम्पादक थे। धीरे-धीरे इसमें उन्होंने राजनीति का भी समावेश किया। एक बार तो उनपर राज-विद्रोह का मुक़दमा चलते-चलते रह गया। उनकी इस राजनीतिक प्रवृत्ति से बहुत-से ब्रह्म समाजी बन्धु डरकर अलग हो गये। तब भुवनमोहन ने कुछ ही दिनों बाद 'बंगाल पब्लिक ओपीनियन' नामक पत्र निकाला। इस कार्य में उन्होंने अपने को फ़क़ीर बना लिया। इन सब बातों का चित्तरंजन पर जो असर पड़ा उसे हम उनके राजनीतिक जीवन में स्पष्ट देखते हैं।

चित्तरंजन के पिता और चचा

पर चित्तरंजन के पिता जहाँ राजनीतिक विचारों में इतने आगे बढ़े हुए थे वहाँ सामाजिक एवं धार्मिक विषयों में वह समाज का नेतृत्व न कर सके। उनके बड़े भाई दुर्गामोहनदास ने इस विषय में समाज का नेतृत्व किया। ब्रह्मसमाजी सिद्धान्तों में उनका प्रबल विश्वास था और वह न केवल ज़बान से वरन् कार्य से एक प्रबल समाज-सुधारक थे। उनकी बड़ी लड़की की शादी कूचबिहार के युवराज से ठीक हो चुकी थी पर चूँकि लड़की १४ चौदह वर्ष से छोटी थी और ब्रह्मसमाज के नियम १४ वर्ष से पहले लड़की का विवाह करने के विरुद्ध थे इसलिए

उन्होंने उपयुक्त अवस्था के पहले विवाह करने से इन्कार कर दिया। ब्रह्मसमाज के प्रसिद्ध नेता केशवचन्द्रसेन इसी प्रश्न पर, प्रलोभन में पड़ गये और अपनी लड़की १४ वर्ष से कम अवस्था होते हुए भी राजकुमार को ब्याह दी। तभी से दुर्गामोहन एवं उनके अन्य साथियों ने 'साधारण ब्रह्म-समाज' नाम से दूसरे समाज की स्थापना की। दुर्गामोहनदास इस समाज के प्राण थे। यद्यपि फौजदारी के वह अच्छे वकील थे फिर भी समय निकालकर वह सदा समाज की सेवा करते रहे। उन्होंने अपनी युवती विमाता के विधवा होने पर उनका विवाह (विधवा-विवाह) भी कर दिया। इससे बंगाल में बड़ा तहलका मचा पर दुर्गामोहन बड़े दृढ़ स्वभाव के समाज-सुधारक थे। यह तूफ़ान सहकर भी वह अपने पथ पर चलते रहे।

यह बंगाल का उत्क्रान्ति काल था। ऐसे समय चित्तरंजन पिता की देश-भक्ति, गंभीरता एवं हिचकिचाहट और चचा की विद्रोहवृत्ति तथा असंतोष लेकर पनपने लगे।

और माता !

पर चित्तरंजन पर उनकी माता निस्तारिणीदेवी का प्रभाव भी कुछ कम न पड़ा था। निस्तारिणीदेवी यद्यपि राममोहनराय की अनुयायिनी थीं पर सामाजिक एवं घरेलू विषयों में उनके विचार हिन्दुओं से अधिक मिलते-जुलते थे। वह पुराने ढंग की एक उदार, दयाशीला एवं कर्तव्यपरायण हिन्दू माता का नमूना थीं। उनके इन गुणों का चित्तरंजन के मानसिक निर्माण में बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। इसीलिए हम चित्तरंजन के जीवन में ब्राह्म और हिन्दू का अपूर्व मिश्रण पाते हैं। यही नहीं, चित्तरंजन के माता-पिता, अन्य ब्रह्मसमाजियों की भाँति अपने गोत्र एवं कुटुम्ब के उन लोगों से घृणा नहीं करते थे जो पुराने सनातनी विचारों पर चलना ठीक समझते थे। ब्रह्मसमाजी युरोप की नक़ल करने के इतने आतुर हो रहे थे कि उन्होंने इस देश की प्रत्येक प्रथा का बहिष्कार किया था। चित्तरंजन

के माता-पिता इस कोटि के न थे। उन्होंने अपना प्रेममय सम्बन्ध एवं सम्पर्क अन्य लोगों से क़ायम रक्खा। इसलिए चित्तरंजन में बंगाली प्रकृति की सब समष्टिगत विशेषताएँ मिलती हैं।

चित्तरंजन के पिता समाज के लिए कविताएँ एवं गान भी बनाया करते थे। चित्तरंजन ने यह वृत्ति भी पिता से पाई जो पीछे बंगाल के साहित्यिक कलाकारों के संसर्ग से विकसित हुई। चित्तरंजन में जो भावुकता हम बड़ा होने पर पाते हैं, वह उनमें माता-पिता से नहीं आई थी। वह ब्रह्म-समाज के अनेक स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क एवं संसर्ग का परिणाम थी।

मैं पहले कह चुका हूँ कि यह बंगाल का उत्क्रान्ति का ज़माना था। सामाजिक क्षेत्र की तरह राजनीतिक क्षेत्र में भी परिवर्तन हो रहे थे। लार्ड रिपन के वायसराय होने के बाद बंगालियों में एक प्रकार का उत्साह फैल गया। लोग जगने लगे। इस समय कलकत्ता में लोगों के प्रयत्न से कई शिक्षा-संस्थाएँ खुलीं; कई समाचारपत्र निकले। जनता में जीवन आने लगा। इन सब बातों का तथा इलबर्ट बिल से पैदा हुए जातीय विद्वेष—गोरे-काले के भेद—का भी चित्तरंजन पर प्रभाव पड़ा क्योंकि इस समय चित्तरंजन लगभग १२ वर्ष के थे।

इस प्रकार पिता, चचा, माता, बंगाल की तात्कालिक सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति ने मिलकर चित्तरंजन का निर्माण किया। बहुत से लोग समझते हैं कि पीछे चित्तरंजन एकाएक राजनीति के क्षेत्र में आये। ऐसा नहीं, लड़कपन से ही उनपर जो संस्कार पड़े थे उनमें उनका विकसित होकर पीछे इस रूप में प्रकट होना अनिवार्य था।

बालपन और शिक्षा

सन् १८७८ ई० में चित्तरंजन भवानीपुर (कलकत्ता) के 'लन्दन मिशनरी सोसायटी इन्स्टीट्यूशन' में भरती हुए। उनके पिता पहले

का मकान छोड़कर अब इसी मुहल्ले में रहने लगे थे। शुरू से ही चित्तरंजन

आरम्भिक शिक्षा।

की बुद्धि तो तीव्र थी पर वह अन्य लड़कों की तरह रट्टू एवं किताब के कीड़े न थे; —हँसोड़, प्रसन्न और उत्साही थे। १८८५ ई० में इसी स्कूल से उन्होंने एण्ट्रेंस की परीक्षा पास की।

एण्ट्रेंस परीक्षा पास करने के बाद वह प्रेसीडेंसी कालेज में भरती हुए। यहाँ 'बंगाली' के भूतपूर्व सम्पादक श्री पृथ्वीशचंद्रराय के साथ

कालेज में

उन्होंने 'अण्डरग्रेजुएट असोसिशन' का संगठन किया जिसका उद्देश्य बंगला भाषा को भी एण्ट्रेंस के ऐच्छिक विषयों में स्थान दिलाना था। उस समय इन लोगों ने इस सम्बन्ध में प्रयत्न किया था पर डा० सर गुरुदास बनर्जी (जो बाद में कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय वायस-चांसलर हुए) के इस भय से विरोध करने पर कि इससे संस्कृत-शिक्षा को आघात पहुँचेगा, उस समय इन्हें सफलता न मिली। बाद में तो सर आशुतोष ने एफ० ए० तक बंगला को शिक्षा का माध्यम बना दिया।

पीछे चलकर बंगाल के युवक छात्रों की 'स्टूडेण्ट्स असोसिएशन' नामक संस्था का संगठन किया गया। चित्तरंजन इसके मुख्य कार्यकर्ताओं में थे। यह उस समय की बात है जब सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इण्डियन सिविल सर्विस से अलग कर दिये गये थे। वह छात्रों की इस संस्था के प्रथम अध्यक्ष चुने गये और इसके द्वारा उन्होंने उनमें देश-प्रेम के भावों को भरना शुरू किया। चित्तरंजन ने जन-सेवा एवं देश-सेवा का पहला प्रत्यक्ष पाठ सुरेन्द्रनाथ के चरणों में बैठकर ही पढ़ा। यह एक दुःख की बात है कि अन्तिम दिनों में शिष्य और गुरु का भेद-भाव बढ़ता ही गया।

सन् १८६० ई० में चित्तरंजन ने बी० ए० पास किया। उसके बाद ही उनके पिता ने उन्हें भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठने के

लिए इंग्लैण्ड भेजा। १८६२ ई० में वह परीक्षा में बैठे पर सफलता न मिली। कुछ लोगों का कहना है कि सफलता न मिलने का कारण उनके राजनीतिक विचार थे। परीक्षा देने के पूर्व, उन्होंने पार्लमेण्ट में दी हुई जेम्स मेक्लीन की इस बात का सभा में विरोध किया कि 'अंग्रेजों ने भारत को तलवार से जीता और तलवार के जोर से ही वे उसे काबू में रख सकते हैं।' इसके साथ ही उन्होंने दादाभाई नौरोजी की पार्लमेण्ट की सदस्यता का जोरों से समर्थन किया था। उस समय काले-गोरे का वर्ण भेद इंग्लैण्ड में व्यापक था। यहाँ तक कि रानी विक्टोरिया के प्रधान मंत्री लार्ड सेलिसबरी ने दादाभाई के लिए 'काला आदमी' शब्द का प्रयोग किया था। संयोग-वश दादाभाई लार्ड सेलिसबरी की अपेक्षा कहीं ज्यादा गोरे थे अतः इसे व्यक्तिगत अपमान न समझकर जातीय विद्वेष का उदाहरण समझा गया और चित्तरंजन के समर्थन तथा अन्य कई कारणोंका मतदाताओं पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि दादाभाई पार्लमेण्ट के सदस्य चुन लिये गये। जो हो; इस बात का पता लगाना मुश्किल है कि अपने राजनीतिक विचारों के कारण चित्तरंजन को सफलता नहीं मिली या किसी और कारण से।

इंग्लैण्ड में—

सिविल सर्विस की परीक्षा में सफल न होने पर चित्तरंजन ने उसी वर्ष बैरिस्टरी की परीक्षा पास की। सन् १८६३ ई० में भारत लौटे और उसी वर्ष कलकत्ता हाईकोर्ट में भरती हो गये। उस समय चार्ल्स पाल, जान उडरफ, मनमोहन घोष-जैसे मेधावी वकील वहाँ मौजूद थे। उनके सामने दूसरे नये उम्मेदवारों की कहाँ चलती? चित्तरंजन का भी वही हाल हुआ। बैठेठाले दिन बीतने लगे। इधर सफलता न मिलने के कारण वह साहित्य की ओर आकृष्ट हुए। १८६५ ई० में उनकी पहली कविता-पुस्तक—'मालञ्च'—प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के कारण सारा ब्रह्म समाज उनके विरुद्ध-सा हो गया अतः कुछ दिनों के लिए उन्होंने कविता लिखना भी छोड़ दिया।

बैरिस्टर चित्तरंजन

३ दिसम्बर १८६७ ई० को ब्रह्मसमाजी विधि से विजनी स्टेट (आसाम) के दीवान (स्व०) वरदानाथ हालदार की कन्या बसन्ती-

विवाह

देवी के साथ उनका विवाह हुआ। ब्रह्मसमाज के पुरोहितों ने शादी में भाग नहीं लिया क्योंकि उनके विचार से चित्तरंजन नास्तिक और परम्परा-विरुद्ध (Bohemian) विचारों के हो गये थे।

सन् १६०६ ई० तक यों ही दिन बीतते गये। किसी भी क्षेत्र में उन्होंने कोई विशेष सफलता न प्राप्त की। उनके पिता पर कर्ज हो गया था। उन्होंने एवं उनके पिता ने एक मित्र की ४००००) चालीस हजार की जमानत—'सीक्योरिटी'—ली थी पर वह मित्र रुपया न दे सके। इधर इन लोगों के पास रुपया न था। इसलिए पिता को जून १६०६ ई० में दिवालियेपन की दरख्वास्त देनी पड़ी। पर इससे चित्तरंजन निराश नहीं हुए।

इस समय बंगाल के जीवन में एक तूफान आने की पूर्व सूचना मिल रही थी। उग्र राष्ट्रवाद के पुरोहित अरविन्द ने अंग्रेजी में

'वन्देमातरम्'

'वन्देमातरम्' और बँगला में 'संध्या' एवं 'युगान्तर नामक पत्र निकालकर युवकों में जीवन डालना शुरू किया था। इन प्रयत्नों में भी चित्तरंजन का हाथ था, यद्यपि वह उस समय सामने नहीं आये थे।

संयोग की बात कि इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिससे उनका भाग्य चमक गया। चित्तरंजन के छोटे भाई बसन्तरंजन को उनके धनी

भाग्य चमका !

चचा कालीमोहनदास ने गोद लिया था। बसन्त-रंजन एकाएक बीमार पड़े; बचने की कोई आशा न रही। मरने के पहले वह अपनी सारी सम्पत्ति अपनी माँ के नाम लिख गये। माँ से वह सम्पत्ति चित्तरंजन को मिली। इसमें से कुछ हिस्सा उनके दूसरे छोटे भाई प्रफुल्लरंजन का भी था जिसे पीछे उन्होंने खरीद

लिया। रशारोड (भवानीपुर) का १४८ नम्बर का बड़ा मकान (जिसमें अन्त तक वह रहे और) जिसे मृत्यु के समय भारतीय महिलाओं की चिकित्सा-सम्बन्धी शिक्षा के लिए देश को दे गये, इसी प्रकार उन्हें मिला था। पर भाग्य चमकने पर भी वह किसी को न भूले। अन्य ब्रह्मसमाजियों के समान वह सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथा के विरोधी नहीं थे—वरन् उसके प्रेमी थे। यह संस्कार उनके माता-पिता से उन्हें मिला था। उनके कुटुम्ब में उनकी विधवा बहनें तथा अन्य कितने ही प्राणी थे और सबके साथ उनका स्नेहमय सम्बन्ध था। शुरू से ही उनमें उदारता थी और वह समृद्धि एवं सफलता के साथ दिन-दिन बढ़ती ही गई।

× × ×

इस तूफ़ानी युग में-

१९०५ में बंगाल में एक नया युग आरम्भ हुआ। तात्कालिक वायसराय लार्ड कर्ज़न ने, भारतमंत्री की राय लेकर, बंगाल को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया। उस समय बंगाल प्रान्त में बिहार, उड़ीसा, बंगाल, आसाम सब सम्मिलित थे। लार्ड कर्ज़न का कहना था कि शासन की सुविधा के लिए ऐसा किया जा रहा है। जनता की समझ में यह बात नहीं आई। यह ख़याल फैल गया कि सरकार ने बंगाल और उसमें उठते हुए राष्ट्रवाद को दबाने के लिए यह तरीका इख़्तियार किया है। इस घटना का वह परिणाम हुआ जो वर्षों के प्रचार, सेवा और उपदेश से होना संभव न था। पहले पूर्व और पश्चिम बंगाल के लोगों में एक-दूसरे के लिए उपेक्षा के भाव थे पर सरकार द्वारा बंग-भंग होते ही सारा भेद-भाव उड़ गया। ७ अगस्त १९०५ को सरकार ने घोषणा की। सारे बंगाल में जैसे तूफान उठ खड़ा हुआ। छोटे-बड़े, ज़मींदार-किसान सभी इस विरोध-प्रदर्शन में शामिल हुए। कासिम बाज़ार के महाराज सर मणीन्द्रचंद्र नन्दी की अध्यक्षता में, कलकत्ता के नागरिकों की पहली विराट सभा हुई। उसमें प्रतिकार की भावना से सब प्रकार की विदेशी चीज़ों के बहिष्कार का

निश्चय हुआ। रवीन्द्रनाथ की सलाह से १६ अक्तूबर—जिस दिन से नया विधान लागू हुआ—सारे बंगाल में 'रक्षाबन्धन दिवस' के रूप में मनाया गया। दोनों बटे हुए भागों ने एक दूसरे को आश्वासन दिया। सब लोग एक-दूसरे को राखी बांधते फिरते थे और 'हम एक हैं', यह भाव चारों ओर समुद्र के ज्वार की भाँति फैलता जा रहा था। राष्ट्रीय महासभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री आनन्दमोहन बोस (जो उस समय बंगाल के सब से आदरणीय नेता थे) बीमार थे। उन्हें स्ट्रेचर पर उठा-कर ले जाया गया और राखी-बंधन के दिन कलकत्ता के अपर सर्कुलर रोड मुहल्ले में बंगाल के दोनों भागों की एकता के स्मारक में, एक हाल की नींव डलवाई गई। स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं। कोई ऐसा स्थान न था जहाँ जनता का विरोध, सामूहिक रूप में न प्रकट किया गया हो। सारे बंगाल में, बाज़ार के चौराहों पर, गाड़ी के गाड़ी विदेशी कपड़े एकत्र करके जलाये जा रहे थे। सैकड़ों विद्यार्थियों ने, अपने-आप सरकारी स्कूलों का बहिष्कार किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रचलित और लोकप्रिय नाम 'गुलामखाना' पड़ गया। राष्ट्रीय शिक्षा की योजना बनाई गई, जो आगे अगस्त १९०७ ई० में भलीभाँति, दृढ़ नींव पर, 'बंगाल की राष्ट्रीय शिक्षा-सभा' (नेशनल काउंसिल ऑव् एजूकेशन आव् बंगाल) के नाम से स्थापित हुई।

उस समय के नेताओं ने जनता के इस उत्साह और भाव-प्रवाह का सदुपयोग किया। आन्दोलन को संगठित रूप में चलाने का भार सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपने हाथ में लिया।* सभाओं में नियमित रूप से

---

* सन् १८७६ ई० में श्री सुरेन्द्रनाथ और श्री आनन्दमोहन बोस ने कलकत्ता में 'इण्डियन असोसिएशन' नाम की एक संस्था स्थापित की थी। बंग-भंग आन्दोलन का अधिकांश कार्य्य इसी संस्था द्वारा होता था। १८७६ से १९५० तक इस संस्था ने बंगाल की बड़ी सेवा की।

घोषणाएँ की गईं और प्रतिज्ञा-पत्र भरवाये गये। राष्ट्रीय घोषणा का यह रूप था:—

"चूँकि बंगाली जाति के सार्वदेशिक विरोध पर भी सरकार ने बंग-भंग का निश्चय किया है, हम प्रतिज्ञा और घोषणा करते हैं कि हम एक जाति की हैसियत से, हमारे अन्दर जो भी शक्ति होगी, उसके द्वारा अपने प्रान्त के इस प्रकार टुकड़े किये जाने के बुरे प्रभाव को दूर करने की कोशिश करेंगे और अपनी जाति की एकता कायम रखेंगे। प्रभु हमारी सहायता करें।"

इसी प्रकार स्वदेशी की प्रतिज्ञा यह थी:—

"सर्वशक्तिमान जगदीश्वर को साक्षी करके, और भावी सन्तति के सामने खड़े होकर, हम आज यह पवित्र प्रतिज्ञा करते हैं। यथासंभव, हम अपने देश की बनी चीज़ों का उपयोग करेंगे और विदेशी वस्तुओं के उपयोग से दूर रहेंगे। हे प्रभु, हमारी सहायता कर।"

सभाओं में, तथा यों भी, दोनों प्रान्तों के लेफ़्टेनेण्ट गवर्नरों (छोटे लाटों) का मज़ाक उड़ाया जाता था और जगह-जगह सरकारी आज्ञाएँ एवं सूचनाएँ तोड़ी जा रही थीं। ब्रिटेन का, अंग्रेज़ जाति का, जो भी प्रभाव लोगों के दिल पर था वह देखते-देखते 'छू-मन्तर' हो गया। जो बंगाली कल तक गोरों और पुलिस-मैनों को देखकर डरते थे, वही आज उनके सामने इस प्रकार तनकर खड़े हुए कि आश्चर्य होता था,—मानों पुरानी, मरी हड्डियों से किसी ने नई जाति की सृष्टि कर दी हो। पूर्वी बंगाल के बाकरगंज ज़िले में जन-पक्ष के नेता श्री अश्विनीकुमारदत्त की आज्ञाएँ इतनी पूर्णता के साथ मानी गईं कि नये लेफ़्टेनेण्ट गवर्नर सर बैमफील्ड फुलर के आगमन का भी बहिष्कार हुआ और लिवरपुल के नमक तथा मैन्चेस्टर के कपड़ों का आना कतई बन्द होगया। कुछ ही महीनों में अवस्था ऐसी हो गई कि जिन बंगालियों पर पहरेवाले पुलिस-मैनों और युरोपियनों का रोब ग़ालिब था, वे सीधे-सादे बंगाली को देखकर डरने लगे। विदेशी शासन के विरुद्ध लोगों में इतनी ज़बर्दस्त भावना पैदा होगई थी कि

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को 'बंगाल का सर्वमान्य नेता' की विधिपूर्वक दीक्षा दी गई।

साहित्य में भावों की परछाई

साहित्य समाज का दर्पण है। उसमें उसका मुँह चमकता है; और हृदय भी। तात्कालिक बंगला साहित्य में उस युग के भावों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। लेखकों एवं कवियों ने जनता में राष्ट्रीय भावों का प्रचार करने में बड़ा काम किया। बंकिमचन्द्र के 'आनन्दमठ' (उपन्यास) का खूब प्रचार हुआ। उसका 'वंदेमातरम्' गीत तो ऐसा प्रचलित हुआ कि आजतक भारत के राष्ट्रगीत के रूप में गाया जाता है। द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों रवीन्द्रनाथ, द्विजेन्द्र, सरलादेवी चौधरानी तथा रजनीकान्त सेन के राष्ट्रीय गानों ने भी बड़ा काम किया। नये दृष्टि-कोण से इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये जिनमें मुसलमान नरेशों के विरुद्ध होनेवाले आरोपों का खण्डन किया गया। श्री अक्षयकुमार मैत्रेय का 'सिराजुद्दौला' इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस आन्दोलन से साहित्य को और साहित्य से इस आन्दोलन को बड़ा बल मिला। रायबहादुर दीनेशचन्द्र और बंगीय साहित्य-परिषद् ने पुराने ग्राम्य-गीतों का उद्धार किया। बँगला भाषा-द्वारा शिक्षा दी जाय, इस पर चारों ओर ज़ोर दिया जाने लगा। कितने ही पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं।

अन्य क्षेत्रों में—

साहित्य की भाँति ही चित्रकला में भी अवनीन्द्रनाथ और गगनेन्द्र नाथ ठाकुर ने एक नये प्राच्य 'स्कूल' की स्थापना की। इस 'स्कूल' ने आगे चलकर सर्वश्री गांगुली, नन्दलाल बोस, असित हलधर इत्यादि कितने ही अच्छे चित्रकार पैदा किये और आज तो संसार की चित्रकला में इसका एक खास स्थान हो गया है। इसी प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में जगदीशचन्द्र बसु (जो चित्तरंजन के साले होते हैं) ने अभूतपूर्व आविष्कार किये।

मतलब यह कि १८५७ ई० से विदेशी शासन के कारण जो असन्तोष लोगों में पैदा हो रहा था, और वर्ण-भेद तथा व्यापारिक नीति के कारण जो बढ़ता गया था, वह सब इस आन्दोलन में, जिसे स्वदेशी-युग कहा जाता है, दिखाई पड़ा। मजिस्ट्रेटों पर पुलिस का ऐसा प्रभाव था कि न्याय से लोगों का विश्वास उठने लगा था—यहाँ तक कि न्याय-पद्धति की खुद उसी समय के कई जजों ने कड़ी टीका की है।* बात बात पर उच्च सरकारी कर्मचारियों-द्वारा भारतीयों का अपमान किया गया। लार्ड मेकाले ने तो यहाँ तक कह दिया कि "जैसे मधुमक्खी में डंक होता है, भैंस के सींग होता है वैसे ही बंगाली में विश्वासघात की आदत होती है।" इन सब बातों के कारण, लगातार एक-पर-एक कोई न कोई दुःख-पूर्ण घटना होती रहने से बंगाल का हृदय क्षुब्ध हो रहा था।

असन्तोष

इन नव जागरण को दबाने के लिए सरकार दमन, धर-पकड़ करती रही पर प्रवाह नहीं रुका। इसी समय लार्ड कर्जन और किचनर (भारतीय सेनापति) में विरोध होने के कारण लार्ड कर्जन को इस्तीफ़ा देना पड़ा। लार्ड मिण्टो नये वायसराय होकर आये। उन्होंने इस जटिल स्थिति को सुधारने की कोशिश की। पर कुछ फल न हुआ। दमन से लोग इतने त्रस्त हो रहे थे कि कुछ क्रान्तिकारी युवकों ने गुप्त समितियाँ बना लीं। कई जगह बम-काण्ड हुए। शारीरिक शक्ति सुधारने के लिए अनुशीलन समितियाँ बनाई गईं। गीता-धर्म का प्रचार होने लगा। अरविन्द के बौद्धिक नेतृत्व से उग्र युवकदल को ऐसा उत्साह प्राप्त हुआ तीन वर्ष के अन्दर उनमें एक सशस्त्र क्रान्तिकारी दल प्रकट हो गया। जब देश में यह तूफान उठ रहा था तभी लाला लाजपतराय और सरदार अजीतसिंह को देश-निकाला हुआ। पूना के नाटी बंधुओं का

* जैसा कि श्री आबरी पर्सिवल पैनेल के फैसलों से प्रकट है।

भी निर्वासित हो चुका था। बंगाल के तीसरे रेगुलेशन के अनुसार कितने ही युवक पकड़े गये।

उस समय चित्तरंजन दास की बैरिस्टरी चमकी; उन्होंने अनेक मामलों की पैरवी करके अपनी प्रतिभा का लोगों को अच्छा परिचय दिया।

वकालत में सफलता

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि लार्ड मिंटो के वायसराय होकर आने के बाद भी तूफान उसी तरह जारी रहा। इस समय उग्रवादी दल के अनेक समाचारपत्र साफ़-साफ़ सरकार का विरोध करने लगे थे। सरकार ने इन पत्रों को दबाने का निश्चय किया। पहला वार अंग्रेजी दैनिक 'वन्देमातरम्' पर हुआ। इसे चित्तरंजन, सुबोध मल्लिक तथा उनके एक और मित्र ने मिलकर निकाला था। इसका सम्पादन एक कमेटी करती थी जिनमें श्री अरविन्द घोष मुख्य थे। अरविन्द बाबू बहुत छोटी अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड भेजे गये थे। वहाँ लंदन के सेण्ट पाल स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह कैम्ब्रिज गये और वहाँ से समय पर, 'क्लासिकल ट्रिपोज' में प्रथम श्रेणी में पास हुए। यह सम्मान अभी तक केवल एक और भारतीय को मिला है। इसके बाद वह सिविल-सर्विस परीक्षा में बैठे, उसमें भी पास हुए पर अश्वारोहण में निपुण न होने के कारण जगह न मिली। बाद में बड़ौदा कालेज के वायस-प्रिंसपल की हैसियत से स्वदेश लौटे। जब बंग-भंग आन्दोलन शुरू हुआ तो वह कलकत्ता चले गये और वहाँ जाने के कुछ ही दिन बाद 'वंदेमातरम्' के सम्पादकीय विभाग में काम करने लगे। उस समय तक वह बँगला का एक शब्द भी न जानते थे, न बंगालियों के जीवन का उन्हें कुछ ज्ञान था। फिर भी भारतीय संस्कृति के अनुसार ही उन्होंने अपना जीवन बनाया था। 'सादा जीवन ऊँचे विचार' उनका लक्ष्य था। इस समय तक उनके हृदय में वेदान्त के पुनरुत्थान का भाव जाग्रत हो चुका था,

अरविन्द और 'वन्देमातरम्'

यद्यपि उस समय वेदान्त के विषय में उनका ज्ञान बहुत थोड़ा था। पर उनके हृदय में 'वेदान्त' शब्द और उसके आध्यात्मिक स्वर के प्रति एक ऐसा अद्भुत आकर्षण पैदा हुआ और उसे उन्होंने राजनीतिक आकांक्षाओं के साथ कुछ इस प्रकार मिला दिया कि युवक हृदय पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। 'वन्देमातरम्' में 'नया मार्ग' (The New Path—दि न्यू पाथ) के नाम से वह इस राष्ट्रीय वेदान्त-धर्म पर लिखने लगे। ऐसे ही समय सरकार ने उसपर मुक़दमा चलाया पर सरकार को सफलता न मिली। इस मुकदमे से अरविन्द बाबू और उनके वकील चित्तरंजन का नाम जनता में और भी फैल गया।

ऊपर कहीं इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि अँग्रेजी 'वंदे मातरम्' के साथ, 'संध्या' और 'युगान्तर' नाम के दो और पत्र बंगला में क्रमश: श्री ब्रह्मबांधव उपाध्याय और श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त के सम्पादन में निकल रहे थे। इन दोनों पर भी सम्पादक की हैसियत से राजद्रोह का मुक़दमा चलाया गया। ब्रह्मबांधव बाबू यद्यपि एक ईसाई घराने में पैदा हुए थे और स्वयं भी ईसाई धर्म उन्होंने ग्रहण किया था फिर भी इस समय वह नवीन हिन्दू शक्ति के समर्थक और सरकार के प्रबल विरोधी थे। भूपेन्द्रनाथ दत्त स्व० स्वामी विवेकानन्द के भाई थे। उन्होने कतिपय प्रतिभाशाली युवक लेखकों के सहयोग से क्रान्ति का भाव बंगाल के युवकों में फैलाना शुरू कर दिया था। ब्रह्मबांधव बाबू और भूपेन बाबू दोनों की क़लम में बड़ी ताकत थी और दोनों बड़ी प्रभावशाली बँगला लिखते थे। जब इनपर मुकदमा चला तो इनकी ओर से चित्तरंजन पैरवी करने को नियुक्त हुए। ब्रह्मबांधव बाबू तो मुक़दमा समाप्त होने के पहले ही चल बसे। भूपेन्द्र बाबू की पैरवी में चित्तरंजन ने जिस प्रतिभा का परिचय दिया उससे मजिस्ट्रेट और जनता दोनों को दंग होना पड़ा। यद्यपि इस मामले में भूपेन बाबू को एक वर्ष की कड़ी कैद की सज़ा हुई पर चित्तरंजन

'संध्या' और 'युगान्तर'

की योग्यता का सिक्का लोगों पर बैठ गया।

इन दिनों विद्रोह के जिन भावों का प्रचार हो रहा था उनका युवक हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ने लगा था। ३० अप्रैल १९०८ ई० को खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी नामक दो युवकों ने मुज़फ्फरपुर (बिहार) के ज़िला जज श्री किंग्सफर्ड की गाड़ी का अनुमान कर एक गाड़ी पर बम फेंका। श्रीकिंग्स-फर्ड पिछले साल, कलकत्ता के चीफ़ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट की हैसियत से कई पत्र-सम्पादकों को कड़ी सज़ा दे चुके थे और उन्होंने सुशील नामक एक लड़के को कोड़े भी लगवाये थे। ये लोग उसी का बदला लिया चाहते थे। पर जिस गाड़ी को उन्होंने श्री किंग्सफर्ड की समझा वह असल में उस समय के लोक-प्रिय यूरोपियन श्री प्रिंगल केनेडी की थी और इस बम-काण्ड से उनकी पत्नी और पुत्री की हत्या हुई। इस घटना से बड़ा तहलका मचा। पुलीस ने शीघ्र ही इन्हें गिरफ़्तार किया तथा खोज करने पर पुलिस को मानिकतल्ला (कलकत्ता) के ३२ मुरारीपुकर रोडमें एक बम फैक्टरी का भी पता चला। २ मई को इस सम्बन्ध में, अरविन्द के छोटे भाई, बारीन्द्रकुमार घोष, जो उस क्रान्तिकारी संगठन के मुख्य नेता बताये गये, तथा अन्य कुछ युवक गिरफ़्तार किये गये। कुछ ही दिनों के अन्दर और भी कितने ही आदमी गिरफ्तार हुए—इनमें श्री अरविन्द घोष भी थे। मुजफ्फरपुर के बम-काण्ड और मानिकतल्ला बम फैक्टरी के सम्बन्ध में ३६ युवक गिरफ़्तार हुए। इस भण्डाफोड़ से जनता में एक अजीब तहलका मचा क्योंकि अब तक जनता को ऐसी बातों का पता न था। इन युवकों में से कुछ ने कई बातें स्वीकार कर लीं। अभियुक्तों पर सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने एवं उसके लिए षड्यन्त्र करने का चार्ज लगाया गया। १९ मई को अली-पुर के मजिस्ट्रेट श्री बीचक्राफ़्ट के सामने मुक़दमा आरम्भ हुआ। अक्तूबर १९०८ ई० में मामला सेशनजज के सामने

विस्फोट

मानिकतल्ला केस में चित्तरंजन

आया। अरविन्द की सम्मति से चित्तरंजन ने उनकी पैरवी का काम अपने ज़िम्मे लिया। उस मुकदमे में चित्तरंजन ने अपनी प्रतिभा और जिरह करने की अपूर्व शक्ति का ऐसा परिचय दिया कि जज, जनता और वकील सब दंग रह गये। यह एक अत्यन्त जटिल और बड़ा मुक़द्मा था। इसमें २०६ गवाह तलब किये गये, ४००० चीज़ें 'फ़ाइल' की गईं। बम, पिस्तौल तथा अन्य प्रदर्शित वस्तुएँ—एक्जहिबिट्स—ही ५०० थे। अरविन्द के विरुद्ध उनके भाषणों, लेखों एवं पत्रों के बल पर अभियोग लगाया गया कि वह षड्यन्त्रकारियों के मन्तव्य को उत्तेजन देने के खयाल से भारत की पूर्ण स्वाधीनता के भावों का प्रचार करते रहे हैं। सुप्रसिद्ध श्री ई० नार्टन सरकार की तरफ से मुक़द्मा चला रहे थे। चित्तरंजन ने बहस में कहा कि "अरविन्द की रचनाओं का बिलकुल ग़लत ढंग पर अर्थ लगाया गया है। वह एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति के पुरुष हैं; वेदान्तवाद के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। उनके राजनीतिक विचार भी इसी वेदान्तवाद पर आश्रित

अरविन्द की शिक्षा

हैं। वह स्वतंत्रता का उपदेश करते हैं। उनका कहना है कि 'मनुष्य की मुक्ति उसी के अन्दर से हो सकती है क्योंकि उसके अन्दर ही ईश्वरत्व प्राप्त करने की शक्ति मौजूद है।' इसी प्रकार उनका विश्वास है कि 'राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है—देश के अन्दर भी उसका अपना एक व्यक्तित्व होता है। उसे देश स्वयं ही विकसित कर सकता है; कोई दूसरी बाहरी शक्ति उसे नहीं प्राप्त करा सकती, कोई विदेशी इसमें सहायक नहीं हो सकता। राष्ट्र अपने आप, अपनी स्फूर्ति और सहायता के बल पर ही विकसित होता है।' यही अरविन्द की शिक्षा का उद्देश्य है। उसमें हिंसा की नहीं, निष्क्रिय प्रतिरोध की शिक्षा है। उनके मत से बम नहीं, कष्ट-सहन और त्याग से देश का उद्धार होगा। वह गुप्त षड्यन्त्रों और हिंसा का विरोध करते और युवकों को कष्ट-सहन करने का आदेश करते हैं। उन्होंने अपने किसी

भाषण में, किसी रचना में, हिंसा का आश्रय लेने को नहीं कहा। उनका कहना इतना ही है कि 'यदि तुम समझते हो कि सरकार के किसी कानून से तुम्हारे या राष्ट्रीय विकास में बाधा पड़ती है तो उसे भंग करो और उसका दण्ड प्राप्त करो; उसके लिए कष्ट सहो। तुम अपने अन्तःकरण के सामने, अपने ईश्वर के सामने इसके लिए जवाब-देह हो।' अरविन्द की शिक्षा का सार यही है। क्या ऐसी शिक्षा सारे संसार में नहीं दी जाती रही है? क्या यह केवल इसी देश की, इसी आन्दोलन की, जिसे मि० नार्टन ने ऐसे बुरे-शब्दों में याद किया है, विशेषता है? क्या इंग्लैण्ड की जनता ने बार-बार इसे नहीं किया है? ………………अरविन्द ने देखा कि विश्वास खोकर ही हमने सब कुछ खोया है इसलिए जब-जब उन्होंने स्वतंत्रता का उपदेश किया तब-तब यह कहा कि अपने में विश्वास रखो। जिसे अपने में विश्वास नहीं है वह कभी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिए अरविन्द अपने देशवासियों से कहते हैं—'तुम कायर नहीं हो, तुम अयोग्य एवं अशक्त मनुष्य नहीं हो, तुम्हारे अन्दर ईश्वरीय ज्योति है। अपने अन्दर विश्वास रखो और श्रद्धा के साथ अपना लक्ष्य प्राप्त करो।"

उपस्थित किये गये विरुद्ध प्रमाणों का जिक्र करके उन्होंने कहा कि "यदि आप पहले से अरविन्द को दोषी मान लेते हैं तो उनके पत्रों में अवश्य आपको ऐसे वाक्य मिल जायँगे जिनसे उनका अपराध प्रमाणित होगा पर यदि आप पहले से ही ऐसी धारणा बनाकर न चलें तो उनके दूसरे अर्थ भी लगाये जा सकते हैं।"

अरविन्द के विरुद्ध सबसे जबर्दस्त प्रमाण उनके छोटे भाई बारीन्द्र-कुमार की निम्नांकित चिट्ठी थी—

Dear Brother,

Now is the time, please try and make them meet for our Conference. We must have sweets all over India ready made for imergencies. I wait here for your answer.

Your affectionate

BARINDRA KUMAR GHOSE

[अर्थात्

प्रिय बंधु,

यही समय है; कृपया प्रयत्न कीजिए और उन सबको हमारे सम्मेलन में एकत्र कीजिए। आवश्यकता के समय के लिए हमें सारे भारत में मिठाइयाँ तैयार रखनी चाहिएँ। मैं यहाँ आपके उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

आपका स्नेह-पात्र

बारीन्द्र कुमार घोष]

सरकारी वकील का कहना था कि इसमें 'स्वीट्स' (मिठाइयों) से मतलब बम से है जिसका समर्थन अन्य प्रमाणों से भी होता है।

पत्र जाली तो नहीं है ?

चित्तरंजन ने बहस में कहा कि 'यह पत्र जाली है। बंगाल में कोई छोटा भाई बड़े भाई को लिखे पत्र में अपना पूरा नाम नहीं देगा। इसके अलावा हमारी जातीय प्रथा के अनुसार बारीन ने अरविन्द को 'सेजदा' लिखा होता न कि 'प्रिय भाई' ('डियर ब्रदर') जैसा कि अंग्रेजों का ढंग है। इसके अलावा बारीन्द्र को अंग्रेज़ी की बहुत अच्छी शिक्षा मिली है। ऐसा आदमी emergencies शब्द को imergencies कभी न लिखता। जाल के इन आन्तरिक प्रमाण के अलावा तलाशी के समय यह पत्र नहीं मिला था, पीछे से पुलीस-द्वारा घुसेड़ा गया।'

चित्तरंजन ने अपने अन्तिम भाषण में तात्कालिक पुलीस की कार्रवाइयों पर जजों की सम्मतियाँ उद्धृत करके दिखाया कि झूठे पत्र तैयार करना उसके बायें हाथ का खेल है। मुकदमे के अन्त में जज और असेसरों को सम्बोधन करके उन्होंने जो भाषण दिया था वह अद्भुत है। उसकी भाषा इतनी जोरदार, शब्द इतने शक्तिमान और कहने का ढंग ऐसा निराला है कि हृदय चित्तरंजन की प्रतिभा पर उछलने लगता है।*

* "...........My appeal to you, therefore, is that a man like this, who is being charged with the offence with which he has been charged, stands not only before the bar in this Court, but stands before the bar of the High Court of History. My appeal to you is this, that long after the controversy will be hushed in silence, long after this turmoil, the agitation, will have ceased, long after he is dead and gone, he will be looked upon as the poet of patriotism; as the prophet of nationalism and the lover of humanity. Long after he is dead and gone, his words will be echoed and reechoed ,not only in India, but across distant seas and lands. Therefore, I say, that the man in his position is not only standing before the bar of this Court but before the bar of the High Court of History.

"The time has came for you, Sir, to consider your Judgement; and for you, gentlemen (addressing the Assessors) to consider your Verdict. I appeal to you, Sir, in the name of all the traditions of the English bench that forms the most glorious chapter of English history. I appeal to you in the name of all that is noble, of all the thousand principles of Law which have emanated from the English Bench, and I appeal to you in the name of the distnguished judges who have administered the Law in such a manner as to compel not only obedience, but the respect of all those, in whose cases they have administered the law. I appeal to you in the name of the glorious chapter of English history, and let it not be said that an English judge forgets to vindicate justice. To you gentlemen, I appeal in the name of the very ideal that Aurbindo preached, and

उनके इस भाषण का मजिस्ट्रेट पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने अरविन्द को निर्दोष कहकर छोड़ दिया और चित्तरंजन की योग्यता की बड़ी प्रशंसा की। उस समय से चित्तरंजन की गिनती देश के सर्वश्रेष्ठ वकीलों में होने लगी और उनके पास इतना काम आने लगा कि उन्हें प्रायः बहुत-सा काम अस्वीकार कर देना पड़ता था। वकालत में उनकी सफलता का एक कारण यह भी है कि वह जिस मुक़दमे को लेते थे उस पर रात-दिन परिश्रम करते थे। प्रायः सोचते-सोचते रात बीत जाती थी। उतना ही काम लेते थे जितना अच्छी तरह कर सकें। जिरह में वह अद्वितीय थे। कैसे भी प्रबल विरोधी को जिरह में वह टुकड़े-टुकड़े करके फेंक देते थे। ज़्यादातर वह फ़ौजदारी के ही मुकदमे लेते थे पर जब दीवानी के मुक़दमे हाथ में लेते तो उसमें भी अपनी प्रतिभा चमका देते थे। १९१४ में डुमराँव का मामला हाथ में लिया और एक मामूली गरीब आदमी को अपनी प्रतिभा के बल पर डुमराँव की गद्दी पर बैठा दिया। तबसे दीवानी के मामलों में भी उनकी योग्यता का सिक्का बैठ गया।

ईमानदारी

१९१३ में जब उनकी प्रैक्टिस—वकालत—खूब चमक गई, उन्होंने हाईकोर्ट के सामने दरख्वास्त दी कि हमारे दिवालियेपन की घोषणा रद्द कर दी जाय। उन्होंने पिता का और अपना पावना कौड़ी-कौड़ी चुका दिया। क़ानूनन उन्हें एक पैसा देने की ज़रूरत न थी पर ईमानदारी ने उन्हें ऐसा करने पर मजबूर किया। उनके इस नैतिक कार्य का असर हाईकोर्ट के जजों पर तक हुआ और जस्टिस फ़्लेचर ने इसकी तारीफ़ भी की।

---

in the name of all the traditions of our Country; and let it ont be said that two of his own countrymen (referring to the Assessors) were overcome by passion and prejudice and yielded to the clamour of the moment."

सन् १९२० ई० में उनकी आय प्रायः ५००००) पचास हज़ार रुपये मासिक होगई थी। उनमें दृढ़ इच्छा-शक्ति थी; वह जज या अपने विरोधी के सामने एक इंच नहीं झुकते थे और उनके तर्क की विजयिनी शैली के सामने विरोधी (hostile) जज भी कुछ कहते हिचकते थे और अन्त में झुक जाते थे। शक्ति के सामने झुकने का उनमें कोई चिह्न न था। वह जजों के सामने इस तरह बोलते थे जैसे कोई अपने साथियों से बोल रहा है। जो विषय जितना ही कठिन होता उसमें वह उतनी ही अधिक मात्रा में अपनी योग्यता प्रकाशित करते।*

महान् वकील

× × ×

इस प्रकार जिन दिनों चित्तरंजन की प्रतिभा वकालत के क्षेत्र में दिन दिन चमकती जारही थी उन दिनों देश का राजनीतिक वातावरण अत्यन्त अस्थिर और अशान्त हो रहा था। १९०८ में देश की जो स्थिति थी उसकी एक झलक हम ऊपर दिखा चुके हैं। १९०८ के बाद भी सरकार दमन करती ही गई। अखबारों को दबाने के लिए, विस्फोटक द्रव्यों के लिए तथा और कितनी ही बातों के लिए

दमन की लाठी

*कितने ही मुकद्दमों में उनके साथ सहायक की हैसियत से काम करने वाले श्रीयुक्त बी० सी० चटर्जी ने 'फारवर्ड' में लिखा था—

"Some fundamental qualities underlay his advocacy. He possessed an iron strength and never yielded an inch of ground either to judge or adversary; and combined with it a driving power of argument before which even hostile judges faltered, and ultmately fell. There was not the least trace of sycophancy in his pleading, nor the faintest of tremors at the knees in the presence of authority. He stood and spoke like a man to a fellow-man; but gave off all the time that unconscious magnetism which generally overpowered judge and audience. The most noteworthy feature of his advocacy was that its quality impressed in proportion to the difficulty of its subject matter."

क़ानून बनाये गये। अनेक स्थानों पर सभाओं का करना ग़ैर-क़ानूनी क़रार दिया गया। ३१ दिसम्बर १६०८ ई० को 'स्पेशल क्राइम्स ऐक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार राजनीतिक क़ैदियों के 'समरी ट्रायल' हो सकते थे और सभाओं को भंग किया जा सकता था। इस प्रकार के क़ानून तो बिना किसी रोक-टोक के बनाये जा रहे थे पर जन-हितकर बिलों का विरोध होता था। गोखले का 'प्रारम्भिक शिक्षा बिल' सरकारी सदस्यों के विरोध के कारण पास न हो सका। १८१८ ई० के बंगाल रेगुलेशन की तीसरी धारा के अनुसार लोग निर्वासित किये गये। श्रीकृष्णकुमार मित्र, श्रीअश्विनीकुमार दत्त इत्यादि की यही दशा हुई। तात्कालिक भारत मंत्री लार्ड मार्ले ने अपने 'संस्मरण' (Recollections) के दूसरे भाग में स्वयं ही उस समय की दमन-नीति की निन्दा की है। उन्होंने अपनी डायरी में उस पत्र को उद्धृत किया है जो उन्होंने वायसराय को लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा है—

"यह रूसी ढंग है कि झुण्ड के झुण्ड आदमियों को साइबेरिया भेजकर क्रान्तिकारियों के होश ठिकाने लगा दिये जायँ। यह नीति रूस में अच्छी तरह नहीं चली। उससे ग्रिगोरी के जीवन की रक्षा नहीं हुई, न वह रूस को क्षमा से ही बचा सकी।"

मतलब यह कि सब तरफ़ दमन का सहारा लिया गया। यहाँ तक कि इंग्लैण्ड का इतिहास पाठ्य-क्रम से निकाल दिया गया क्योंकि अधिकारियों ने समझा कि उसे पढ़कर विद्यार्थियों में स्वाधीनता की नवीन प्रेरणा पैदा होती है। पर इन बातों से स्वाधीनता की भावना कैसे रोकी जा सकती थी? बाढ़ जो उठी तो आगे ही बढ़ती गई। जनता में राष्ट्र-पूजा का एक नया भाव उमड़ रहा था और यह उस दिन देखने में आया जिस दिन कन्हाईलाल दत्त और सत्येन्द्रनाथ बोस को फाँसी हुई। कलकत्ता के सेण्ट्रल जेल से जब इनके शव श्मशान की ओर ले जाये जा रहे थे तो कालीघाट की सड़कों पर दोनों ओर कम से कम

५०००० पचास हज़ार आदमी उनकी चरण-धूलि लेने के लिए जमा थे। यह हिंसकों की हिंसा का स्वागत नहीं था, उनकी शहादत के प्रति आदर-प्रदर्शन था। अधिकारी देखकर दंग रह गये और तब से यह निश्चय हुआ कि ऐसे लोगों का शव-संस्कार जेल में ही हो।

दुःख की बात तो यह है कि यह सब दमन एक उदार राजनीतिज्ञ और श्रेष्ठ विचारक मार्ले के मन्त्रित्व काल में हो रहा था। मार्ले बड़े दृढ़-निश्चयी और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। पर उनके हाथ बँधे थे। फिर भी उन्हें यह समझते देर न लगी कि कुछ सुधार किये बिना काम न चलेगा। इसलिए उन्होंने सुधार-सम्बन्धी एक बिल तैयार किया। इसके पहले वह श्रीसत्येन्द्रप्रसन्नसिंह को वायसराय की कौंसिल का (कानूनी) सदस्य बना चुके थे। यह उनका नैतिक साहस ही था जिससे इसमें सफलता मिली अन्यथा इस नई बात का वायसराय की कौंसिल ने विरोध किया; इण्डिया कौंसिल ने विरोध किया; लार्ड किचनर (भारत के सेनापति) ने प्रबल विरोध किया और भारत के कई पिछले वायसरायों ने तो विरोध का तूफ़ान ही खड़ा कर दिया। यहाँ तक कि स्वयं सम्राट एडवर्ड सप्तम को भी यह ठीक न मालूम हुआ। इन लोगों के विरोध के मूल में यह भाव था कि वायसराय की कौंसिल के सामने सैनिक एवं शासन-नीति की कितनी ही गुप्त बातें विचार के लिए आती हैं। किसी भारतीय पर इस सम्बन्ध में विश्वास नहीं किया जा सकता। किन्तु मार्ले बड़े दृढ़ विचार के पुरुष थे; इतने विरोध के बीच भी उन्होंने इस साहसपूर्ण कार्य को कर डाला। फरवरी १६०६ में उन्होंने पार्लमेण्ट से भारतीय कौंसिलों के सुधार की योजना पास करा ली।

इस प्रकार एक ओर जब एक योग्य भारत-मन्त्री सुधार की ओर बढ़ रहे थे तब वायसराय लार्ड मिण्टो एवं उसकी परिषद् दमन-नीति बराबर जारी किये हुए थी। प्रेस ऐक्ट बनाकर भारतीय समाचारपत्रों को दबा देने का प्रयत्न किया गया तथा कौंसिलों में जातिगत प्रतिनिधित्व की प्रथा

चलाकर भारतीय राष्ट्रीयता के क्षेत्र में उसके विनाश के बीज बोने का प्रयत्न किया गया, जिसका फल हम आज तक देख रहे हैं।

१६१० ई० के अक्तूबर और नवम्बर में क्रमशः लार्ड मिण्टो (वायसराय) और लार्ड मार्ले (भारतमन्त्री) ने इस्तीफ़ा दे दिया। इनके स्थान पर क्रमशः लार्ड हार्डिञ्ज और क्रयू की नियुक्ति हुई। नियुक्ति की बात चलने के समय से ही दोनों सज्जन गुप्त-रूप से यह निश्चय कर चुके थे कि बंग भंग आन्दोलन तबतक नहीं दब सकता जबतक कि दोनों टुकड़े फिर से मिला न दिये जाँय। उधर सम्राट एडवर्ड सप्तम के देहावसान के बाद वर्तमान सम्राट जार्ज पंचम गद्दी पर बैठे। वह राज्याभिषेक के उत्सव के लिए भारत बुलाये गये। उनके द्वारा घोषणा कराके बंगाल के दोनों भागों को मिला दिया गया; बिहार-उड़ीसा एक स्वतन्त्र प्रान्त बनाया गया। इसी प्रकार आसाम भी एक अलग प्रान्त हुआ। राजधानी कलकत्ता से दिल्ली लाई गई।

वायसराय और भारत-मन्त्री का इस्तीफ़ा

दिसम्बर १६१२ ई० में, हाथी पर नवीन राजधानी में प्रवेश करते समय, लार्ड हार्डिञ्ज एवं लेडी हार्डिञ्ज पर बम फेंका गया। इससे दोनों घायल हुए; महावत मर गया। वायसराय तुरन्त अस्पताल पहुँचाये गये और उनके स्थान पर उत्सव का सारा काम उस समय के अर्थ-सदस्य सर गाई फ्लीटउड विल्सन ने किया।

बम काण्ड

बंगाल के दोनों टुकड़ों के मिल जाने से बंगाल का असन्तोष कुछ कम तो हो गया पर राजधानी के इस परिवर्तन में बहुतों को मुसलमानों के साथ सरकार का पक्षपात दीख पड़ा। उधर लार्ड सिनहा ने लार्ड केचनर से मत-भेद के कारण इस्तीफ़ा दे दिया और उनके स्थान पर मी (बाद में 'सर') अली इमाम की नियुक्ति हुई। उन्होंने राजधानी देहली लाने के प्रस्ताव का समर्थन किया।

इधर यह सब चल रहा था, उधर युरोप की राजनीतिक अवस्था बड़ी जटिल होती जा रही थी। तूफ़ान आने के सारे लक्षण प्रकट हो रहे थे।

युद्ध का शंखनाद

वहाँ के कई राष्ट्र एक दूसरे को कुचलने के लिए वर्षों से भीतर-भीतर तैयारी कर रहे थे। इसका अन्त में वही नतीजा हुआ जो होना था। युद्ध का शंख-नाद हुआ। भीषण युद्ध छिड़ गया। उस समय भी यद्यपि क्रान्तिकारियों का एक दल ऐसा था जो हर संभव उपाय से सरकार का विरोध करता रहा पर सब मिलाकर देश ने इस कठिनाई में ब्रिटेन का साथ दिया। हजारों आदमी अपनी युवती स्त्रियों, बूढ़ी माताओं एवं नन्हे बच्चों को छोड़कर सेना में भरती हुए, युद्ध में लड़ने गये और वहीं जूझ गये। भारतीय सैनिकों की वीरता का लोहा सभी मान गये। तोपों की मार में बढ़-चढ़कर उन्होंने शत्रुओं को परास्त किया। फ्रांस की युवतियाँ उनकी वीरता की कहानियाँ अपने बच्चों से कहती हैं। इतने पर भी भारत की गरीबी का ख़याल हमारे शासकों ने न किया। वह इस जर्जर गाय को दुहते ही गये। १६१७ ई० में कौंसिल से एक अरब पचास करोड़ रुपया भारत-द्वारा युद्ध फण्ड में सहायता-स्वरूप देने का प्रस्ताव पास कराया गया। उस समय पं० मदनमोहन मालवीय ने भारतीय शासन-नीति की जबर्दस्त टीका करते हुए इसका विरोध किया। यह भाषण जर्मन सरकार ने अनुवाद कराके सम्पूर्ण जर्मन-साम्राज्य में इस उद्देश्य से बँटवाया कि देखो स्वयं भारत ब्रिटिश शासन के बारे में क्या सोचता है?

फूल और त्रिशूल साथ-साथ

मज़ा तो यह है कि जब भारत इस प्रकार आड़े समय में ब्रिटेन का साथ दे रहा था तब 'भारत-रक्षा क़ानून' ('डिफेंस आव् इण्डिया ऐक्ट') के अन्तर्गत सैकड़ों युवक नजरबन्द कर लिये गये। सरकारी नीति के कारण असन्तोष बढ़ता गया और क्रान्तिकारी दल ने उसका लाभ उठाया। डकैतियाँ होने लगीं। कई अंग्रेज़ अफसरों को मारने और विदेशों से अस्त्र-शस्त्र

मँगवाकर विद्रोह करने का भी प्रयत्न किया गया पर समय पर षड्यंत्र की प्राय: सभी योजनाएँ सरकार को मालूम हो गईं। इनका विशद वर्णन रौलट कमेटी की रिपोर्ट में मिलता है। ऐसे प्रयत्नों-द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करना संभव न था; यह तो भावना का प्रवाह-मात्र था।

चित्तरंजन का राजनीति में प्रवेश

१९०५ ई० में भारत में जो नवीन चेतना आई और जो महायुद्ध के विकराल समय में भी बराबर बढ़ती गई वह चित्तरंजन के हृदय पर बराबर असर डाल रही थी। भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रवाह में भारत ने धक्के पर धक्के खाकर फिर अपनी भूली हुई आध्यात्मिक चेतना को पाया। अरविन्द ने अध्यात्म को जिस प्रकार राजनीति से मिला दिया था उसका असर भी चित्तरंजन पर पड़ा था। १९१७ में कलकत्ता में बंगाल प्रान्तीय कान्फ्रेंस का अधिवेशन हुआ। चित्तरंजन ही उसके सभापति थे। उन्होंने एक अत्यन्त उत्साहप्रद और ओजस्वी भाषण दिया जिसमें उन्होंने आधुनिक भौतिकवाद के बढ़ते हुए प्रवाह के विरुद्ध ज़बर्दस्त अपील की और कहा कि उपनिषद् और बुद्ध के ज़माने से भारत संसार को प्रकाश देता रहा है और आज इस समय भी भारत को अपना संदेश देना होगा। बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने अपनी पुस्तक 'आर्यवर्त्त का हृदय' ('हार्ट ऑव आर्यवर्त्त') में चित्तरंजन के इस भाषण का सार इस प्रकार दिया है—

'आर्यवर्त्त का हृदय'

"आज देश की दशा प्राचीन बंगाल की दशा के बिलकुल विपरीत है! यह दुर्दशा इसलिए है कि पूर्व और पश्चिम के आदर्शों के संघर्ष से उठी भूल में हम अपने ईश्वरत्व को, अपनी दिव्यता को भूल गये हैं और नये-नये अद्भुत देवों की पूजा करने लगे हैं। ...... जब अंग्रेज़ हमारे देश में आये तब हमारा पतन हो रहा था; हमारी जीवन-शक्ति क्षीण हो गई थी और हम प्राचीन की व्यंगमय छाया के समान रह गये थे। नवद्वीप का प्राचीन पाण्डित्य और

ज्ञान केवल स्मरण की वस्तु रह गया था। जैसा कि दुर्बल के साथ सदा होता है, हमारे साथ भी हुआ। हमने अंग्रेज़ों की नक़ल शुरू कर दी। अंग्रेज़ी शासन-पद्धति, अंग्रेज़ी वेश-भूषा-संस्कृति-सभ्यता के पीछे हम दीवाने हो गये। पर समय आ गया है जब हमें माया की यह मोहनी दूर कर देनी होगी। बंकिम मातृमूर्ति को मातृभूमि में स्थापित कर गये हैं। उन्होंने सबको पुकारकर कहा है—'देखो, यह हमारी माता है—सुजलां, सुफलां मलयजशीतलां, शस्यश्यामलां माता। इसकी पूजा करो और अपने घरों में इसे स्थापित करो।' ...... १६०३ में ही स्वदेशी का शंख बज गया था। स्वदेशी-आन्दोलन एक तूफ़ान की तरह आया; यह एक शक्तिमान बाढ़ की तरह देखते-देखते फैल गया और हमारे पाँव उसमें विचलित हो गये। उसने हमें जीवन दिया। उसके जीवनप्रद प्रभाव में फिर हम अपनी संस्कृति और सभ्यता का अर्थ समझ पाये हैं। एक बार फिर हमें अपने राष्ट्रीय इतिहास के क्रम का पता चला, इसलिए हमारे सामने मुख्य बात यह है कि बंगाल के इस नवजीवन में पूर्णता कैसे लाई जाय? ...... राष्ट्र-निर्माण के इस कठिन समय में हमें सबसे पहले भोग के युरोपीय आदर्श का त्याग करना होगा और त्याग का प्राचीन आदर्श अपनाना होगा। शिक्षा, संस्कृति कृषि और व्यापार सबका पुनरुत्थान इसी प्रकाश में होगा। प्राचीन समाज-व्यवस्था के साथ इनके सम्बन्ध पर विचार करना पड़ेगा। इसके साथ ही हमें अपने सारे विचारों, कार्यों एवं प्रयत्नों को धर्म की दृष्टि से देखना होगा क्योंकि बिना इसे सतत सामने रखे हम सब वस्तुओं को गलत रूप में देखेंगे। हमें उन्हीं बातों को स्वीकार करना चाहिए जिनका हमारे अस्तित्व के साथ सामञ्जस्य हो और उन सब बातों को पूर्णतः छोड़ देना चाहिए जो हमारी आत्मा के लिए बाहरी हों। जो कुछ हमारे पास पहले था, शक्ति का वह स्थायी स्रोत अब भी हमारे पास है। बंगाल की वे शक्तिमान नदियाँ, जो प्राचीन समय में बहती थीं, आज

भी उसी शान से बह रही हैं। प्राचीन हिमालय आज भी, स्वर्ग की ओर सिर उठाये, गौरव-पूर्वक खड़ा है। बंगाल की भूमि वही है—हमारी है। हमें केवल उसमें जीवन डालना है। आत्मा को फिर से जाग्रत करना है। ......जैसा कि हमारी जातीय संस्कृति और सभ्यता का ढंग था हमें जीवन को सम्पूर्ण रूप में देखना चाहिए, टुकड़े टुकड़े करके नहीं। हमने युरोप से विचार उधार ले लिये हैं पर हम समझ भी नहीं पाये हैं कि हमने क्या उधार लिया है। हमारी असफलता का यही कारण है। जिसे हम राजनीति कहते हैं उससे सम्पूर्ण बंगाल, सम्पूर्ण बंगाली जाति का कोई जीवित सम्बन्ध नहीं रह गया है। क्या कोई हमें बतायेगा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन का अमुक भाग तो राजनीति से सम्बन्ध रखता है, अमुक भाग अर्थ-शास्त्र से और अमुक समाज-शास्त्र से? क्या हमें जीवन के इस प्रकार टुकड़े टुकड़े करने चाहिएँ? हमें इस प्रकार के कल्पित जीवन-खण्डों के बीच क्या विघ्नकारी दीवारें खड़ी करनी चाहिएँ? और क्या हमें अपना राजनीतिक कार्य एक कल्पित सकुचित दायरे में रोक रखना चाहिए जिसे हमने कल्पित दीवारों से घेर रखा है? क्या हमें अपने राजनीतिक मामलों पर सम्पूर्ण देशवासियों की दृष्टि से विचार न करना चाहिए? और जबतक हम जीवन को इसप्रकार उसकी सम्पूर्णता में न देखें तबतक हम सत्य को कैसे पा सकेंगे?"

राष्ट्रीय पुनरुत्थान की दस शर्तें

यह भाषण चित्तरंजन के प्रत्यक्ष राजनीतिक जीवन का गौरवमय प्रारंभ था। इस भाषण में चित्तरंजन ने राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए दस बातों का उल्लेख किया था—

१. हमें इतिहास की शिक्षाओं पर ध्यान देना चाहिए।

२. युरोपीय उद्योगवाद का मार्ग हमें त्याग देना चाहिए।

३. हमें गाँवों के ह्रास को और उसके फल-स्वरूप शहरों में जन-संख्या की वृद्धि को रोकना चाहिए।

४. इसके लिए हमें गाँवों को फिर से बसाना चाहिए।
५. लेकिन हमारे गाँव तब बस सकते हैं जब हम उन्हें स्वच्छ और स्वास्थ्य-प्रद बनावें और कृषक को रोगमुक्त करके उन्नति का मौका दें।
६. कृषकों को लाभदायक हस्तशिल्प की शिक्षा देनी चाहिए।
७. हमें बंगाल की प्राचीन व्यापारिक और औद्योगिक उपज का अन्वेषण करना चाहिए।
८ हमें सारे देश में छोटी-छोटी व्यापारिक संस्थाएँ खोलनी चाहिएँ जिनका उद्देश्य ऐसे गृह-उद्योगों को उत्तेजन देना हो जिनमें हमारे देशवासी स्वभावतः कुशल हैं।
९. हमें अनिवार्य चीज़ों को छोड़ अन्य विदेशी चीज़ों का इस देश में मँगाना बंद कर देना चाहिए।
१०. जिन गृह-उद्योगों के बढ़ने की आशा हो उनके लिए सस्ती पूँजी मिल सके, इसका हमें प्रबन्ध करना चाहिए और इस दृष्टि से विभिन्न ज़िलों में बैंक खोलने चाहिएँ।

उन्होंने यह भी बताया—

"१. तुम्हारी शिक्षा सच्ची होनी चाहिए।
२ तुम्हारा ज्ञान शब्दों का नहीं, वस्तुओं का ज्ञान हो।
३. तुम्हारी शिक्षा तुम्हारी राष्ट्रीय आत्मा के अनुकूल हो और उसकी वृद्धि करनेवाली हो।
४. तुम्हारी शिक्षा का माध्यम बंगाली हो।"

चित्तरंजन का राजनीति में प्रवेश यहीं से होता है। भारत में एक नये आत्म-विश्वास का उदय होने लगा था। लोग समझने लगे थे कि राष्ट्र का अभ्युत्थान जीवन की भाँति आन्तरिक विकास एवं आत्म-विश्वास से ही हो सकता है। इसी समय पार्लमेण्ट ने ब्रिटेन की भारतीय नीति के सम्बन्ध में घोषणा की। विधान-वादी भारतीय लिबरलों का दल इस घोषणा पर

नवीन युग के आगम की सूचना

फूल गया पर नवीन और उग्रवादी दल ने, जिसके प्रधान नेता उस समय लोकमान्य (तिलक) थे, इसकी ओर उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा। इस घोषणा के बाद जब वायसराय लार्ड चेम्सफर्ड के निमंत्रण पर भारत-मंत्री श्रीमाण्टेगू भारत आये तब पुराने प्रभावशाली माडरेटों में बहुत कम जीवित रह गये थे। अपने समय के शायद सबसे प्रभावशाली और विधायक राजनीतिज्ञ फीरोज़शाह मेहता और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ श्रीगोखले का देहान्त हो चुका था। भूपेन्द्रनाथ बसु और सर सत्येन्द्र-प्रसन्नसिंह उच्च सरकारी पदों पर थे। इसलिए माडरेटों को सुरेन्द्रनाथ के नेतृत्व पर चलना पड़ रहा था। उनकी भाषण-शक्ति बे-जोड़ थी पर उनके विचार बहुत पिछड़े थे। यदि उनपर और उनके अनुयायियों पर श्रीमाण्टेगू की माया न चली होती तो १६१६ के 'भारत शासन क़ानून' (गवर्नमेण्ट आव् इण्डिया ऐक्ट) का कुछ और ही रूप होता। सुरेन्द्र-नाथ में राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी थी; वह समस्या के भीतर डूबकर उसका असली रूप देख नहीं पाते थे। उनमें नैतिक साहस का भी अभाव था। इसलिए उनका दल पिछड़ गया और लोकमान्य एवं चित्तरंजन नये दल के नेतृत्व के लिए आगे आये। जब चित्तरंजन 'माण्टेगू-मिशन' के सामने गवाही देने गये तो उन्होंने देश की ओर से ऐसी माँग पेश की जिसे सुनकर श्रीमाण्टेगू आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने अपने बयान में अर्थ पर पूरा अधिकार तथा देश की सब नौकरियों पर भारतीय अधिकार की माँग की। जन-रुचि बदल गई थी; लोगों ने सुरेन्द्रनाथ को चित से उतार दिया और चित्तरंजन एवं लोकमान्य के के प्रति श्रद्धा और आदर से उनका हृदय भर गया। घोषणा के कुछ ही दिनों बाद हाईकोर्ट की लम्बी छुट्टियों का चित्तरंजन ने उपयोग किया और पूर्व बंगाल के ज़िलों में घूम-घूमकर नवीन राष्ट्रधर्म की शिक्षा लोगों को दी। चटगाँव के एक भाषण में उन्होंने माडरेटों पर जबरदस्त आक्रमण किया और उनके नेता सुरेन्द्रनाथ को 'रँगा हुआ' ('इम्पोस्टर'—

Imposter) तक कह दिया। अब तक राजनीतिक क्षेत्र में चित्त-रंजन केवल दर्शक थे। अब से वह उसमें बराबर भाग लेने लगे; प्रत्येक कॉंग्रेस में शरीक होने लगे और अपनी भाषण शक्ति एवं प्रभाव के कारण प्रायः सभी महत्वपूर्ण कमेटियों में चुने जाने लगे। इस प्रकार देश में बढ़ती हुई आत्म-विश्वास की नई लहर का उन्होंने नेतृत्व किया। भारतीय राजनीति में अनेक भावों का उदय होने लगा और वह अपने मिश्रित भाव-प्रवाह के कारण अध्ययन की एक चीज़ बन गई।

राजनीति की दो भाव-धाराएँ

इस समय भारतीय राजनीति के क्षेत्र में दो भाव-धाराएँ बड़े प्रबल वेग से आईं। एक तो लोगों की यह भावना कि भारत को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। यह समग्र विश्व और विशेषतः एशिया में फैलती हुई स्वतंत्रता के प्रवाह का फल था। दूसरी भावना व्यावहारिक थी और उसका उद्देश्य शासन-सम्बन्धी दोषों को दूर करना था। ऐसे मनोवैज्ञानिक अवसर पर चित्तरंजन ने अपना आत्म विश्वास और अपनी नई फ़िलासफ़ी लेकर राजनीति के तूफानी क्षेत्र में प्रवेश किया।

× × ×

राज्य के दो कर्तव्य

साधारणतः राज्य के दो कर्तव्य माने जाते हैं। एक जनता के जानोमाल की रक्षा करना, कानून का तथा अन्य ऐसे नियमों का पालन कराना जो समाज के संगठित विकास के लिए आवश्यक हैं। दूसरा है—जनता की प्रत्येक दिशा में उन्नति करना,—उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक अवस्था का विकास करना। थोड़े में सब प्रकार से आन्तरिक संतोष और शान्ति की स्थापना। एक प्रकार से देखें तो यह दूसरा कर्तव्य पहले से भी अधिक आवश्यक है। पर अंग्रेज़ शासकों ने कभी इस देश के लाभ को अपना लाभ न समझा। उनका अपना दूसरा देश था, पहले वह उसका लाभ देखते थे। १९४८ तक वही बात चलती रही।

है। इसलिए स्वशासन में जनता की जैसी उन्नति हो सकती है, नहीं हुई। अशिक्षा, गरीबी, रोग, बेकारी, की दुरवस्था ज्यों की त्यों बनी है बल्कि पहली बात को छोड़ अन्य बातों में तो वृद्धि होती जा रही है। इसलिए जब भारत में कांग्रेस की स्थापना हुई तब उसका उद्देश्य यही था कि जन हितकर कार्यों की ओर सरकार का ध्यान दिलावे। पर ज्यों-ज्यों देश में राष्ट्रीय भावना जागृत हुई त्यों-त्यों लोग यह समझने लगे कि विदेशी शासन में यह असम्भव-सा है क्योंकि दोनों के स्वार्थ टकराते हैं। १९०६ ई० की कलकत्ता कांग्रेस में दादाभाई नौरोजी ने पहली बार 'स्वराज' शब्द का उपयोग किया। उनके 'स्वराज' का अभिप्राय यही था कि साम्राज्य के अन्तर्गत भारत को स्वायत्तशासन का अधिकार मिलना चाहिये। तब से बहुत दिनों—१९२० ई०—तक आन्दोलन का ध्येय यही बना रहा। राजनीतिक जागृति के साथ लोगों में एक यह भाव भी जागृत हुआ कि बुरा हो या भला अपना शासन (स्वराज) अच्छे विदेशी शासन से अच्छा है। उन अनेक राजनीति शास्त्रियों की पुस्तकों एवं विचारों का भारतीय हृदय पर प्रभाव पड़ रहा था जिन्होंने प्रतिपादित किया है कि 'स्वराज सुराज्य से बढ़कर है'* क्योंकि जैसा श्री नेविंसन ने कहा है "विदेशी शासन अच्छा हो या बुरा उसका सब से बुरा फल यह होता है कि राष्ट्र का व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है।" इस प्रकार भारत के राजनीतिक क्षेत्र में धीरे-धीरे दो विचारधाराएँ आईं—एक शासन में सुधार करने को उत्सुक थी और इस दृष्टि से अच्छे आधार पर सुशासन की स्थापना के लिए शासन को भारतीय बनाना चाहती थी। १९१७ तक करीब-करीब यही विचार-धारा चलती रही। एक-दो आदमी दूसरी दृष्टि की ओर भी ध्यान आकर्षित करते रहे। अरविन्द इत्यादि का कुछ ऐसा ही विचार था—पर सामूहिक रूप से उस पर

विदेशी शासन से हानि

*Self-government is better than good government.

लोगों ने ध्यान नहीं दिया। १६१६ के बाद लोकमान्य (तिलक) एवं

नया रास्ता

देशबन्धु इत्यादि ने पहली भावना को बिल्कुल छोड़ दिया और दूसरी विचार धारा को बड़े जोरों से देश के सामने रक्खा। इन लोगों का कहना यही था कि 'विदेशी शासन में हमारा राष्ट्रीय—जातीय - व्यक्तित्व नष्ट हो गया है। हम अपने को भूल गये हैं, हम शासकों की संस्कृति कि धारा में बहे जा रहे हैं।' उन्होंने शासन की भी आलोचना की पर यह कहा कि 'विदेशी शासन अच्छा भी हो तो हम उसे नहीं चाहते—हमें अपना ही शासन चाहिए। हम ग़लती करने का भी अधिकार चाहते हैं।' पहली भाव-धारा को लिबरलों—नरम दलवालों—ने और दूसरी को उग्रवादियों ने अपनाया। १६२० में जब देश में असहयोग-आन्दोलन चला तो दूसरी धारा बड़े प्रबल तूफानी एवं सामूहिक रूप में देश के सामने प्रकट हुई। यहाँ से भारत एक नये मार्ग पर आया।

इसीलिए हम देखते हैं कि तिलक, दास और गान्धी की स्वराज-सम्बन्धी कोई वैसी योजना नहीं है जैसी लिबरलों के पास है। प्रथम दल

दोनों दलों में भेद

का आन्दोलन नैतिक, मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधारों पर है और दूसरे दल का—लिबरलों का, उपयोगितावादी व्यावहारिक सिद्धान्तों पर। पहला दल मुख्यतः भाव-परिवर्तन पर ज़ोर देता है; वह भारतीयों में भारतीय संस्कृति-सभ्यता और आदर्श के अनुसार एक जातीय व्यक्तित्व, एक अपनी विचार-धारा पैदा करना चाहता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में विदेशी शासन एक बड़ी बाधा थी, इसलिए वह उसे दूर करना चाहता था। इसीलिए जब-जब चित्तरंजन से 'स्वराज' की परिभाषा करने को कहा गया तब तब उन्होंने कहा—'तुम लोग स्वराज से एक भौतिक योजना का अर्थ लेते हो। मेरे लिए तो स्वराज एक भाव है। उसे किसी शासन-योजना में सीमित करना ठीक नहीं।' १६२१ के बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन (बरीसाल-अधिवेशन)

में जब उसके अध्यक्ष विपिनचंद्रपाल ने कहा कि "भारत 'प्रजातंत्रवादी स्वराज' की ओर जा रहा है" तब चित्तरंजन ने जवाब दिया कि "स्वराज की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती "स्वराज स्वराज है।" उस समय चित्तरंजन ने निश्चय ही स्वराज शब्द का एक राजनीतिक उद्देश्य की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक भाव के रूप में ही प्रयोग किया था।

दिसम्बर १६२२ ई० में गया-कांग्रेस की अपनी वक्तृता में उन्होंने कहा—"यह प्रश्न कई बार पूछा गया है कि स्वराज क्या है? स्वराज की कोई परिभाषा नहीं की जा सकती; उसे किसी खास तरह के शासन-विधान के अर्थ में प्रयुक्त करना ठीक नहीं। स्वराज और साम्राज्य में बड़ा अन्तर है। स्वराज, राष्ट्रीय मनोधारा का प्राकृतिक उद्गार है। इस उद्गार में राष्ट्र के जीवन का सारा इतिहास आ जाता है।......................"

गांधी-युग

१६२० ई० से चित्तरंजन सारे देश के सामने राजनीति लेकर आये। कलकत्ता की सितम्बर १६२० ई० को विशेष कांग्रेस ने देश के सामने आत्म-विश्वास की प्रबल धारा बहा दी। गांधीजी ने अपनी असाधारण नैतिक प्रतिभा से देखा कि न व्यावहारिक दृष्टि से और न नैतिक दृष्टि से हिंसात्मक उपायों द्वारा भारत का स्वराज प्राप्त करना ठीक होगा। यह तो उसकी सारी संस्कृति के ही विरुद्ध है। भारत की सदा अपनी एक विशेषता रही है; उसने सदा एक सन्देश दिया है। पराधीनता की अवस्था में भी वह विशेषता उसके पास से जानी न चाहिये। इसलिए, गांधीजी ने भारत में एक राष्ट्रीय संस्कृति और व्यक्तित्व को जन्म देने के लिए, संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य के विरुद्ध, जनता की नैतिक शक्तियों को, विरोध करने के लिए, एकत्र किया। उन्होंने आन्तरिक पवित्रता एवं आत्म-शुद्धि पर जोर दिया। इस दृष्टि से यह आन्दोलन संसार के इतिहास में

राजनीति के राज-पथ पर

अद्वितीय है ।*

सितम्बर में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। नवम्बर-दिसम्बर में नई कौंसिलों का चुनाव होने वाला था। इसका बायकाट किया गया। बहुत ही कम वोटरों ने वोट दिये। अच्छे अच्छे कितने ही आदमियों ने देश के लिए अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का बलिदान किया; कौंसिलों में न गये। पहले चित्तरंजन असहयोग कार्य-क्रम के विरुद्ध थे पर पीछे महात्मा गांधी से उनका समझौता हो गया और सितम्बर (१९२०) में जब नागपुर में कांग्रेस हुई तो जनता को यह देखकर आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि चित्तरंजन असहयोग कार्य-क्रम के कट्टर समर्थकों में हैं।

× × ×

असहयोग-कार्यक्रम

सन् १९२१ ई० में बेजवादा में भारतीय कांग्रेस कमेटी ने असहयोग का नवीन कार्य-क्रम बनाया। इसमें एक करोड़ स्वयंसेवक बनाने, एक करोड़ रुपया 'तिलक स्वराज्य-कोष' के लिए एकत्र करने और २० लाख चरखे चलाने का निश्चय हुआ। जुलाई के अन्त में बम्बई में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का निश्चय हुआ।

चित्तरंजन इस काम में जुट गये। बंगाल में घूम-घूमकर उन्होंने स्वयंसेवक बनाना एवं चन्दा उगाहना शुरू किया। स्वयंसेवकों का जबर्दस्त संगठन हो गया। इससे सरकार घबरा गई और युरोपियन व्यापारियों के इशारे पर बंगाल-सरकार स्वयंसेवक संगठनों को गैर-

* "After a hiatus of nearly fifty centuries, Mr. Gandhi has awakened us to the idea, once again, that man does not live by bread alone, and has, after all, such a thing as a soul, and that this soul holds in its ineluctable grip the fortune and destiny of Man."

—P. C. Ray.

"This determination to measure the strength of two different forces was an extraordinary step, unprecedented not only in the annals of India, but in the whole history of the human race."

—Life and Times of C. R. Das, Page 156.

कानूनी क़रार दे दिया। अब बंगाल में, तथा और जगह भी, कानूनों को तोड़कर हज़ारों आदमी जेल जाने लगे। चित्तरंजन की पत्नी और बहन (वासन्ती देवी और उर्मिला देवी) दोनों खद्दर बेचते हुए पकड़ी गईं (—यद्यपि बाद में छोड़ दी गईं)। १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में सम्पूर्ण देश ने पहली बार राष्ट्रीय चेतना का अनुभव किया था पर

चौरीचौरा

दुर्भाग्य-वश हर स्थान पर जनता को पूर्ण अहिंसक न रखा जा सका। फल-स्वरूप दो-तीन स्थानों पर पुलिस से जनता की मुठभेड़ हो गई। इसमें चौरीचौरा (गोरखपुर) का काण्ड सबसे भयानक था। उसमें कई पुलिसवाले मारे गये; भीड़ ने थाने में आग लगा दी। जब यह समाचार गांधीजी के पास पहुँचा तो उन्होंने एवं उनकी सलाह पर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन स्थगित कर दिया। इसके बाद उसका विधायक कार्यक्रम रह गया—कांग्रेस के सदस्य बनाना, चरखे एवं खादी का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना, अछूतोद्धार, मद्यपान के विरुद्ध प्रचार, पंचायतों का संगठन, 'तिलक स्वराज्य कोष' के लिए चन्दे एकत्र करना।

फरवरी १९२२ में चित्तरंजन गिरफ्तार हुए; छः महीने की सजा हुई। मार्च १९२२ में गांधीजी गिरफ़्तार हुए और उन्हें राजविद्रोह

गांधीजी जेल में

जुर्म में ६ वर्ष की सजा हुई। गांधीजी के जेल जाने के बाद देश को कोई ऐसा नेता नहीं मिला। जो उनके प्रोग्राम—कार्यक्रम—के अनुसार जनता को चला सकता। १९२३ में फिर कौंसिलों का चुनाव होनेवाला था। जेल में रहते हुए चित्तरंजन ने यह सोचा कि सरकार ने कौंसिलों का मोह जाल पसार रखा है और भारतीय मंत्रियों के नाम पर जो चाहती है करती है, इसलिए उसके गढ़ में घुसकर ही उसे पछाड़ देनी चाहिये। छूटने के बाद उन्होंने इस ओर ध्यान दिया। कांग्रेस वादियों में एक कौंसिलवादी दल पैदा हो गया; चित्तरंजन इसके नेता थे।

कौंसिल-प्रवेश की बात लेकर कांग्रेस में बड़ा तूफान मचा। परिवर्तन और अपरिवर्तनवादियों के दो दल बन गये। गया कांग्रेस में यह विरोध स्पष्ट दीख पड़ा। लोग अपने-अपने विचार के प्रतिनिधि भेजने लगे पर गया में भी अपरिवर्तनवादियों की ही विजय रही। इससे चित्तरंजन और मोतीलालजी हताश नहीं हुए। १ जनवरी १६२३ को चित्तरंजन ने भारतीय कांग्रेस कमेटी की अध्यक्षता से इस्तीफ़ा दिया और स्वराज-दल की नींव डाली तथा घोषणा की कि ६ महीने के अन्दर मैं अल्पमत को बहुमत में बदल दूँगा। देशबंधु के अन्दर जो अद्भुत कार्य-शक्ति थी उसके दर्शन उस समय हुए थे। सारे देश को भाषणों, घोषणाओं तथा कार्यक्रमों से उन्होंने डुबा दिया; जैसे देश के सार्वजनिक जीवन में एक बाढ़ आ गई। कांग्रेस के दोनों दलों के बीच विरोध का ऐसा तूफान पैदा हुआ कि लोग अपने मार्ग से भटक गये। पारस्परिक मत-भेद, व्यंग-विरोध और हिन्दू-मुस्लिम दंगों से कारण देश में एक दुखमय परिस्थिति पैदा हो गई। पर चित्तरंजन जो कहते उसे कर दिखानेवालों में थे। परस्पर का विरोध शायद इतना तीव्र न होता पर अपरिवर्तनवादियों में श्री राजगोपालाचार्य जैसे व्यंग के आचार्यों के रहने और उधर मोतीलालजी तथा चित्तरंजन जैसे किसी के सामने न झुकनेवाले व्यक्तियों के कारण मामला तूल पकड़ता गया। चित्तरंजन और मोतीलालजी दोनों शाही प्रकृति के आदमी थे; दोनों को लड़ने में, आक्रमण में मज़ा आता था।

कौंसिल-बहिष्कार बनाम कौंसिल-प्रवेश

दुःखद स्थिति

जब मैं मत-भेद की तीव्रता और कटुता की यह बात कह रहा हूँ तब मेरा यह मतलब नहीं है कि यदि ज़्यादा नम्र आदमी होते तो यह मत-भेद प्रदर्शित न होता। नहीं, स्वराज-दल का आविर्भाव तो बिलकुल स्वाभाविक था; वह तो होना ही था। हमारी राजनीति में वह एक प्राकृतिक—स्वाभाविक घटना

समझौते का प्रयास

है। पर उस समय विरोध का जो दुःखमय प्रकार, विरोधी की भाषा में शब्दों का जो दुःखद प्रयोग दिखाई पड़ा वह न दिखाई पड़ता। पर इस दुःखद परिस्थिति के कारण ही कांग्रेस में एक मध्य दल की सृष्टि हुई जिसको दोनों दलों में सचाई दीख पड़ी और जिसको दोनों के पारस्परिक झगड़ों के कारण वेदना थी। इस दल के लोगों, मुख्यतः श्रीमती सरोजिनी, के प्रयत्न से मई १९२३ ई० में बम्बई की भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में कौंसिल-प्रवेश के विरुद्ध सब प्रकार का प्रचार बंद कर देने का एक प्रस्ताव पास हुआ। किन्तु इस प्रस्ताव से देश में शान्ति होने की बात तो दूर रही, उलटे इस बात पर गहरा विवाद उठ खड़ा हुआ कि कांग्रेस के किसी प्रस्ताव को बदलने का भारतीय कांग्रेस कमेटी को कहाँ तक अधिकार है? इससे अनुचित मतभेद ही नहीं, कांग्रेस में अनुचित दलबन्दी और अनुशासन की कमी तथा अव्यवस्था भी हो गई। ऐसा मालूम होता था कि संस्था का जीवन ही खतरे में है। विशेष कांग्रेस का करना अनिवार्य हो उठा।

कांग्रेस से स्वीकृति

१९२३ के सितम्बर के तीसरे हफ्ते में दिल्ली में मौलाना अबुलकलाम आज़ाद की अध्यक्षता में अधिवेशन हुआ। इसमें मौलाना मुहम्मदअली के आग्रह से बम्बई वाले प्रस्ताव का कांग्रेस ने समर्थन किया। इस प्रस्ताव में कांग्रेस वालों को कौंसिल में जाने एवं वोट देने की छूट दी गई। इस प्रस्ताव के पास होते ही चित्तरंजन अपने काम में लग गये और जब चुनाव हुआ तो बंगाल, मध्यप्रान्त एवं बड़ी कौंसिलों के लिए स्वराजी बहुत अधिक संख्या में चुने गये। यहाँ से भारतीय राजनीति में स्वराजदल का दृढ़ भित्ति पर जन्म हुआ। यह भारत में पार्लमेंटरी ढंग पर संगठित प्रथम दल था और अपने क्षेत्र और समय में इसने काम भी खूब किया।

देशबन्धु स्वयं बंगाल कौंसिल के लिए खड़े हुए। चुने गये। स्वराजदल के ४० सदस्य चुने गये। पहली ही बार और बहुत थोड़े दिनों के

प्रयत्न के देखते हुए यह एक बड़ी सफलता थी। सर सुरेन्द्रनाथ और एस० आर० दास जैसे लोग उसके मुक़ाबले में हार गये। बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन ने सब से बड़े दल के नेता की हैसियत से चित्तरंजन को मंत्रिमंडल का संगठन करने के लिए आमंत्रित किया। पर १६ दिसम्बर १९२३ को चित्तरंजन ने गवर्नर को इस विषय में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए इन्कारी का पत्र लिख दिया।

बंगाल-कौंसिल में

इसके बाद नौकरशाही पर उन्होंने आक्रमण बोल दिया। १९२४ ई० में दो बार तथा १९२५ ई० में एक बार मंत्रियों की नियुक्ति एवं वेतन का सरकारी प्रस्ताव अस्वीकृत कराया। उस समय सरकार और देशबंधु दोनों के बीच जो राजनीतिक चालें होती थीं उनमें सरकार ने सदा पट-कान खाई। जून १९२४ ई० में मंत्रियों के वेतन का प्रस्ताव अस्वीकृत हो चुका था जिसे गवर्नर ने अपने अधिकार से फिर कौंसिल में विचारार्थ भेज दिया। लोकमत का यह अपमान चित्तरंजन से सहन न हुआ। उन्होंने हाईकार्ट में इस विषय पर अपील की कि प्रेसीडेण्ट को यह प्रस्ताव कौंसिल में रखने से रोक दिया जाय। इस बात में चित्तरंजन को सफलता मिली। फलस्वरूप भारत-सरकार को कौंसिल के नियमों में परि-वर्तन करना पड़ा तथा पुनर्विचार की सुविधा देनी पड़ी। जब अगस्त १९२४ ई० में प्रस्ताव कौंसिल में पेश हुआ तब सरकार-द्वारा लोकमत की अवहेलना होने के कारण सदस्यों में इतना असन्तोष था कि वह अस्वीकृत हुआ और इस बार भी सरकार को गहरी हार खानी पड़ी। यही अभिनय मार्च १९२५ ई० में फिर हुआ।

इस समय तक कलकत्ता कार्पोरेशन के लिए नया क़ानून पास हो चुका था। ब्रिटिशसाम्राज्य में लन्दन के बाद कलकत्ता सबसे बड़ी महा-नगरी है। उसकी आय निज़ाम को छोड़कर और किसी भी भारतीय राजा के राज्य की आय से अधिक है। साथ ही भारत की सब म्युनिस-

पलटियों से उसे अपने आन्तरिक कार्य में अधिक स्वाधीनता है। इसलिए चित्तरंजन ने देखा कि यदि कार्पोरेशन को हाथ में कर लिया जाय तो कांग्रेस और स्वराजदल को बंगाल में एक स्थायी सहारा प्राप्त हो सकता है; ठोस नगर-सेवा का मौका भी मिल सकता है और राष्ट्रीय विचार के योग्य कार्यकर्ताओं की जीविका की समस्या भी, थोड़ी-बहुत मात्रा में, हल हो सकती है। इसलिए १९२४ में जब चुनाव का समय आया तो स्वराज-दल ने, कार्पोरेशन के लिए अपने उम्मीदवार खड़े किये और इसमें उसे बड़ी सफलता मिली। ७५ निर्वाचित सदस्यों में ५५ स्वराजदल के चुने गये। चित्तरंजन मेयर (अध्यक्ष) निर्वाचित हुए। तबसे आज तक बराबर कार्पोरेशन में राष्ट्रीय दल का बहुमत रहा है।

कलकत्ता-कार्पोरेशन पर अधिकार

पर इन सब संघर्षों में पड़कर चित्तरंजन अपनी वैष्णवता, अपनी आध्यात्मिकता भूलते जा रहे थे या यों कहना ज्यादा ठीक होगा कि उसे विकसित करने का समय उन्हें नहीं मिल रहा था। सत्य के सूर्य पर माया के बादल छा गये थे। १९१७ ई० में चित्तरंजन ने पश्चिमीय प्रणाली की औद्योगिकता के विरुद्ध ज़बर्दस्त आवाज उठाई थी और उसे 'हमारी संस्कृति का नाशक' बताया था पर समय-चक्र ने पश्चिमी प्रणाली पर व्यवस्थित सरकार के निरन्तर सम्पर्क एवं संघर्ष में आते रहने के कारण, सैद्धान्तिक नहीं तो व्यावहारिक रूप में ही, उन्हें समझौता करने को बाध्य किया। समय-चक्र ने ६ वर्ष के अन्दर ही पाश्चात्य उद्योगवाद के इस विरोध की प्रणाली में बहुत परिवर्तन कर दिया। १९२३-२४ तक तो वह व्यापार-संघ (ट्रेडयूनियन) के नेता हो गये। १९२१ ई० में बम्बई में पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई—१९२२ ई० में झरिया में दूसरी। यह पश्चिमी ढंग पर, मजूरों के संगठन का पहला प्रयत्न था। १९२३ ई० में लाहौर में जो अधिवेशन हुआ उसके अध्यक्ष चित्तरंजन ही थे। अपने भाषण में उन्होंने कारखानों

वक्र मार्ग पर

एवं उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में कानून बनाने की योजना रखी। दूसरे ही साल भारतीय धारा-सभा से 'मजूर-मुआवजा कानून' (Workmen's Compensation Act) पास हुआ। इससे कारखाने के मजूरों के कष्टों में तो कोई कमी नहीं हुई पर खतरे—चोट चपेट लग जाने, जल जाने अंग-भंग हो जाने,—की हालत में मुआवजा मिलने की किंचित व्यवस्था हुई। दूसरे साल फिर चित्तरंजन कलकत्ता अधिवेशन के सभापति हुए। किन्तु प्रत्येक आन्दोलन में फूट की जो अमर बेल फैलकर जीवन-सत्व के पौधों की जड़ को खोखला कर देती है, वही यहाँ भी फैली। ट्रेड यूनियन कांग्रेस में तब से जो दलबन्दी हुई वह, समझौता एवं सहयोग के अनेक प्रयत्नों के बीच भी, आजतक ज्यों-की-त्यों लहलहा रही है।

× × ×

तारकेश्वर सत्याग्रह

हुगली जिले में तारकेश्वर का प्रसिद्ध मन्दिर है। लाखों की सम्पत्ति इस मन्दिर के साथ लगी हुई है। इस मन्दिर की कुव्यवस्था एवं महन्त सतीशगिरि के असंयत जीवन के कारण १६२३ में हिन्दुओं में असन्तोष फैलने लगा। साल का अन्त होते-होते यह असन्तोष इतना प्रबल हो गया कि लोगों के ज़ोर देने एवं स्वामी विश्वानन्द के आग्रह से सत्याग्रह किया गया। यह १६२४ का आरम्भ था। बंगाल के विभिन्न जिलों से कितने ही छात्र आ-आकर महन्त के हाते में 'मदाखलत बेजा'—अनधिकार प्रवेश—सम्बन्धी कानून भंग करने के लिए सत्याग्रह आन्दोलन में शामिल होने लगे। ये सब, जिनमें चित्तरंजन का एक मात्र पुत्र चिररंजन भी था, गिरफ्तार करके जेल में ठूँस दिये गये। कई महीनों यह लड़ाई चली। अन्त में दोनों दलों में समझौता हुआ। इसके अनुसार महन्त सतीशगिरि अलग हो गये और सारी सम्पत्ति एक ट्रस्ट के अधीन करदी गई। पर कुछ ही दिनों बाद फिर अदालत में मामला गया। और एक सरकारी अफसर उसके प्रबन्ध के लिए नियुक्त हुआ।

पीछे, चित्तरंजन की मृत्यु के पश्चात्, जनवरी १६२६ में सतीशगिरि ने नीची अदालत के उस निर्णय के विरुद्ध, जिसके अनुसार प्रबन्ध सरकारी हाथों में चला गया था, हाईकोर्ट में अपील की। हाईकोर्ट ने फैसला दिया कि इस जायदाद का बहुत-सा हिस्सा सतीशगिरि का व्यक्तिगत है; मन्दिर का नहीं। फल स्वरूप जायदाद दो हिस्सों में बँट गई। एक के मालिक सतीशगिरि हुए; दूसरे का प्रबन्ध सरकारी हाथों में आया।

× × ×

नौकरशाही के साथ चित्तरंजन की मुठभेड़ और उससे उनकी विजय पर विजय, तारकेश्वर सत्याग्रह की सफलता तथा कलकत्ता कार्पोरेशन की विजय ने चित्तरंजन और स्वराजपार्टी को भारतीय राजनीति में अत्यन्त शक्तिमान बना दिया। इसी समय एक और घटना हो गई जिससे सरकार के प्रति बंगाल की हिन्दू जनता में घोर असन्तोष फैला और स्वराजदल के प्रति लोगों की सहानुभूति बढ़ गई। बात यह है कि फरीदपुर (बंगाल) ज़िले के मदारीपुर सब-डिवीज़न के अन्दर चारमनियार में १६२४ ई० के प्रारम्भ में दंगा हो गया। कहा जाता है कि इसमें महिलाओं के साथ पुलिस-द्वारा बड़ा बुरा व्यवहार किया गया और उनकी इज़्ज़त पर भी आक्रमण किया गया। यह इल्ज़ाम लगाने के कारण कांग्रेस-स्वराजदल का एक कार्यकर्ता गिरफ़्तार कर लिया गया और जब नवम्बर में ढाका में पुलिस दरबार हुआ तब गवर्नर लार्ड लिटन ने पुलिस की सफाई देते हुए कहा कि इल्ज़ाम झूठा है और कई स्त्रियों ने, पुलिस को लोगों की निगाह से गिराने के लिए, स्वयं अपने साथ ज़ोर जबर्दस्ती किये जाने की बात गढ़ ली है।

हिन्दू महिलाओं पर आक्षेप

यह बात बंगाल के मर्मस्थल पर जाकर लगी। सारे बंगाल में तूफ़ान आ गया। जो हिन्दू स्त्रियाँ अपने सतीत्व के लिए हँसते हँसते चिता में जल मरने को तैयार हो जाती हैं वे अपने सतीत्व पर झूठ-मूठ ही कलंक

का धब्बा लगाकर पुलिस पर झूठा इल्ज़ाम लगायँगी, इस कल्पना मात्र से हिन्दू-हृदय को कितना चोट लग सकती है यह लार्ड लिटन शायद न जानते थे। वे एक कल्पना-प्रधान उपन्यासकार के पोते थे इसलिए घटनापूर्ण कल्पना का संस्कार उनके अन्दर भी मौजूद था।

घोर असन्तोष

इस वक्तव्य के विरुद्ध बंगाल में स्थान-स्थान पर सभाएँ हुईं। कलकत्ता टाउनहाल के मैदान की सभा में इतनी भीड़ हुई कि छः स्थानों से भाषण करने पड़े। इस बात को लेकर जो असन्तोष फैला उसका अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता। समाचारपत्र कड़ी टिप्पणियों से भरे होते थे। अपनी ही बात कहूं; मैंने 'स्वदेश' में इस विषय पर दो कालम का छोटा सा पर कड़ा लेख लिखा जिस पर प्रांतीय सरकार को कड़ी चेतावनी देने की आवश्यकता मालूम पड़ी। इसी से उस समय के असन्तोष का अंदाज लगाया जा सकता है। जनता में इतना व्यापक असन्तोष देख सरकार घबराई। फल-स्वरूप लार्ड लिटन ने माफी माँगी और सफाई दी। इस घटना के कारण जो असन्तोष पैदा हुआ उसका उपयोग चित्तरंजन ने स्वराजदल की वृद्धि और उसके अनुकूल वातावरण तैयार करने में कर लिया।

इधर जनता में जो असन्तोष बढ़ रहा था उसके कारण फिर से क्रान्तिकारियों की शक्ति बढ़ने लगी। गांधीजी के प्रभाव एवं अहिंसा-त्मक आन्दोलन से वे दब-से गये थे पर इस समय असहयोग-आन्दोलन शिथिल हो गया था इसलिए फिर जगह जगह हिंसात्मक काण्ड होने लगे। १९२४ की जन-वरी में गोपीमोहन साहा नामक एक किशोर युवक ने मि० डे की हत्या की और ऐसा जोशीला और भाव-मय बयान दिया कि जनता में एक सनसनी फैल गई। क्रान्तिकारियों का ज़ोर बढ़ते देखकर, मूल कारणों को दूर न करके, सरकार ने अपनी चिर-परिचित दमन की लाठी

आर्डिनेंस का चक्र

सँभाली। अक्तूबर १६२४ ई० में वायसराय की स्वीकृति से बंगाल-सरकार ने आर्डिनेंस जारी किया। इसके अनुसार ८० प्रभावशाली युवक (जिनमें अधिकांश स्वराज-दल के थे), किसी अदालत के सामने अपराधी प्रमाणित हुए बिना ही नजरबन्द कर दिये गये। इनमें सुभाष वसु जैसे* चित्तरंजन के दाहिने हाथ भी थे। चित्तरंजन को समझते देर न लगी कि इसमें स्वराजदल की बढ़ती शक्ति को कुचलने का भाव भी काम कर रहा है। उन्होंने जोरों से इसका विरोध किया पर सरकार की यह नीति जारी रही और १६१५ ई० के अन्त तक नज़रबन्दों की संख्या २०० तक पहुँच गई।

पर इस दमन के कारण, जैसा कि इतिहास में सदा हुआ है, परिस्थिति सँभली नहीं। दिन-दिन वातावरण क्षुब्ध होता गया। इधर

चारों ओर से दमन

आर्डिनेंस का छः महीने का समयऽ समाप्त हो रहा था इसलिए बंगाल-सरकार के होम मेम्बर सर ह्यू स्टीफेंसन ने ७ जनवरी १६२५ को 'बंगाल क्रिमिनल-ला अमेण्डमेण्ट बिल' पेश किया। इस समय चित्तरंजन एवं स्वराज दल का ऐसा प्रभाव था कि सरकार के बहुत प्रयत्न करने पर भी बिल कौंसिल से पास न हो सका। पक्ष में ५७ पर विरोध में ६६ मत आये। किन्तु इससे क्या ? शासकों ने शासितों के भावों की रक्षा करना कब सीखा है ? गवर्नर लार्ड लिटन ने १८ जनवरी को अपने विशेषाधिकार से बिल को ५ वर्ष के लिए कानून के रूप में पास कर दिया।

बंगाल आर्डिनेंस में कुछ ऐसी धाराएँ थीं जिनका पास करना बंगाल कौंसिल के अधिकार के बाहर था—जैसे कलकत्ता हाईकोर्ट के अधिकार पर कुठाराघात। इसलिए भारत के गृहसचिव सर अलेकजेण्डर मुडीमन

---

*स्वास्थ्य की खराबी के कारण नये गवर्नर सर स्टेनली जैक्सन द्वारा १७ मई १९२७ को छोड़ दिये गये।

ऽ प्रत्येक आर्डिनेंस का अवधि छः मास की होती है।

ने २३ मार्च १९२५ को असेम्बली में एक बिल पेश किया। वहाँ भी सरकार की हार हुई; बिल पास नहीं हुआ पर राजपरिषद् और वायसराय की स्वीकृति से कानून बन गया।

इस प्रकार स्वराजदल पर चारों ओर से आक्रमण होने लगे। भारत और इङ्गलैण्ड में—दोनों जगह अधिकारियों-द्वारा उस पर इलज़ाम लगाया गया कि उसकी राजनीतिक हत्याओं से सहानुभूति है। इधर देशबंधु ने देखा कि क्रान्तिकारी आन्दोलन का ज़ोर बढ़ता जाता है। तब उन्होंने मार्च और अप्रैल १९२५ में ऐसे आन्दोलन के विरुद्ध साहस-पूर्वक दो निश्चित एवं दृढ़ वक्तव्य निकाले। २९ मार्च १९२५ को उन्होंने जो वक्तव्य निकाला उसमें अंग्रेज़ों एवं एंग्लो-इण्डियनों के मन से इस भ्रम को दूर करने की चेष्टा की कि स्वराजदल की राजनीतिक हत्याओं से कोई सहानुभूति है। उन्होंने सब तरह के हिंसाकाण्डों की निन्दा की और स्पष्ट रूप से कहा—

महत्वपूर्ण वक्तव्य

"मैंने इसे स्पष्ट कर दिया है और एक बार फिर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं सिद्धान्ततः ही राजनीतिक हत्या या किसी भी रूप और प्रकार में की गई हिंसा के विरुद्ध हूँ। यह मेरे और मेरे दल के लिए बिलकुल ही तिरस्करणीय है। मैं इसे देश के राजनीतिक विकास में बाधक मानता हूँ। यह हमारी धार्मिक शिक्षाओं के भी विरुद्ध है।

"व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि से भी मैं निश्चय-पूर्वक अनुभव करता हूँ कि यदि हमारे देश के राजनीतिक जीवन में हिंसा घुस गई तो यह सदा के लिए हमारे स्वराज्य के स्वप्न का अन्त कर देगी। इसलिए मैं उत्सुक हूँ कि यह बुराई ज्यादा न बढ़े और हमारे देश में राजनीतिक अस्त्र के रूप में इसका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय।"

देशबन्धु के इस वक्तव्य का अधिकारियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। तात्कालिक भारत-सचिव लार्ड बर्कनहेड ने इस वक्तव्य को गंभीरता-पूर्वक ग्रहण किया और इसे सहयोग के नवीन युग का सूत्रपात माना।

इसी प्रकार बाँकीपुर से निकाले गये दूसरे वक्तव्य में भी चित्तरंजन ने हिंसा की निन्दा की पर यह भी कहा कि सरकार की दमन-नीति एवं जनता पर होनेवाले अन्यायों के कारण ही हिंसावादियों को उत्तेजन मिलता है।

अन्तिम दिन

चित्तरंजन का हृदय आरम्भ से भक्तिमूलक था; शान्तिप्रिय था। परिस्थित एवं संस्कार ने उन्हें जीवन की हलचल में ला खड़ा किया था। वस्तुतः उनका स्थान महात्मा जी के बगल में था; हम दोनों में दयार्द्रता देखते हैं; दोनों में पाश्चात्य सभ्यता की बाढ़ से शुद्ध भारतीय संस्कृति को बचाने की इच्छा दिखाई पड़ती है। पर यह समता होकर भी दोनों दो दिशाओं में चले गये। कई बार मनुष्य अपने असली स्थान से हटकर ऐसी जगह चला जाता है जहाँ से निकल नहीं पाता। मोह के कारण भी और परिस्थिति के कारण भी चित्तरंजन के तूफानी, प्रबल प्रभंजन-तुल्य गतिमान स्वभाव के पीछे वैष्णव-शान्ति की जो अमृत निर्झरिणी छिपी थी वह जीवन के सूखे एवं निष्ठुर धरातल पर भी कभी-कभी प्रकट हो जाती थी। १९२४ तक चित्तरंजन अपनी विभूति एवं यश की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। उन्हें कभी-कभी आभास होता था कि अब मेरा काम हो गया; मृत्यु की छाया मेरे ऊपर पड़ रही है। यह ठीक है कि मनुष्य और उसके भविष्य के बीच एक ऐसा परदा है जिसको भेदकर उस पार के रहस्यों को स्पष्ट देख लेना असम्भव-सा है फिर भी जब हमारे जीवन का चक्र घूमते घूमते अन्त के अत्यन्त निकट आ जाता है तब कभी-कभी मानों हमारा सारा प्राण उसके स्पर्श से उद्वेलित होकर बोल उठता है। उस समय आगे क्या होनेवाला है, इसकी धुँधली झलक भी मिल जाती है।

आत्मा की प्यास

मनुष्य के मिश्रित स्वभाव में कभी एक और कभी दूसरी प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। यह वह समय था कि चित्तरंजन का हृदय शान्ति के लिए, भक्ति के लिए, देव के चरणों में सर्वस्व समर्पण के लिए छटपटाता था। जीवन-समुद्र में संघर्ष का, तेज का तूफानी ज्वार शान्त हो रहा था; दिन का प्रखर आतप फीका हो रहा था; बवण्डर शीतल मलय समीर की खोज में सिर धुनता था; संध्या की शान्ति—नीलिमा जीवन में फैलकर उसे ओत-प्रोत कर लेना चाहती थी। रात दिन की खटपट, विरोध, युद्ध और संघर्ष से चित्तरंजन ऊबने लगे थे। युद्ध और संघर्ष का एक काल होता है और वह जीवन का बहुमूल्य काल होता है—शायद सब से कीमती; क्योंकि इसी मन्थन में मानव-हृदय में छिपी अदृश्य शक्तियां बाहर प्रकट होती हैं। पर युद्ध और संघर्ष नित्य-जीवन नहीं हो सकते—जीवन के अंग हो सकते हैं। मनुष्य का हृदय सदा संघर्ष की आग पीकर जी नहीं सकता; उसे शान्ति के सोते का मीठा जल चाहिए। चित्तरंजन भी कुछ दिन शान्ति चाहते थे।

शान्ति की खोज

बेलगाँव कांग्रेस से लौटते हुए जब चित्तरंजन ३ जनवरी १९२५ ई० को कलकत्ता लौटे तो उनका स्वास्थ्य खराब हो गया था। डाक्टरों ने परीक्षा करके यह सन्देह प्रकट किया कि भोजन के विष (food poisoning) का असर शरीर में मालूम पड़ता है। धीरे धीरे बीमारी इतनी बढ़ी कि डाक्टरों की आज्ञा से कोई मिलने भी उनके पास न जा सकता था, न उनको ही बिस्तर से उठने की स्वतंत्रता थी।

स्वास्थ्य की खराबी

पर उनके पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ के पहले ही बंगाल कौंसिल की बैठक हुई जिसमें सरकार मन्त्रियों के वेतन का बजट पेश करना चाहती थी। देशबन्धु (चित्तरंजन) ने लोगों की इच्छा के विरुद्ध, न केवल अपने वोट का उपयोग करने के लिए वरन् बंगाल-सरकार को पटकान देने की

दृढ़ इच्छा से कौंसिल में जाना तै किया। उनके निवास-स्थान (भवानीपुर) से कौंसिल-भवन (टाउनहाल) प्रायः तीन मील दूर है। इतनी दूर वह स्ट्रेचर पर लेजाये गये। कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकार की बुरी तरह हार हुई।

इस घटना के कुछ दिन बाद एक ट्रस्ट बनाकर उन्होंने अपनी जो-कुछ सम्पत्ति बची थी वह भी भारतीय लड़कियों की डाक्टरी शिक्षा और महिलाओं के एक अस्पताल के लिए राष्ट्र को अर्पण कर दी। आज यह कलकत्ता में स्त्रियों के लिए सर्वोत्तम चिकित्सालय है। चित्तरंजन ने लाखों कमाये थे पर सब सार्वजनिक कार्यों में ही लगा दिया। जिस समय उन्होंने यह ट्रस्ट बनाया उनके पास केवल ३५ पैंतीस हजार रुपये बैंक में थे; और अन्तिम दिनों में तो वह गरीबी की सीमा पर पहुँच गये थे।

माता के चरणों में सर्वस्व अर्पण

× × ×

पहले इसकी चर्चा की जा चुकी है कि मार्च एवं अप्रैल १९२५ में क्रान्तिकारियों के कार्यों की निन्दा करते हुए चित्तरंजन ने दो वक्तव्य निकाले थे। क्रान्तिकारियों की इस खुली निन्दा से लार्ड बर्केनहेड ने चित्तरंजन की बड़ी प्रशंसा की और उन्हें सहयोग का निमन्त्रण दिया।

फरीदपुर कान्फ्रेंस से कुछ पहले की बात है। एक मित्र ने, जिनका सरकार पर भी कुछ प्रभाव था, चित्तरंजन, लार्ड लिटन (बंगाल के गवर्नर) और भारत सरकार के बीच समझौते की बात-चीत चलाई थी। आरम्भ में चित्तरंजन ने इधर कुछ ध्यान भी दिया। एक अंग्रेज महिला के निमन्त्रण पर वह बेलूर* के रामकृष्ण आश्रम में बंगाल के गवर्नर लार्ड लिटन से मिले। उस समय क्या बात-चीत हुई, क्या शर्तें दोनों तरफ से रखी गईं इसका कोई

कुछ बातें हुई थीं

* कलकत्ता से ४ मील दूर गंगा के दूसरे किनारे पर एक छोटा उप-नगर। यहाँ स्वामी विवेकानन्द की समाधि है।

लिखित या प्रामाणिक बयान इस समय प्राप्त नहीं है। कई कारणों से समझौते में सफलता न मिली। फिर भी चित्तरंजन इस आशा में रहे कि जल्द ही सरकार की तरफ से कुछ होगा। फरीदपुर कान्फ्रेंस में दूसरी मई को उन्होंने जो भाषण दिया उसकी 'स्पिरिट' से यह स्पष्ट था कि यदि सरकार सहयोग की भावना का क्रियात्मक उदाहरण रक्खे तो हमारी ओर से सहायता मिलने में उसे सन्देह करने का कोई कारण नहीं। मरते दम तक उन्हें यह विश्वास रहा कि लार्ड बर्केनहेड के द्वारा भारत का कुछ हित होगा। लार्ड बर्केनहेड का सच्चा स्वरूप वह जान न सके थे।

फरीदपुर कान्फ्रेंस में ही उनके इस नूतन भाव एवं व्यवहार का, जिसमें एक ओर क्रान्तिकारियों की निन्दा थी और दूसरी ओर सरकार से कुछ शर्तों पर सहयोग की आकांक्षा झलक रही थी, कुछ साथियों एवं प्रतिनिधियों ने बड़ा विरोध किया। ऐसा मालूम होने लगा था कि स्वराजदल और उसके नेता में गहरा मत-भेद उपस्थित होने का समय आ गया है। इन संघर्षों से उनका हृदय सन्तुष्ट न था। दिन-दिन स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था। फरीदपुर में ही उनकी तबियत खराब हुई; ज्वर आ गया। वहाँ से कलकत्ता आये। वहाँ डाक्टरों ने जाँच करके सलाह दी कि स्वास्थ्य बहुत गिर गया है इसलिए कुछ महीने युरोप के किसी स्वास्थ्यप्रद स्थान में जाकर रहना चाहिए पर चित्तरंजन ने यह सोचकर कि इस समय युरोप जाने का गलत अर्थ लगाया जायगा, यह विचार त्याग दिया। इसके बाद उन्होंने शिलांग या उटकमण्ड जाकर रहने की बात सोची पर अन्त में, डाक्टरों की इच्छा के विरुद्ध, उन्होंने दार्जिलिंग जाना तै किया।

दार्जिलिंग में

जब मनुष्य में शान्ति की इच्छा जाग्रत होती है तब आध्यात्मिक प्रेरणाएँ भी प्रबल होने लगती हैं। चित्तरंजन के साथ भी यही हुआ; उनमें भी आध्यात्मिक भावनाएँ बढ़ रही थीं। उन्होंने अनुकूलचन्द्र भट्टाचार्य नामक एक सज्जन

को अपना गुरु भी बनाया था। दार्जिलिंग आने के पूर्व उनसे मिलने गये और १६ मई को अपनी पत्नी के साथ 'स्टेप एसाइड' (दार्जिलिंग का एक बँगला) में पहुँचे। यहाँ आने के बाद ही रोज़ वह दूर-दूर तक टहलने के लिए निकलते। ऊपर से स्वास्थ्य अच्छा मालूम पड़ता था पर भीतर ही भीतर शरीर खोखला होता जा रहा था। धीरे-धीरे ज्वर आने लगा और उसका एक निश्चित रूप बन गया। इस समय उनके मन में मुख्यतया दो इच्छाएँ थीं। एक तो वह इस भ्रम में थे कि यहाँ कुछ दिन रहने से मेरे स्वास्थ्य पर बड़ा अच्छा असर पड़ा है इसलिए यदि कोई उपयुक्त छोटा मकान मिल जाय तो शेष जीवन जगत् के कोलाहल से दूर रहकर यहाँ बितावें। एक मकान पसन्द भी कर लिया गया था।

अप्रेल में भारत-सचिव लार्ड बर्कनहेड के निमन्त्रण पर तत्कालीन वायसराय लार्ड रीडिंग इंग्लैण्ड गये। इससे चित्तरंजन ने अनुमान लगाया कि भारत को अधिकार देने के विषय में जल्द ही कुछ निर्णय होनेवाला है और इसमें मुझसे भी अवश्य राय ली जायगी पर जब कुछ न हुआ तो बड़ी निराशा हुई। स्वास्थ्य की खराबी के बीच यह निराशा भी उनके लिए घातक हुई।

इस समय तक उनमें संघर्ष का भाव बिलकुल दब गया था। उनमें यह इच्छा भी बलवती हो चुकी थी कि सब दलों को मिलकर विचार एवं कार्य करना चाहिए और इसको क्रियात्मक रूप देने के लिए वह स्वयं राजनीतिक क्षेत्र से अलग तक हो जाने को तैयार थे। जून के आरम्भ में महात्मा गांधी उनसे मिलने आये और कई दिनों तक दोनों में स्वराज्य-दल के भविष्य, कांग्रेस तथा असहयोग-आन्दोलन के सम्बन्ध में बातें हुईं। अपने 'कामनवेल्थ ऑव इण्डिया बिल' के विषय में सलाह लेने के लिए श्रीमती बेसेण्ट भी पधारीं। दो दिन के सलाह-मशविरे के बाद चित्तरंजन ने बिल

महात्माजी का आगमन

का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। क्योंकि जबतक कांग्रेस का निर्णय न मालूम होता, इस विषय में अपने को किसी प्रकार के वचन में बाँध लेना वह ठीक न समझते थे।

वह दार्जिलिंग विश्राम के लिए गये थे पर देश की राजनीतिक दुरवस्था उनके दिमाग़ में सदा फिरती रहती थी इसलिए वहाँ भी मानसिक शान्ति उन्हें न मिली और फल-स्वरूप स्वास्थ्य दिन-दिन खराब ही होता गया।

ज्यों-ज्यों जीवन की अवधि समाप्ति पर आ रही थी चित्तरंजन का स्वभाव बदलता जाता था। जिन लोगों ने उन्हें अन्तिम दिनों में देखा, उनका कहना है कि पहले का वह तूफानी स्वभाव—वह संघर्ष एवं विजय की आकांक्षा, वह शत्रु को, विरोधी को पटकान देने, नीचे गिराने कीवीर भावना उनमें से बिलकुल दूर हो गई थी। जिनके प्रति उनके मन में कटुता के भाव थे, उनके प्रति सहानुभूति के भावों का उदय हो गया और उनके स्वभाव में एक प्रकार की अप्रतिम मधुरता आ गई थी। अपने विरोधियों की भी वे निन्दा न करते थे बल्कि उनका बखान करते थे।

परिवर्तन

× × ×

बुखार बीच-बीच में आता रहता था। अन्त में नियमित रूप से साप्ताहिक ज्वर आने लगा। रविवार १४ जून को उन्हें बुखार आया। सोमवार की सुबह तक टेम्परेचर (शरीर का तापमान) बहुत बढ़ गया और सारे दिन वह दर्द से बेचैन रहे। मंगलवार के प्रातःकाल बुखार दूर हो गया पर टेम्परेचर गिरने के साथ-साथ नाड़ी भी डूबने लगी। एक बजे दिन के बाद दिल डूबने लगा और वह बेहोश हो गये। ५ बजकर १५ मिनट पर यह शरीर छोड़ महाप्रयाण कर गये।

महाप्रयाण

ज्योंही नगर में यह समाचार फैला, लोग झुण्ड के झुण्ड इस महान् भारतीय के शरीर के अन्तिम दर्शन के लिए आने लगे। आधी रात तक दर्शकों का ताँता लगा रहा। सभी श्रेणी के लोग आये लोगों की आँखें भरी हुई थीं; मुँह बंद।

सनसनी

बुधवार को सात बजे सुबह शव सजाकर स्टेशन पहुँचाया गया। ६ बजने के कुछ पहले उसे एक पार्सल के डिब्बे में रखा गया क्योंकि साधारण मुसाफिरों के डिब्बों में रखने को जगह न थी। दार्जिलिंग से कलकत्ता तक प्रत्येक स्टेशन पर दर्शनार्थियों की ज़बर्दस्त भीड़ हुई। स्यालदा स्टेशन पर तो ऐसा मालूम पड़ता था मानो मनुष्यों का सागर लहरा रहा है। शव बाहर लाया गया और दो मील से भी अधिक लम्बा जुलूस साथ चला। नगर निवासी अपने नगर-पति एवं हृदय के अधिपति के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट कर रहे थे। गांधीजी आगे-आगे थे; उनके पीछे लगभग ३ तीन लाख स्त्री पुरुष थे। जुलूस को श्मशान-घाट तक पहुँचने में छः घण्टे लगे और चार बजे सायंकाल, जब पानी बरस रहा था और सम्पूर्ण देश के ओठों पर प्रार्थना, आँखों में कातरता एवं दिल में वेदना थी, शव-संस्कार हुआ।

सब बाज़ार, कोठियाँ, आफ़िस, स्कूल कालेज, थियेटर-सिनेमा (भारतीय प्रबंध) बन्द थे और ब्रिटिश साम्राज्य की दूसरी महानगरी एक हिन्दू विधवा-सी बिलख रही थी, जिसका सर्वस्व लुट चुका था।

—तीन—

अध्ययन-विश्लेषण

चित्तरंजन के जीवन को देखते हैं तो कैसा एक मालूम होता है! वह विद्रोह के पुरोहित थे। वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विद्रोही रहे; उन्होंने सदा स्वप्न देखे,—पर उन्हें पूरा भी किया। केवल स्वप्न की झाँकियों से ही सन्तुष्ट होनेवाले वह न थे। स्वप्न देखना और फिर उसके पीछे जी जान से पड़ जाना—यह उनका स्वभाव था। एक की पूर्ति के बाद दूसरा;—यह क्रम चलता। इस महापुरुष के मन में एक ओर विद्रोह और दूसरी ओर युद्ध में मज़ा पानेवाली सैनिकता बसी हुई थी। वर्तमान कुरीतियों के प्रति उनके हृदय में प्रबल रोष था। यह व्यक्ति समाज की परम्पराओं की मूर्तियों को तोड़ता, लड़ता, तर्क करता, आनन्द लूटता और लुटाता हुआ, एक अजीब मस्ती के साथ हमारे राष्ट्रीय क्षितिज पर दिखाई दिया। उसमें कार्यशक्ति अद्भुत् थी—वह महाप्राण था। जबतक रहा कभी सुस्त, दुखी, निराश नहीं। जैसे आशा का एक प्रबल स्रोत, बंगाल की तूफ़ानी ज़मीन से फूट पड़ा हो,—जो जिधर उमड़ पड़ा उसी को भिगो देना चाहता है, डुबा देने को उत्सुक है!

विद्रोही

नीवँ की जाँच-पड़ताल कौन करता है? कठिन काम है। लोग ऊपर खड़ा महल, उसकी सजावट और आकर्षण देखते हैं। संभव है नीवँ गन्दी हो पर महल अपनी भव्यता से संसार को चक्कर में डाल दे। जहाँ प्रचार और सजावट का बोलबाला हो वहाँ मनुष्य की बुद्धि भ्रम में पड़ जाय तो क्या बात? पर चित्तरंजन के व्यक्तित्व की नीवँ देखना ही चाहें,—और जब ध्यान आ गया तो मन बिना देखे कैसे माने?—तो देखने के

बाद कहना पड़ेगा कि वह उनके ऊपरी जीवन से कम नहीं, शायद अधिक ही, भव्य है। उसमें कूट-कूटकर उदार हृदय की, विशाल हृदय की मानवता भरी गई है। एक ब्राह्म की संस्कृति और विद्रोह, एक वैष्णव का सर्वग्राही प्रेम उनमें जोड़-जोड़ कर बैठाया गया है। फिर एक युवक का कठिनाइयों को दमन कर ऊपर उठने का उल्लास उसमें प्रकाशित है। ये तीन धाराएँ इस महाप्राण पुरुष के जीवन में त्रिवेणी की तरह मिली हुई हैं। किसी ने देशबन्धु को यथार्थवादी (Realist) के रूप में देखा; किसी ने वैष्णव रूप में; किसी ने विद्रोही वीर सैनिक के रूप में। पर यह उस चीज के टुकड़े हैं; इन्हें अलग-अलग कर देने और अलग अलग देखने से वह चीज नहीं बनती जिसका नाम चित्तरंजन था। यह तो हाथी की सूँड़ है या पाँव, या पूँछ; हाथी नहीं है। चित्तरंजन का दिमाग, दिल और शरीर तीनों तीन धाराएँ लेकर भी एक में ऐसे मिल गये हैं कि उन्हें अलग करके देखने में कुछ रह नहीं जाता,—रह भी जाता है तो सम्पूर्ण के सामने वह न रहने के ही समान है।

ये तो उस चीज़ के टुकड़े हैं!

एक में मिलाकर,—टुकड़ों को नहीं, सम्पूर्ण को देखने से ही असली व्यक्ति को हम पाते हैं। जन्म के ब्राह्म, दिल के वैष्णव और शरीर के क्षत्रिय चित्तरंजन को इस प्रकार देखने से ही हम उन्हें देख सकते हैं। किशोरावस्था में ही उन्होंने ब्रह्मसमाज की अनेक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह किया। महापुरुष—महाप्राण कभी बंधनों में सम्प्रदाय की संकुचित सीमा में बँधकर रह नहीं सकता। यह वह सोता है जो फूटकर अबाध गति से बहना और सब को जल देना चाहता है। अपनी लड़कियों की शादी उन्होंने जातिबन्धन तोड़कर की—और इसी शादी में, तथा बाद में, माता-पिता के श्राद्ध में, हिन्दू रीतियों का पालन किया। जहाँ जो अच्छा देखा, ले लिया। जहाँ अन्याय है, वहाँ विद्रोह भी है। एक मूर्तिभञ्जक

ब्राह्मण, वैष्णव और क्षत्रिय

की भाँति वह गदा लिये कुरीतियों की, अन्याय की मूर्तियों पर प्रहार करते फिरते थे। उनका सारा जीवन विश्राम-हीन विद्रोह की गति से ओतप्रोत है। यह वह नाव है जो संसार-सागरमें किसी घाट पर रुकना नहीं चाहती।

× × ×

यह कहा ही जा चुका है कि चित्तरंजन के जीवन में तीन अलग धाराएँ मिली दिखाई देती हैं। उन तीन धाराओं को पहले अलग अलग देख लें और फिर इस सहारे से त्रिवेणी के पूरे रूप को—एक में मिलाकर, एक करके और एक होकर देखें।

यथार्थवादी

पहले हम उन्हें उनके यथार्थवादी रूप में लेते हैं। बंगाल के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री विनयकुमार सरकार ने बड़े यत्न से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि चित्तरंजन का यथार्थवादी रूप ही उनका असली रूप है—भावुकता इत्यादि उसमें गौण हैं। कानूनी दाँव पेंच में निपुण एक वकील की शुद्ध तर्कना, यथार्थ संसार को ठोस रूप में देखने की शक्ति और व्यापारी का व्यवहार-ज्ञान ही, उनकी दृष्टि से, चित्तरंजन की विशेषता है और इसीलिए उन्होंने सफलता प्राप्त की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि असहयोग-आन्दोलन के उत्तरार्द्ध—१९२३—में उनमें वकील की तर्कना प्रबल हो उठी थी; वह निर्दय की भाँति तर्क करते और भावों के टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे। रासायनिक का विश्लेषण मनुष्य की परख की कसौटी बन गया था। तर्कना की आँधी में भावों के बादल फटे जा रहे हैं; देशबन्धु मानो भावुकता के पीछे कोड़ा लिये उसे फटकारते, भगाते चले जा रहे हैं। जो व्यक्ति कलकत्ता विश्वविद्यालय को तोड़ने और आशुतोष मुकर्जी जैसे दाँव पेंच विशेषज्ञ से लोहा लेने के स्वप्न देखता था और जिसके मुँह से माँ की पुकार सुनकर शत शत युवक—प्रोफेसर, विद्यार्थी, वकील—आकर राष्ट्रीय पताका के नीचे खड़े हो गये थे; जिसने स्वयं अपनी उस

वकालत, जिसके वह एकच्छत्र शासक हो सकते थे और जो सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी के समान क़ीमती हो सकती थी, पर लात मार दी, वही चित्तरंजन, बंगाल का वही महाप्राण महापुरुष जब त्रिविध बहिष्कार आन्दोलन को शिथिल होता देखता है तब निर्दय न्यायाधीश की भाँति तर्क करता है—तर्क, जिसमें उसका दिमाग़ चिल्लाकर प्रश्न करना चाहता है—"यह त्रिविध बहिष्कार का प्रस्ताव इतना पवित्र क्यों है कि कोई काँग्रेस इसके एक शब्द को हाथ नहीं लगा सकती? मैं आप से देश की परिस्थिति की ओर देखने की प्रार्थना करता हूं। एक तथ्य सैकड़ों पाठ से बढ़कर है। काँग्रेस-मंच से पेश किये गये सैकड़ों प्रस्तावों की अपेक्षा तथ्य—घटनाएँ—facts—अधिक भाव-व्यंजक हैं।"*

\+ \+ \+

कैसा निर्दय प्रहार! और यहीं तक नहीं—आगे और भी, एक कुशल आक्रमणकारी की भाँति प्रहार पर प्रहार—"वह किस प्रकार का असहयोग है जो आज आप कर भी रहे हैं, केवल कह नहीं रहे हैं?" यह कहने और करने का अन्तर बड़ा चोटीला, बड़ा दुखद है। उस दुःख की कहानी फिर लो—"त्रिविध बहिष्कार क्या है?" वह पूछता है और वही उत्तर देता है—"अदालतों का बहिष्कार? आह! अदालतें फूल फल रही हैं—एक हरे भरे वृक्ष की भाँति फूल-फल रही है ....मुझे भय है कि आपके काग़ज़ी प्रस्तावों की हर साल की इस पुनरावृत्ति के होते हुए भी ये निगोड़ी इसी तरह फलती फूलती जायँगी।.........इसके बाद, आप स्कूल-कालेजों का बायकाट—बहिष्कार—करने को कहते हैं—पर स्कूल-कालेज भरे हुए हैं! ....तीसरी बात है कौंसिलों का बहिष्कार! पर वह देखो, कौंसिल—और असेम्बली भी—पूरी तरह भरी हुई है!" ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है वह तर्क और निर्दय होता जाता है—"पर हम 'अक्लमन्द' इन कौंसिलों में न जायँगे बल्कि कहेंगे—'ओह! हमने त्रिविध बहिष्कार

*मद्रास; १६२३ ई०

पूरा कर लिया।' इस तरह हम अपने सीने फुला लेते हैं, संतुष्ट हो जाते हैं और फिर भी रहते हैं!"

यहाँ कवि चित्तरंजन नहीं, वैष्णव चित्तरंजन नहीं, भक्त चित्तरंजन नहीं—देश-भक्त चित्तरंजन भी नहीं, केवल तार्किक चित्तरंजन है। केवल दिमाग़ बोल रहा है और दिमाग़ से बोल रहा है! एक पक्का वकील, फ़ैकैत, विजय पर तुला हुआ तार्किक प्रहार करता है—"आप सविनय-अवज्ञा की बात कहते हैं? किन्तु यदि आज आप सविनय अवज्ञा-आंदोलन शुरू करें तो वह पैदा होने के पहले ही मर जायगा। आप पूछते हैं 'क्यों?' मैं कहता हूं—"आप सविनय-अवज्ञा को ढाल—मैनुफैक्चर—नहीं सकते!" कैसे घातक शब्द हैं! पैने छुरे के समान कलेजे तक घुसने वाले! दया नहीं, भावोद्रेक नहीं, कम्पन नहीं,—यहाँ बस प्रहार है; कटु तथ्य है। जैसे तर्क सब पर छा जाना चाहता हो।—"आप चाहें तो सोच सकते हैं कि हमने काग़ज़ पर तो कौंसिलों का बहिष्कार कर ही दिया, इसलिए कौंसिलों में न जायँगे। इसी तरह आइए, हम जनता का जोश बनाये रखने के लिए, सविनय-अवज्ञा, सविनय-अवज्ञा, सविनय-अवज्ञा की रट—जप—लगादें।" श्रोता हँस देते हैं—बस आक्रमणकारी ने आधा मैदान मार लिया!

पर ज्यों-ज्यों विजय का भाव—उल्लास तीव्रतर होता है, प्रहार की भीषणता, व्यंग की निर्दयता बढ़ती जाती है—"सविनय अवज्ञा अप्रैल के अन्त से जून के अन्त तक स्थगित कर दी गई है। मैं एतराज़ नहीं करता क्योंकि मैं जानता हूं कि जून के अन्त में यह फिर दिसम्बर के लिए स्थगित हो जायगी और यदि कट्टरपन्थियों के विचार इसी तरह जारी रहे तो दिसम्बर के अन्त में फिर मार्च के लिए स्थगित हो जायगी और फिर तीन महीने के लिए और तीन महीने के लिए ....।"

इन बातों को देखते हुए हम कैसे सन्देह कैसे करें कि स्वराज्य दल के आरम्भकाल में चित्तरंजन यथार्थवादी के रूप में सामने आते थे। पर

किसी तरह करें, यह सन्देह तो उठता ही है कि क्या यह यथार्थवादी रूप ही उनका यथार्थ रूप था ? और क्या उससमय भी उनमें यथार्थवादी प्रधान था ? नहीं; सच बात तो यह है कि चित्तरंजन कभी तत्ववेत्ता—दार्शनिक, 'फ़िलासफ़र'—न रहे। वह एक कर्मयोगी भक्त थे। उनमें कार्य करने की जो अप्रतिम शक्ति थी और जो केवल पाँच वर्षों (जेल का समय निकाल दें तो और कम) में भागीरथी की अगणित धाराओं की भाँति बंग-भूमि और उसके द्वारा समग्र भारत में, जहाँ देखो तहाँ, अपना प्रभाव और छाप लेकर फैल गई, उसका दूसरा उदाहरण आधुनिक भारतीय राजनीति के इतिहास में नहीं है। पाँच वर्ष में एक महापुरुष इस प्रकार आँधी की भाँति आकर हमारे मानस-क्षितिज पर छा गया, यह एक आश्चर्य की घटना है। पर यह तो हम दूसरी ओर जा रहे हैं; बात चल रही थी यथार्थ-वादी की। हाँ, तो चित्तरञ्जन के इस यथार्थवाद के पीछे क्या शुद्ध तर्क है—कोरा वकील बोल रहा है ? नहीं, इसमें भी एक कर्मयोगी का अनुभव, एक भक्त की व्यथा बोल रही—चीख रही है। ऊपर के भाषण को ध्यान से पढ़िए। उसमें शरीर तो है ही पर सब मिलाकर देख सकें तो देखिए उसमें एक प्राण भी है। चित्तरंजन विद्रोही योद्धा थे, शब्द-जगत् उन्हें सन्तुष्ट न कर सकता था। यदि असहयोग का आदर्श पूर्ण हो चला होता, यदि अदालतें खाली हो गई होतीं, स्कूल उजड़ गये होते तो चित्तरंजन शायद सब से पहले व्यक्ति होते जिनका हृदय प्रफुल्लित हो जाता पर वैसा नहीं हो सका। आदर्श नाम की जो चीज़ है, उसे केवल काग़ज़ पर लिखी चीज़ समझकर वह सन्तोष न पा सकते थे। महात्माजी की गिरफ़्तारी के बाद उस समय के नेतागण विक्षिप्त की नाईं घूमते रहे, जनता को कोई मार्ग न दिखा सके। आन्दोलन शिथिल हो गया। जेल से आकर चित्तरंजन ने देखा और निश्चय किया कि परिस्थिति की ओर

कर्मयोगी भक्त

इस यथार्थवाद के पीछे भी देखो !

आँखें बन्द करके चलने से न होगा। वह सेनानायक योद्धा थे जो समय के अनुसार हाथ बदलकर वार करता है और अपनी दाँव-कुशलता से विपक्षी को चकित, स्तंभित एवं परास्त कर देता है। महात्माजी के अलावा इस आन्दोलन का 'टेकनीक' किसी को मालूम न था इसलिए यहाँ कोरा वाग्युद्ध रह गया था,—इस में चित्तरंजन को शान्ति नहीं मिलती थी। इस सूने जीवन-हीन आदर्श-मोह की अपेक्षा कौंसिलों का वह झूठा थियेटर, जो युद्ध-कला से जगमगाकर जीवनमय हो सकता है; जहाँ दो-दो हाथ हो जाने, ज़ोर आज़माने का मौक़ा है, उन्हें ज्यादा 'अपील' कर गया। आदर्श शब्द-जगत् की अपेक्षा लोगों को व्यावहारिक कर्म-जगत् में खींच लाने की भावना इस भाषण के प्रत्येक शब्द के पीछे है।

शक्ति का स्रोत कहाँ है ?

दूसरी बात यह कि चित्तरंजन के उत्साह का, कार्य शक्ति का स्रोत क्या? योद्धा का, युद्ध में मिलने वाला, आनन्द। खतरे को वह प्यार करते थे। जहाँ खतरा है, जहाँ संघर्ष है वहाँ उनकी विजय करने की आकांक्षा तीव्र और तीव्रतर होकर प्रकट होती थी—वहाँ वह आँधी थे। पर बादल फटे, विजय हुई, सूर्य निकला और उनका प्राणोन्मेष शिथिल हुआ। संघर्ष के पूर्व के तेजस्वी चित्तरंजन के सामने विजयी चित्तरंजन मुर्दा था। यह भावुक राजपूत की वीरता थी। उनके बाद जवाहरलाल और वल्लभभाई दो ही ऐसे निकले जिनमें यह बात दिखाई दी। जवाहरलाल ने ठीक कहा था कि 'जबतक युद्ध चलता है, लड़ाई हो रही है तब तक मैं अनुभव करता हूं कि मेरी नाड़ियों में खून बह रहा है।' छोटे से राजनीतिक जीवन से मध्याह्नकाल में चित्तरंजन के लिए भी यही बात थी। उनका प्रेम, उनकी वैष्णव भावुकता युद्ध के समय अगणित प्राणियों में बंधुत्व पाकर—अपने प्राण को फैलाकर, जीवनमय हो उठती थी। शान्ति हो जाने पर, साधारण स्थिति में, वह स्वाद नहीं; एक भारतीय की भारतीयता प्रकट करने का वह अवसर नहीं। जहाँ विरोधी तनकर खड़े हों

जहाँ मोर्चेबन्दी हो रही हो, जहाँ आस्तीनें चढ़ाई जा रही हों वहाँ देखो—चित्तरंजन का योद्धा रूप। गया (दिसम्बर १६२२ ई०) में यह रूप न था;—मानो तबतक योद्धा चित्तरंजन का जन्म ही न हुआ था। पर गया कांग्रेस की उनकी हार ने उन्हें जीवन दे दिया। कुछ ही महीनों के अन्दर, मद्रास में (१६२३ ई०) में उनको हम पूर्ण-विकसित योद्धा रूप में देखते हैं। कारण? कारण है—गया में वह राष्ट्र के देवता थे, पूजा की चीज़ थे; मद्रास में सैनिक थे। मद्रास में विजय करनी थी। एक से एक सेनापति सामने खड़े थे। दिल बढ़ गया। यहाँ हम चित्तरंजन का वीर, उद्बुद्ध, प्राणमय, विजयोन्मुख, लड़ाकू और न झुकने वाला पुरुषार्थ देखते हैं जैसे विरोधी दल को टुकड़े-टुकड़े कर देने को वह आ खड़ा हुआ हो—जैसे एक आँधी हो जो अपने मार्ग की प्रत्येक बाधा को पीस डालना चाहती है। चित्तरंजन के समग्र जीवन में यह बात ओतप्रोत है। जहाँ अधिक से अधिक कठिनाइयाँ हैं वहीं उनका सर्वोत्तम योद्धा रूप है। लड़ने पर उद्यत चित्तरंजन एक पुरुष है—एक देव; जिसे आँखें देखना चाहती हैं। यह अखाड़े में उतरे पहलवान का रूप है जो आशा से भरा है; छाती फूल रही है, नथने हिल रहे हैं, आँखें ज्वालामयी हो रही हैं—'आँख' बन गई हैं; जिसकी एक-एक नस लोहा लेने को फड़क रही है और विजयी चित्तरंजन एक प्राण-हीन ढेर के समान है।*

चित्तरंजन दार्शनिक—तत्ववेत्ता, फिलासफर—की अपेक्षा योद्धा अधिक थे। इसी के कारण कभी कभी वह यथार्थवादी रूप में प्रकट होते थे। यह हुआ उनका एक रूप।

*प्रा० विनयकुमार सरकार ने अपने लेख (Chittranjan And Young) में ठीक लिखा है—"..........Chittranjan militant is a man, a giant, a devil incarnate, a sight for the gods. But Chittranjan triumphant is a pigmy."

पर जब हम ज़रा और गहरे पानी में पैठते हैं तो कुछ और हाथ आता है। तब ज्यादा असली रूप की झलक मिलती है। इसलिए यह कहने में हिचकिचाने की कोई जरूरत नहीं कि उनका दूसरा और ज्यादा असली रूप वह है जो उनके जीवन में सदा व्यक्त होता रहा। यह वैष्णव की द्रवणशीलता है—सर्वग्राही प्रेम है। ब्रह्मसमाज ने हिन्दू को जो एक नया रूप दिया, उसकी अच्छाइयाँ लेकर यह पौधा बढ़ा था। आगे वैष्णव-प्रेम का प्रकाश पाकर वह फूलों से भर गया। यह प्रेम ही देश के साथ देशभक्ति के रूप में, साहित्य के साथ कविता के रूप में और ग़रीब-दुखियों के साथ सेवा के रूप में व्यक्त हुआ। चित्तरंजन जिस चीज़ को प्यार करते थे, हृदय से करते थे। क्या उनका देशप्रेम एक यथार्थ-वादी व्यावहारिक राजनीतिज्ञ का देश-प्रेम था? यह ठीक है कि उन्होंने पश्चिम के ढंग पर भारत में सब से पहला और सुसंगठित पार्लमेण्टरी दल—स्वराज दल—का संगठन किया पर सच पूछें तो यह उनका असली क्षेत्र न था। इसमें चौंकने की बात नहीं है। इस क्षेत्र में भी उन्होंने अद्भुत सफलता पाई—केवल इसलिए कि उनमें जो महाप्राणता, जो तेज था, वह जिधर झुका, उधर ही ले बीता—उधर ही विजय हुई। पर कौन कह सकता है कि यदि वह कुछ वर्ष और जीवित रहते तो उनका वैष्णव रूप राजनीति में भी खिल न उठता। और अपने तईं तो मैं अब भी यही मानता हूँ कि उन्होंने जो एक नये दल का संगठन किया वह इसीलिए कि वह निराशा और अकर्मण्यता के भाटे में रह न सकते थे; रहने तो यह उनके लिए बड़ा भारी बोझ हो जाता; उनकी जीवनी-शक्ति क्षीण हो जाती। उन्हें जीवन में सदा ज्वार चाहिए था। वह ज्वार जबतक असहयोग में रहा वह उसकी अगली पंक्ति में रहे; जब उसमें शिथिलता आई और परिस्थिति ऐसी हो गई कि उसका वैसा ही रूप तत्काल न बन सका तो उस अवस्था में जो हो सकता था, उसे खोज निकाला।

जल और
गहराई में

राजनीति में देशबंधु—चित्तरंजन—को केवल एक धुन थी और वह थी—'भारतशासन क़ानून' (गवर्नमेण्ट ऑव् इण्डिया ऐक्ट) को छिन्न भिन्न कर देना। जब शरीर चारों ओर रस्सियों से कस और जकड़ लिया गया हो तो हमें उस बन्धन को तोड़कर अपना करतब दिखाने में विशेष आनन्द आता है। यह मानव हृदय का मनोवैज्ञानिक झुकाव है। रस्सियों में जकड़ा हुआ नट जब बाहर निकल आता है तब हम अपने हृदय का सारा विस्मय आँखों में भरकर उसकी ओर देखते हैं। सरकार ने कौंसिलों को क़ानूनी दाँव-पेंच से जकड़ रखा था। उसके अंदर भी अपनी श्रेष्ठतर बुद्धि से दो-दो हाथ हो जाय, इस भाव से चित्तरंजन इधर प्रेरित हुए। पर उनका देश-प्रेम अगाध था। वह मातृभूमि को एक वैष्णव भक्त की तरह चाहते थे; उनके लिए वह एक भौगोलिक सीमा नहीं, एक जीवित वस्तु थी। उनका हृदय स्वतंत्रता के लिए वैसे ही छटपटाता था जैसे एक विरहिणी ब्रजांगना, भारतीय साहित्य में, कृष्ण के लिए तड़पती रही है। जिस हृदय से ये—नीचे देखिये—वाक्य निकले हों उसे शुद्ध यथार्थवादी—'रियलिस्ट'—के रूप में देखने का दावा कौन कर सकता है ?—

एक धुन

"I have loved this land of mine with all my heart, from childhood; in manhood, through all my manifold weakness, unfitness and poverty of soul. I have striven to keep alive its image in my heart; and to day, on the threshold of age, that image has become truer and clearer than ever."

('बचपन से ही मैंने अपने इस देश को अपने सम्पूर्ण हृदय से प्रेम किया है; मैंने उसे यौवनकाल में अपनी विविध दुर्बलताओं, अयोग्यता और आत्मा के दैन्य के बीच प्यार किया है। मैंने अपने हृदय में उसकी मूर्ति जीवित—जाग्रत रखने की सदा चेष्टा की है, और आज, आयु की

देहली पर वह मूर्ति सर्वाधिक सत्य और स्पष्टतर हो गई है।"

× × ×

दो धाराओं का संघर्ष

एक ओर भक्ति-विह्वलता और दूसरी ओर वकील की तर्कना और व्यवहार बुद्धि इन दोनों का संघर्ष, चित्तरंजन के जीवन में बड़ा मनोरंजक है। इसीलिए अनेक स्थानों पर वह सीधा रास्ता छोड़कर टेढ़े-मेढ़े मार्ग से चलते दिखाई देते हैं। वह नौकरशाही शासन के कट्टर विरोधी थे, किन्तु साथ ही पाश्चात्य पार्लमेण्टरी संस्थाओं के अन्ध समर्थक भी न थे। वह एक 'डेमोक्रेट' (प्रजातन्त्रवादी) थे, किन्तु वर्तमान प्रजातंत्र के सिद्धान्तों की अनिवार्यता को स्वीकार न करते थे। शिक्षा और संस्कार दोनों दृष्टियों से उनका स्वभाव एक अनियन्त्रित मनुष्य—'आटोक्रेट'—का स्वभाव था। इसीलिए वह अपनी आलोचना सहन न कर सकते थे, न उस आदमी को क्षमा कर सकते थे जो उनके अधिकार और पद-मर्यादा का विरोध करता था। गांधीजी के हृदय की उदारता उनमें नहीं थी, जो अत्यन्त स्वाभाविक रूप में, मानवी प्रकृति के एक अंश की तरह, प्रकट होती है;—जो अपने विरोधी के प्रति अति उदार है। उनकी उदारता एक रईस की उदारता थी जो दीन-दुखी पर पानी पानी हो जाती है पर प्रतिद्वंद्वी के सामने, सूक्ष्म अहंकार के शीत से जमकर, हिमवत् हो जाती है। इस बारे में वह मोतीलालजी से मिलते-जुलते थे। वह प्रेरणा और प्रवृत्ति से वैष्णव थे पर उनमें वैष्णव धर्म की शान्ति और आत्मार्पण न था। सिद्धान्ततः उनकी सहानुभूति साम्यवाद की ओर थी किन्तु उन्होंने बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त (Permanent Settlement) को तोड़ने अथवा उसमें परिवर्तन करने की आवाज़ तक न उठाई। इसी प्रकार व्यापार-संघों (Trade Unions) के सम्बन्ध में भी वह धनवादी प्रभावों से ऊपर न उठ सके।

इन सब बातों को मिलाकर जब हम देखते हैं तो मालूम होता है कि चित्तरंजन में भावना ही प्रधान थी। इसीलिए विधायक की अपेक्षा संहारक के रूप में वह अधिक प्रबल हो उठे थे। विधायक राजनीतिज्ञता (Constructive Statesmanship से अभिप्राय है) में वह गोखले और फ़ीरोजशाह के तथा विचक्षणता में तिलक के पीछे रह गये। निर्दय प्रहार, तीव्र मेधा और तर्कना में मोतीलालजी उनसे आगे निकल जाते हैं पर राजनीतिक आदर्श के लिए अपने त्याग में, एक दल से संगठन के लिए स्वास्थ्य और जीवन को खतरे में डालने में, लगन, भावों की सचाई और दृढ़ता में वह इन सब से आगे थे। इसी प्रकार विशाल जन-समूहों को हिला देने, उद्वेलित कर देने, में वह मोतीलालजी से कहीं बढ़कर थे। बंगालियों में से देखें तो उनके समय के दूसरे महान् बंगाली भूपेन्द्रनाथ बसु से, कई बातों में, उनका स्वभाव मिलता था। भूपेन्द्रनाथ की तरह ही उनमें समाजिकता के सब गुण थे;— उनमें सभी तरह के आदमियों में से मित्र बना लेने की प्रबल शक्ति थी। भूपेन्द्रनाथ की ही तरह वह अपने मित्रों को एक स्नेह के बंधन में बाँधकर उनको एकत्र एवं संगठित कर सके थे। इस विषय में, अपने स्वभाव की मधुरता, अपने सहायकों की वफ़ादारी में उनका विश्वास, उनकी विचक्षणता सब अद्भुत थी और बंगाल के क्या, शायद दूसरे प्रान्तों के किसी आदमी से उनकी तुलना नहीं हो सकती।

भावना प्रधान

भूपेन्द्रनाथ से समानता

जहाँ समानताएँ हैं वहाँ असमानताएँ क्यों न होंगी? भूपेन्द्रनाथ में एक बड़ा गुण यह था कि वह अपने समय के प्रतिभावान आदमियों को एकत्र कर सके थे; उनके मित्रों एवं सहायकों में बड़े-बड़े प्रतिभावान् मनुष्य थे। मात्रा के लिहाज से चित्तरंजन में यह बात बहुत कम थी बल्कि अनेक बार कितने ही

असमानताएँ

प्रतिभाशाली मनुष्य उनके द्वारा उपेक्षित भी हुए। इस विषय में वह सुरेन्द्रनाथ से मिलते जुलते थे। इसी प्रकार भूपेन्द्रबाबू के समान आदमी पहचानने की शक्ति भी चित्तरंजन में न थी। इस विषय में भी वह सुरेन्द्रनाथ की ही तरह थे। कौन सच्चा साथी है, कौन चापलूस है, इसकी पहचान उन्हें न थी। इस कारण जब तक वह जीवित रहे उनकी असाधारण व्यक्तिगत प्रतिभा तथा आकर्षण से लोग दबे रहे पर उनके मरते ही कलह और फूट का बोलबाला हुआ। आज बंगाल का बहुत-सा कलह उनकी इस कमी के कारण ही है।

सुरेन्द्रनाथ और गोखले से तीन बातों में उनमें समानता थी। तीनों ने राजनीति को बड़ी सचाई से अपनाया था। तीनों ही अपनी

सुरेन्द्रनाथ और गोखले से समानता

आलोचना सहन न कर सकते थे,—इस विषय में 'सेन्सिटिव' थे। यहाँ तक कि जो उनके निर्णय को न माने या उनके अधिकार के सामने न झुके उससे बोलना भी पसन्द न करते थे। तीनों ही विनोदवृत्ति (सेंस आव् ह्यूमर) से सर्वथा हीन थे।*

इतनी बातें कर लेने के बाद अब हम चित्तरंजन के विषय में किसी निष्कर्ष पर आना चाहते हैं। पहली बात तो यह कि उनकी शिक्षा

पाँच बातें

और उनके संस्कार, मोतीलालजी की भाँति, शासक कोटि के—रईसाना—थे; दूसरी बात यह कि उनमें वर्तमान कुरीतियों, परिस्थितियों के प्रति विद्रोह का भाव विकसित हुआ था। यह विद्रोह की भावना पिता से एवं ब्रह्म-समाज के संस्कारों से उन्हें मिली; लड़कपन की परिस्थिति ने तलवार की धार पर शान दे दिया। तीसरी बात यह कि चित्तरंजन आरंभ से वैष्णव-भावना की ओर आकर्षित हुए— जिस क्षेत्र में गये उसमें एक तूफानी उत्साह, एक

* देखिए Chittaranjan Das : His Achievements and Failures. —P. C. Ray.

अप्रतिहत गतिमान एवं सजेत भावना, एक 'पैशन' साथ ले गये। यह उनके द्रवणशील प्रेमी हृदय का परिणाम था। चौथी बात यह कि चित्तरंजन में, यह वैष्णव भावना देशभक्ति के अत्यन्त प्रबल और तूफानी रूप में व्यक्त हुई थी। पाँचवीं—विरोधी को हराने, उसका उद्देश्य विफल करने की उनमें अद्भुत दृढ़ता थी। इसके सामने वह सब भूल जाते थे।

यदि उनमें यह भावप्रवणता न होती तो वह मोतीलालजी होते; यदि उनमें इस भावप्रवणता के साथ वकील की यथार्थवादी तर्कना न होती तो वह गाँधीजी के समीप होते। यों—जैसे थे वैसे—वह दोनों के मिश्रण थे आशुतोष मुकर्जी-जैसी मेधा उनमें न थी और न उनमें उस गंभीर राजनीतिज्ञ की कला थी जो अपने विरोधी का उछल कूद पर मुसकराता है और बिना अस्थिर हुए उसी के अस्त्रों से उसको काटता जाता है। यह बात आशुतोष बाबू में थी। वह ब्राह्मण-सुलभ शान्ति के साथ शत्रु को छकाने में होशियार थे गवर्नमेण्ट हाउस से आनेवाली चेतावनियों को वह चुटकी बजाकर उड़ा देते थे। दाँव-पेंच में ऐसी कुशलता सिवाय मोतीलालजी और विट्ठलभाई के तीसरे हिन्दुस्तानी में देखी न गई!

× × ×

इसी रूप में महान

पर चित्तरंजन जो थे, उसी रूप में महान् थे। उनकी दुर्बलताएँ ही उनकी शक्तियाँ हैं। उनमें प्रेम-शक्ति अद्भुत थी और वह प्राणशक्ति के रूप में प्रकट हुई थी। वह शक्ति के, उत्साह के, कर्मण्यता के पुंज थे। जब वह बोलते थे तो ऐसा जान पड़ता मानो ज्वालामुखी से अग्निमय 'लावा' निकल रहा है। उनमें जान थी; वह जिये, उन्होंने प्रेम किया, लड़े और कष्ट सहा। उनमें गतिशीलता इतनी अधिक थी कि उनके आक्रमण, उनकी गति को रोकना कठिन हो जाता था। एक प्रकार की आँधी उनके हृदय में उठती

और सब जगह छा जाती। ऐसा महाप्राण महापुरुष इधर तो बंगाल में कोई हुआ नहीं। वह भाव के पुंज थे; तर्कना के खिलाड़ी थे, विद्रोह और कार्यशक्ति के अवतार थे। लगन के, धुन के पक्के थे। अपने अधिकार के प्रति दूसरों का उँगली उठाना वह सहन नहीं कर सकते थे; इस विषय में वह बड़े ही भावुक ('सेन्सिटिव') थे। यही उनका दुर्गुण था। और भी कमज़ोरियाँ उनमें थीं;—पर उनके साथ भी वह महान् थे। कम से कम एक महान बंगाली तो थे ही। और सब मिलाकर जब हम देखते हैं तो उनकी 'देशबन्धु' की उपाधि बिलकुल ठीक मालूम होती है।

साहित्यकार चित्तरंजन

बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रांतों के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं में ऐसे बहुत थोड़े होंगे जो यह जानते हों कि चित्तरंजन एक अच्छे कवि भी थे। और संभव है उनके कवि होने की बात लोग जानते भी हों पर वह एक उच्च-कोटि के कहानी लेखक थे, इसे तो बंगाल में भी बहुत कम लोग जानते हैं।

कवि चित्तरंजन

चित्तरंजन ने काव्य की वीणा बहुत थोड़े समय के लिए हाथ में ली थी पर उतने समय में भी उन्होंने अपने प्रेम को ऐसा प्रवाहित किया कि हृदय का आँचल उससे भीग गया। किशोरकाल की व्यावहारिक जीवन की असफलता, निराशा, वेदना तथा प्रेम सभी इसमें प्रकट हुए हैं। उनके कुछ भक्तों का तो यहाँ तक कहना है कि उनकी कविताओं का स्थान रवीन्द्रनाथ से भी ऊँचा है। इसे मानना तो कठिन है क्योंकि न काव्य और न कल्पना की विशदता की दृष्टि से वह रवीन्द्रनाथ तक पहुँच सके पर हाँ, यह कहा जा सकता है कि कुछ कविताएँ बहुत ही सुन्दर हुई हैं और यदि इस क्षेत्र की ओर वह अग्रसर होते तो एक ऊँचे कवि का स्थान पाने में उनके लिए कोई कठिनाई न होती।

बँगला का प्राचीन काव्य-साहित्य हिन्दी के इतना सम्पन्न नहीं है। फिर भी उसमें वैष्णव भक्त कवियों ने जो कुछ लिखा है उसमें एक प्रकार की अपूर्व भक्ति विह्वलता है। इन भक्तों ने अनन्त प्रेम की ज्वाला से काव्य को प्रकाशित किया है और उनके हृदय से जो अमृत-मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है उसने शत-शत प्राणों को शीतल किया है। नित्य-प्रेमी को लेकर जो अतलस्पर्शी वेदना एवं विरह-कातरता उनके काव्य में प्रकट हुई है उसने पश्चिम के संस्कारों से प्रभावित आधुनिक बंग कविता पर अपनी छाप छोड़ दी है। वह प्रेम जो देह के, मांस-पिण्ड के भीतर

समाना—अँटना नहीं चाहता, यहाँ भी उच्छ्वसित होकर प्रकट हो रहा है।

चित्तरंजन का संवेदनशील हृदय ऐसी, वैष्णव रंग में रँगी, कविता के सर्वथा अनुकूल था। इसीलिए उन्हें सफलता भी मिली है। पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्रथम कोटि के कवि थे। उनमें मौलिकता की कमी है; उन्होंने काव्य को कोई नया रूप नहीं दिया। किन्तु आदर्श से अनुप्राणित एवं सर्वग्राही प्रेम से भरा हुआ उनका हृदय ऐसी कोमल कविता के रूप में व्यक्त हुआ है जैसे जूही की कली से निकलनेवाली मृदु-मृदु हलकी सुगन्ध या नशे में इधर उधर उड़ती हुई चाँदनी।

उनकी कविता

उनकी आरंभिक कविताएँ प्राचीन कवियों का अनुकरण हैं। कुछ नवीन स्फूर्ति एवं संवेदनशीलता से अनुप्राणित भी हुई हैं। इनमें 'वारवनिता' तथा दो-एक और कविताएँ तो बहुत सुन्दर एवं उत्कृष्ट हुई हैं। धीरे-धीरे उनकी शैली परिष्कृत एवं स्पष्ट होती गई है और अभिव्यक्ति में भी एक प्रकार का प्रवाह एवं बल आ गया है। ज्यों ज्यों समय बीतता गया है वह वैष्णव कविता के भाव-मूल तक पहुँचते गये हैं और ज्यों ज्यों वह वैष्णव-भावना को अधिकाधिक ग्रहण करते गये त्यों त्यों उनकी कविता में भक्ति का एक उच्छ्वास पैदा होता गया है। यहाँ तक कि अन्तिम दिनों की कविताओं में कोमल धार्मिक भावनाएँ बिलकुल वैष्णव 'स्पिरिट' में व्यक्त हुई हैं जिनमें नित्य-प्रेमी के प्रति पूर्ण आत्मार्पण का भाव विद्यमान है।

मालञ्च

चित्तरंजन की सबसे पहली रचना मालञ्च है। यह उनके कुछ गीतों का संग्रह है और पहली बार १८६५ ई० में प्रकाशित हुआ था। उस समय कवि ताजा ताजा इंग्लैण्ड से लौटा था; उसमें जीवन के पाश्चात्य भावों की प्रबलता थी। सौन्दर्य में एक आकर्षण, जीवन का एक अस्थिर चंचल आनन्द, मानव-अस्तित्व के रहस्यों को प्रकट करने की चेष्टा, ये सब उनके प्रारंभिक काव्य में व्यक्त हुए हैं।

और इसीलिए, असाधारण न होकर भी, वह साधारण काव्य से ऊँचा है। यह जीवन एवं विश्व के साथ सामञ्जस्य एवं शान्ति अनुभव करनेवाली आत्मा का प्रकाश नहीं, विद्रोह के झंझावात में पड़े हुए अस्थिर, चञ्चल मन का कुतूहल एवं अनिश्चित पर जीवनमय युवक-हृदय का उद्‌गार है।

उदाहरण लीजिए—

तोमार ओ प्रेम शखि, शानित कृपान १।
दिवानिशि करितेछे २, हृदि रक्त पान।
नित्य नव-सुख भरे,
झलसिछे रवि करे,
रजनीर अन्धकारे से आलो ३ निर्वाण।
तोमार ओ प्रेम सखि, मरन ४ समान।
जीर्ण श्रान्त जीवनेर शान्ति आवरन।
कोमल तुषार कर,
राखिया ललाट पर,
जुड़ाय ज्वलन्त ज्वाला, आनिया निर्वान!

प्रेम में वासना और आसक्ति है। इसलिए इसमें टूटी हुई आशा और निराशा एवं असफल प्रेम का आभास है। यौवन के उन्मद आकर्षण में कवि बहा चला जा रहा है। जीवन पर उनका अंकुश नहीं है; इसीलिए असफलता में इतना तीव्र दर्द है।

पर यह तो यह!—जब चित्तरंजन की 'वार वनिता' बाजार में आई तो ब्रह्म-समाज में तहलका मच गया। इसमें पतिता का करुण

'वार-वनिता'

वर्णन है। समाज उन्हें देखता है और लज्जा से मस्तक झुका लेता है। वे सब ओर से उपेक्षित हैं। जो उनके भक्त हैं, जो उनसे अपना मनोविनोद एवं शरीर रंजन करते

१ शानित कृपान = तीक्ष्णधार कृपाण। २. करितेछे = कर रहा है या कर रही है। ३ आलो = प्रकाश, आलोक। ४. मरन = सर्प।

हैं वे भी उनसे घृणा करते हैं। समाज के निकृष्टतम व्यक्ति की भी सहानुभूति उन्हें प्राप्त नहीं है। इन अभागिनियों के जीवन में सुख की कोई रेखा नहीं; यह वह मरुस्थल है जिसकी जीवन में कोई सीमा नहीं और दूर तक केवल तृष्णा है, जलन है, दुःख है, उत्तप्त बालुका-भूमि है। इस रेगिस्तान में कहीं 'ओसिस' नहीं—हरियाली नहीं। अदूरदर्शी लोग इनकी वेश-भूषा, शृंगार इत्यादि को देखते हैं;—उनका मोल-भाव होता है चीज़ खरीदी और चले गये। लोग समझते हैं कि ये सुखी हैं; वैभव के साथ रहती हैं। लोग उनके शृंगार को, उनके गायन को, उनके खिले चेहरे को देखते हैं पर उनकी व्यथा, वेदना किसे मालूम? यह

वेदना के अतल में

कौन जानता है कि उनकी हँसी के पीछे उनका अक्षय विषाद छिपा है? यह कौन जानता है कि उनका कोकिलकण्ठ-निन्दक कल गान उनके चिरोत्थ करुण क्रन्दन का आवरण-मात्र है? अपने दुःख को, अपनी हृदय की प्यास को छिपाकर संसार के सामने, उसके रंजन के लिए,—विनोद के लिए, नित्य अपने को सजा-कर रखना कितना कठिन है? जो कुलांगनाएँ हैं पर परिस्थिति एवं समाज की निठुरता के कारण तिरस्कृत होकर पतित जीवन बिताने को बाध्य हुई हैं। उनके दुःख की तो सीमा ही नहीं। पश्चात्ताप की सुई जब उनके कलेजे को छेदती रहती है तभी पेट-पालन के लिए, और इसीलिए कि कोई दूसरा रास्ता लोगों ने रहने नहीं दिया, हँसकर उन्हें दूसरों के प्रति प्रेम प्रकट करना पड़ता है। कैसा भीषण, रोमांचकारी कठिन अभिनय है यह? इसे कौन समझता है कि इस उपेक्षिता के अन्दर भी नारीत्व है, जो अतृप्ति और प्यास को लिये हुए कराह रहा है! समाज में सभी दिशाओं में आन्दोलन होता है पर उनकी ओर सहानुभूति की दृष्टि डालने की किसी को फ़ुर्सत नहीं। किसी के ओठों पर दो मीठे शब्द इनके लिए नहीं हैं। चित्तरंजन का विद्रोही और करुणा प्रेमी-हृदय इनके इस मूक चिर-क्रन्दन के प्रति द्रवित होकर इस कविता में बहा है।

पतिता के क्षुब्ध हृदय तल पर उठनेवाले भाव-तरंगों की इसमें स्वाभाविक आर्द्रता है। जहाँ फुर्सत मिली, पुरानी स्मृतियां, पुराने विचार उठे! माता-पिता की याद, सहेलियों का विनोद, बाल जीवन की शत शत स्मृतियां, अब जो जीवन अत्यन्त संकुचित हो गया है उसके आँगन में एक के बाद एक नाचती हुई आती हैं। मानो अतीत की समाधि से स्मृतियाँ प्रेतात्माओं के रूप में निकलकर अट्टहास करती हुई नाच रही हैं! हाय, कैसा करुण और व्यथापूर्ण है यह जीवन! और कैसी तरंगें उठती हैं जीवन के उजड़े दयार में दिल के इस बुझे हुए चिराग़ के पास?

आमि जेनो चिरदिन ऋणी।
अपार ऐश्वर्य लये,
बिलाइ भिखारी हये,
वासना-विहीन उदासिनी।
लालसा उल्लासहीन, पूर्ण उदासिनी।
के करेछे मोरे चिर ऋणी,
ओगो आमि यौवने योगिनी।
ए विश्व लालसा छाइ,
सर्वाङ्गे माखिया ताइ,
चलियाछि कलङ्कवाहिनी।
चिरदिन यौवने योगिनी।
कार अभिशापे नाहि जानि।
कोन महाप्राणे व्यथा,
दियाछिनु तार हेथा,
प्राणहीन प्रेम-विलासिनी।
सवारे विलासि ताइ वारि विलासिनी
तारियाछे चिर-कलङ्किनी॥

इस कविता में व्यथा और करुणा की धारा बरसाती फल्गू नदी की हरहराहट के साथ बह रही है। यह अव्यावहारिक एवं परम्परागत सदाचार की बाँधों एवं चट्टानों को तोड़ती, सहानुभूति के विस्तृत क्षेत्र में बहती है। कवि की चिरन्तन सहानुभूति चिर-सखी-सी पतिता के आँसू पोंछने को आई है। यह पतिता, अंग्रेज़ी साहित्य के 'डालोर्स' (Dolores) की भांति वेदना की—शोक की—नित्यनारी है जो अपने रक्त-मांस से दुनिया की वासना की प्यास बुझाने में तिल तिल करके अपने को जला रही है; आत्मघात कर रही है। उसका जीवन एक लम्बा और निरन्तर आत्म-संहार है—; उसकी शर्म, उसका पाप संसार का विलास एवं सुख है; उसका शोक संसार का हर्ष है!

समाज-द्वारा विरोध

इस कविता के कारण बड़ा तहलका मचा। सदाचार की पूर्व-निश्चित एवं संकुचित सीमा में यह तूफान कहाँ से अँटता? अनेक ब्रह्मसमाजियों द्वारा इसपर अश्लीलता का दोष लगाया गया। पर इससे इस रचना का मूल्य कम नहीं हुआ; बढ़ अवश्य गया। मौलिकता का विरोध तो होता ही है। जब बंकिम ने उपन्यास लिखने शुरू किये तो 'रमणी रूप को प्रधानता देकर भारतीय आदर्श को नष्ट कर रहा है', यह चार्ज लगाकर उनका घोर विरोध हुआ था। पर पीछे उनकी पूजा हुई और वह समाज-द्वारा मंत्र-दाता राष्ट्रीय ऋषि के रूप में ग्रहण किये गये। यह सदा से होता आया है। पर इन सब विरोधों के बाद भी कहना पड़ेगा कि अंग्रेज़ी साहित्य में स्विनबर्न की 'डालोर्स' का जो स्थान है, वही बंगला में चित्तरंजन की इस कविता का है। अंग्रेजी साहित्य के धुरन्धर समालोचक स्व० एडमण्ड गॉस ने 'डालर्स' के बारे में ठीक ही कहा था कि "यह परम्परागत नीति के परित्याग के कारण ही हमारे साहित्य की तीव्रतम नैतिक कविताओं में से एक है।"* निस्सन्देह रवीन्द्रनाथ

* It becomes one of the most poignantly moral poems in our literature by its rejection of conventional morality.'

की 'उर्वशी' तथा चित्तरंजन की 'वारवनिता' आधुनिक भारतीय साहित्य में, अपने रंग में, बेजोड़ एवं यकता हैं।

× × ×

इसी प्रकार चित्तरंजन ने ईश्वर पर जो कविता लिखी उससे भी बड़ा तहलका मचा। ब्रह्म समाजियों ने इन्हें नास्तिक समझा। इस

नास्तिकता का आरोप

कविता में सृष्टि के असाध्य एवं मूक रहस्यों के विरुद्ध विद्रोह करनेवाली आत्मा का तीव्र क्रन्दन है। वह सवाल करता है और उसका जवाब चाहता है पर ईश्वर की ओर से कोई उत्तर नहीं। अनन्त मौन ही उसका उत्तर है। ऐसे ईश्वर से युवक एवं उच्छृंखल कवि-हृदय सन्तुष्ट नहीं। वह अपने व्यथित हृदय के एकान्त में अपना सुन्दर देवता स्वयं निर्माण करता है,—ऐसा देवता जो प्रेम करता है, बोलता है। प्रेम-विभोर अशान्त एवं आकुल कवि में अभी इतनी शान्ति नहीं आई है कि वह प्रभु की महानता हृदयंगम कर सके। वह जब अभिलाषाओं की असफलता से निराश एवं दुखी होता है तो फिर ईश्वर के अस्तित्व में ही सन्देह करने लगता है। ऐसे समय मन में जो भाव उठते है, उसे देखिए—

बूझेछि बूझेछि तबे
कांड्बना किछु तृषार्त जिज्ञासा मोर
आसिछे फिराय तब लौहवक्ष हते
रुद्ध भाषा अश्रुसिक्त लज्जानत आँखि।
शक्तिशील हृदयहीन श्रवणहीन;
निर्मम निष्ठुर तुमि पाषाणेर मत।

"............मेरी तृषार्त जिज्ञासा तेरे लौह वक्ष से टकराकर फिर आती है।............तू निर्मम, निष्ठुर, पाषाण की भांति है।"

चित्तरंजन की कविताओं का दूसरा संग्रह 'माला' नाम से १६०४ ई० में निकला। इन कविताओं में स्वर गंभीर है और विचार संयत हैं।

माला

चित्त की चंचलता दूर हो गई है। अस्थिर मन अब शान्त है। जहाँ पहली रचनाओं में ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह होता था, वहाँ अब एक सार्वत्रिक सत्ता पर विश्वास जम चला है। अब उसकी लीला का आभास सर्वत्र मिलने के लक्षण दीख पड़ते हैं। प्रेम भी गूढ़ हो चला है:—

केमन से भालबासा ? बला कि से जाय ?
सकल जीवन आर सब स्वप्न गाय
तोमारि तोमारि गीत। स्रोतस्वनी यथा
समुद्रेर गान गाये, तारि पाने धाय
आकुल आशाय।

वह प्रेम कैसा है ? क्या वह कहा जा सकता है। जैसे नदी समुद्र का गान गाती है वैसे ही मैं सम्पूर्ण जीवन और स्वप्न में तेरे गीत गाता हूँ।

अभी वैष्णव सन्तों का सर्वग्राही प्रेम नहीं है,—उसमें वह गहराई नहीं है पर कवि के हृदय में अपने प्रियतम के लिए बड़ा आग्रह एवं उत्कंठा है। कवि की सम्पूर्ण आत्मा उसकी ओर प्यासी दौड़ती है। प्रेम में उपासना का कुछ-कुछ आभास आने लगा है। इसीलिए कोई-कोई कविता इतनी सुन्दर हो गई है और उसमें भक्ति-विह्वलता का प्रवाह इतना जबर्दस्त है कि रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि को छोड़ आधुनिक भारतीय साहित्य में वैसे सुन्दर गीत मिलते नहीं। फिर जहां पहली कविताओं में अभिलाषा-पूर्ति का आग्रह था वहां इनमें सौन्दर्य-दर्शन अधिक स्वच्छ है और प्रेम में प्रियतम के चरणों पर मिट जाने का—आत्म त्याग का—भाव भी है। देखिए:—

प्रेम का विकास

ओगो प्रिय, तुमि मोर सर्वजीवनेर
चिर प्रेमार्जित शत तपस्यार फल ।
खुलिया हृदय-द्वार आमि बिछाइब
यतना सौन्दर्य आछे यतना स्वपन;
सर्वकोमलता मोर आमि पेते दिब
तुमि केरे ओगो केरे आमार जीवन ।
तोमार चरणभूमि ।

प्रेम में आर्द्रता आगई है । प्रेम-पात्र को कवि सम्पूर्ण जीवन की चिर-प्रेमार्जित शत-शत तपस्याओं के फल के रूप में आवाहन करता है और एक मस्ती के साथ, बेखुदी-ए-इश्क में, कहता है—'हृदय का द्वार खोल-कर मैं उसमें अपने सारे सौन्दर्य एवं स्वप्न को बिछाऊँगा; सम्पूर्ण कोमलता फैला दूँगा । तुम मेरे जीवन को अपने चरणों का आश्रय बनालो ।'

प्रेम इतना परिष्कृत हो गया है कि भक्ति की सीमा को छूता है; प्रियतम को देव-रूप दे दिया है । इन कविताओं में कवि के हृदय में बढ़ते हुए विवेक एवं शान्ति की छाया है । यह स्पिरिट, यह भाव-प्रवाह उनकी दूसरी—बाद की रचना—, अन्तर्यामी में और स्पष्ट हो गया है । यहां प्रेम-पात्र की—देवता की—, सर्वव्यापकता स्पष्ट है । कवि उसे प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव करता है:—

अन्तर्यामी

निखिलेर प्रान तुमि । तुमि हे आमार
दिवसेर दिनमणि, निशार आँधार;
जागरणे कर्मभूमि
शयनेर स्वप्न तुमि
ओगो सर्व प्राणमय । तुमि जे आमार ।

धीरे-धीरे निकटता आरही है । उपासक उपास्य से सान्निध्य-लाभ कर रहा है । नीचे का गान देखिए; इसमें मिलन का आनन्द है, उपासक की ध्येय-प्राप्ति का उल्लास है:—

बाजारे बाजारे तबे बाजा जय डङ्का ।
नाहि लाज नाहिं भय, नाहिं कोन शङ्का ।
पराणवानि काँछे कत जय माल्य गले
फुलेर मत कि जानियो फुट् छे हृदतले ।
सुखेर मत दुःख आज, दुःखेर मत सुख
कोन गानेर गरबे गो भरियाछे बुक ?
प्राणेर माझे एकि सुनि कि नीरव भाषा !
बुकेर माझे कोन् पाखी गो बाँधियाछ बासा ।
पायेरतले बाजे पथ ? प्राण आजि के राजा !
बाजारे बाजारे तबे जय-डङ्का बाजा ।

× + +

सागर-संगीत

सन् १९१३ ई० में 'सागर-संगीत' निकला । इसमें कवि मानव-हृदय के अतलस्पर्शी भावों को छुआ है । इसमें रात-दिन के प्रकाश और छाया में बदलते रहनेवाले समुद्र के अनेक रंगों की तुलना कवि के सतत परिवर्तनशील मन से की गई है । कवि की आत्मा और सागर में मानों एक पूर्व-निश्चित सामञ्जस्य है । जैसे कवि सागर से भाव ग्रहण करता है वैसे ही मानों सागर कवि की प्रवृत्तियों से भाव ग्रहण करता है । यहाँ तक कि साधक एवं साध्य—उद्देश्य-विधेय एक हो जाते हैं । 'अन्तर्यामी' और 'सागर-संगीत' कवि के सर्वोत्कृष्ट काव्य हैं, जिनमें 'सागर-संगीत' का स्थान बहुत ऊँचा है । इसके अंग्रेज़ी में भी दो अनुवाद हुए हैं । एक श्रीअरविन्द ने किया है और दूसरा श्री० जे० ए० चैपमैन ने । इस काव्य में उषा, मृत्यु और तूफान के ऐसे सुन्दर वर्णन हैं कि वेदों की याद आ जाती है ।

"किशोर-किशोर' में वैष्णव प्रवाह बहुत स्पष्ट हो गया है । इसमें प्रेम का आनन्द है,—उस आनन्द में आत्मा विपंची के स्वर-प्रवाह की भाँति तरंगित हो रही है । यह प्रेम मानवी है पर देवाभिमुख है

यह प्रेम की नित्यता का गान है। प्रेम एक क्षण में, परिपूर्ण हो उठता है पर उसी क्षणिक पूर्णता में असख्य युग चक्कर काटकर निकल जाते हैं।

किशोर किशोर

कली प्रभात में सूर्य का चुम्बन प्राप्त करने को खिल उठती है पर उस किरण-स्पर्श में अनन्त जीवन जाग्रत होकर कली को स्पर्श करता, जीवन देता और खिलाता है। इसी प्रकार कवि पूछता है—"संध्या के इस आकाश के नीचे हमारा यह मिलन !—क्या यह जीवन का क्षणिक उपकरण है ? क्या तुम्हारी आँखों के प्रकाश में वह उल्लास नहीं है जिसका एक जीवन के बाद दूसरे जीवन में मैं स्वप्न देखता रहा हूँ ? क्या मैं तुम्हें युग-युग से, अपने अनेक जन्मों और पुनर्जन्मों में, समय के अनन्त प्रवाह में, जानता और प्रेम नहीं करता रहा हूँ ? आज वह समय आया है जब इस आकाश के नीचे हमारा मिलन हुआ है; —जबकि शत-शत जन्मों की आकांक्षा को आज पूर्णता प्राप्त हुई है।"

इसमें शुद्ध वैष्णव भाव—वैष्णव प्रेम विकीर्ण हुआ है।

× × ×

जीवन के अन्तिम वर्षों में चित्तरंजन ने जो कविताएँ लिखीं उनमें वैष्णव-वृत्ति स्पष्टतर होती गई है। ज़मीन वही है। मिलन के लिए उत्कण्ठित

अन्तिम जीवन की कविताएँ

प्रेम—वह प्रेम जो काँटा के सामान दिल में चुभता है पर सुगन्ध के सामान मस्त करता और आलिंगन के सामान विस्मृति कारी आनन्द से मन को पूर्ण कर देता है पर पिछली कविताओं में वह जीवनमय होता गया है। यहाँ वेदना अश्रुमय होकर आनन्द में बदल जाती है और मृत्यु रक्त-सिंचित होकर जीवन का रूप धारण करती है। इन कविताओं में रंगआमेजी नहीं, अलंकारिता नहीं, पर यहां आवाज मुँह से नहीं, दिल से निकल रही है और सीधे दिल तक पहुँचती है।

चित्तरंजन को काव्य की आराधना के लिए बहुत थोड़ा समय मिला था। उनका जीवन कानून और राजनीति के बीच सदा झूलता रहा पर इस कर्म कोलाहल में, जीवन के संघर्षों के बीच, उदारता के रूप में, मानव सेवा तथा देश-प्रेम के रूप में सदा उनकी आदर्श-वादिता, उनके हृदय को लेकर प्रकाशित होती रही।

पर चाहे चित्तरंजन ने थोड़ा लिखा हो और चाहे वह प्रथम कोटि का न हो पर जीवन के सत्य का बोध कराने में वह उनके अन्य क्षेत्रों में किये हुए कार्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यह इसलिए कि विशाल पुष्करिणी के नीचे जो सोते हैं वे यहीं दिखाई पड़ते हैं, यह इसलिए कि इनमें उनकी आत्मा बोलती है,—उनका व्यक्तित्व इसमें प्रतिफलित है।

× × ×

यह बात ध्यान में रखने की है कि चित्तरंजन रवीन्द्रनाथ की शैली के विरोधी थे। उनकी प्रारंभिक कविताओं पर रवीन्द्रनाथ की शैली का प्रभाव दिखाई देता है पर दिन-दिन वह उससे दूर होते गये हैं और पिछली कविताओं में बिलकुल अलग होकर सामने आते हैं। चित्तरंजन पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न सब प्रकार की कृत्रिमताओं के विरोधी थे। उन्हें वैष्णव सन्त कवियों का प्रेम-वर्णन बहुत ऊँचा मालूम पड़ता था; उसमें एक अद्भुत सरसता थी। इस विषय पर चित्तरंजन ने 'बंगाल का गीति-काव्य' नाम से एक विचारपूर्ण निबन्ध भी लिखा था जिसमें दोनों 'स्कूलों' के तात्विक भेद का निदर्शन किया है। उनके मत से प्राचीन-स्कूल बंगाल की प्रकृति, भावना और प्रतिभा के अधिक अनुकूल है।

रवीन्द्र-शैली के विरोधी

चित्तरंजन समय-समय पर पत्रों में लिखा भी करते थे। उन्होंने 'नारायण' नामक विख्यात मासिक का बंगला में संचालन किया था। इसमें विपिनचन्द्र पाल, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री—जैसे लेखक लिखा करते थे। पीछे असहयोग-

लेखक और पत्रकार

आन्दोलन में, प्रचार की सुविधा के लिए, उन्होंने कलकत्ता से अंग्रेजी दैनिक 'फारवर्ड' निकाला। इस पत्र ने बंगाल के समाचारपत्रों के बाजार में बड़ी सफलता प्राप्त की थी।

× × ×

कहानी-लेखक

चित्तरंजन की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी 'डालम' कहानी इस बात का प्रमाण स्वयं उपस्थित करती है कि यदि वह लिखते तो उच्च कोटि के कहानी-लेखक होते। यह लम्बी कहानी, जिसका अनुवाद 'मतवाला' में उसके शिशु-काल में निकला था, बड़ी सुन्दर है। उसमें मनोभावों का, परिस्थिति के मानसिक प्रभावों का तथा चरित्र का बड़ा ही सुन्दर चित्रण है। सब के ऊपर, मानो सब भावों को दबाकर, एक मानवी सहानुभूति चतुर्दिक दौड़ गई है। इन सब बातों का निष्कर्ष यह कि चित्तरंजन में एक श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार के उपकरण थे। वाणी और लेखनी दोनों पर उनका अधिकार था और उन्होंने, उस थोड़े से समय में, जो सार्वजनिक जीवन के संघर्ष के बीच उनको मिला, जितना किया, बहुत किया।

—पाँच—

स्मृति के फूल !

चित्तरंजन ने भय को कभी मन में स्थान नहीं दिया। वह स्वभाव से ही निर्भय थे। यदि किसी की ग़लती समझ लेते या अन्याय देख

निर्भयता

लेते और उन्हें विश्वास हो जाता कि यहाँ ग़लती हो रही है तो लोकप्रियता नष्ट हो जाने के डर से चुप नहीं बैठते थे। श्रीमनमोहन भट्टाचार्य लिखते हैं—

"बुलडाना में जो महाराष्ट्र राजनीतिक सम्मेलन हुआ था, उसके सभापति देशबन्धु ही थे। इस सम्मेलन में उन्होंने बारडोली के निश्चय का विरोध करते हुए कहा था कि 'कांग्रेस में घोर अव्यवस्था और धाँधली चल रही है।" सार्वजनिक रूप से उनके इस विरोध से उनके अनेक साथी भी सहमत न थे। मुझसे रिपोर्ट तैयार करने में 'बाम्बे क्रानिकल' के विशेष प्रतिनिधि की सहायता करने को कहा गया था। चूँकि देशबन्धु ने कान्फ्रेंस में सार्वजनिक रूप में यह बात कही थी इसलिए मैंने उसे रोकना उचित न समझा; यद्यपि मुझे उससे सन्तोष न था। जब दूसरे दिन ट्रेन नागपुर पहुँची, मैं 'बाम्बे क्रानिकल' ढूँढ़ने के लिए उतरा; इधर-उधर दौड़ने के बाद एक प्रति मुझे मिल गई। यह देखकर मुझे एक प्रकार का सन्तोष हुआ कि सम्पादक ने निन्दा के वे शब्द निकाल दिये हैं। मेरी यह उत्कण्ठा देखकर देशबन्धु ने पूछा—'क्या बात है?' और जब मैंने उन्हें कारण बताया तब उन्होंने अपनी स्वाभाविक निर्भयता के साथ जवाब दिया—"जिस बात को मैं ठीक समझता हूँ, उसे मुझे अवश्य कहना चाहिए चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो। कब तक इसे दबाया जा सकता है?" और मद्रास में उन्होंने बारडोली के

प्रस्ताव की इन्हीं शब्दों में निन्दा की। मोतीलालजी और मालवीयजी ने उनसे सफ़ाई माँगी या वक्तव्य वापस लेने को कहा। देशबन्धु ने अपना मतलब साफ़ तौर से समझाते हुए दूसरी वक्तृता तो दी पर वक्तव्य वापस नहीं लिया। उस समय उनके चेहरे पर आत्म विश्वास और दृढ़ता की अपूर्व झलक थी।"

निस्सन्देह वह एक अत्यन्त साहसी पुरुष थे। साहस में वह खतरा उठाने को तैयार एक क्रान्तिकारी के समान थे। पद्मा में बाढ़ आ रही है; नाव डूबने डूबने को हो रही है; नाविकों के होश फ़ाख्ता हैं पर सार्वजनिक कार्य के आगे जीवन तुच्छ है! देशबन्धु अपनी धुन और लगन में चले जा रहे हैं।

× × ×

व्यर्थ विवाद से घृणा

जब देशबन्धु गुलबर्गा में थे तो वहाँ के डिपुटी-कमिश्नर ने उन्हें चाय पीने और राजनीति पर बातचीत करने के लिए निमंत्रित किया। समय की कमी से देशबन्धु ने निमंत्रण अस्वीकार करने का निर्णय किया पर जब उन्हें बताया गया कि समय का अभाव नहीं है, समय तो निकल सकता है क्योंकि ट्रेन में देर थी तो उन्होंने कहा—"इसका नतीजा क्या होगा? वह कुछ मीठे असत्य कहेगा और मुझे भी लगभग वही करना पड़ेगा। इससे न जाना ही अच्छा है!"

× × ×

विश्राम के लिए समय नहीं!

जब देशबन्धु किसी बात का निश्चय कर लेते थे तो फिर रात-दिन कुछ नहीं देखते थे। स्वराजदल के संगठन के समय उन्होंने सम्पूर्ण भारत को अपने व्याख्यानों, लेखों एवं योजनाओं से भर दिया था। लगन और धुन के वह पक्के थे। मद्रास-कांग्रेस के समय का एक उदाहरण दे देना ठीक होगा। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी श्री मनमोहन बाबू लिखते हैं—

"एक दिन उन्होंने मुझसे कहा कि १२॥ बजे मोटर तैयार रखना क्योंकि शहर के बाहर जाना है। यह कह वह तड़के ही चले गये; दोपहर को लौटे। यह सोचकर कि अभी वह थके-माँदे लौटे हैं, घण्टा-आध घण्टा विश्राम मिलना चाहिए, मैंने श्रीरंगस्वामी ऐयंगर से १२॥ की जगह १ बजे मोटर भेजने को कहा लेकिन मेरे विश्वास के विपरीत, १२॥ बजे तक स्नान और भोजन से निपटकर देशबन्धु ने मोटर माँगी। मैं चकित हो गया और बोला—'मैंने यह सोचकर कि आप अभी आये हैं, थोड़े विश्राम की जरूरत होगी, १ बजे गाड़ी मँगाई है।" इसपर देशबन्धु ने मेरी इतनी भर्त्सना की कि मेरी आँखों में आँसू आ गये। मैं उनके कमरे से चला आया और चन्द मिनटों के बाद जब उन्होंने कुछ तार देने के लिए मुझे बुलाया तो न गया। आसाम के श्री टी० आर० फूकन उनके साथ थे। उन्होंने देशबन्धु से कहा—"आपने इस तरह उसे डाँटा है कि वह आपके सामने [illegible] यगा" तब देशबन्धु स्वयं मेरे पास आये और पकड़कर ले गये। उस समय उनके चेहरे पर स्नेह का जो भाव था, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता।' इस प्रकार एक मिनट विश्राम किये बिना वह दिन-रात काम करते रहते थे। सार्वजनिक कार्य में वह इतना मग्न हो जाते थे कि विश्राम का ध्यान ही उन्हें बहुत कम रहता था।

× × ×

जातीय श्रेष्ठता की भावना का अभाव

देशबन्धु में जातीय श्रेष्ठता की भावना बिल्कुल न थी। एक बार वह एक मित्र के साथ मद्रास में मोटर से कहीं जा रहे थे कि कुछ पञ्चम (अछूत) उधर से गुजरे। उन्हें देखकर मित्र ने कहा—"ये अनार्य उद्गम के मालूम पड़ते हैं।" देशबन्धु ने शान्तिपूर्वक कहा—"क्या तुम स्वयं अपने रक्त की रासायनिक परीक्षा करके देखोगे कि उसमें कितना भाग आर्य है?"

उदारता में चितरंजन की तुलना ही कैसे की जा सकती है? यह तो उनके जीवन का नशा था। इसी के पीछे उन्होंने अपने को फकीर बना दिया। जो आया, खाली हाथ नहीं लौटा। एक बार की बात है कि डाक्टरी पढ़नेवाला एक छात्र सहायतार्थ उनके घर पहुँचा। उनके क्लर्क ने यह कहकर उसे वापस करना चाहा कि इस समय रुपये का अभाव है। देशबन्धु ने सुन लिया और बोले—"छात्र को खाली हाथ लौटाने की अपेक्षा मेरा फर्नीचर नीलाम कर दो!"

उदारता

× × ×

देशबन्धु में अपने मित्रों एवं अनुयायियों के लिए पूर्ण वफादारी की भावना थी। इसीलिए अपने दल पर उनका प्रभाव था। सत्यमूर्ति ने इस सम्बन्ध में एक व्यक्तिगत घटना का जिक्र करते हुए लिखा है—"१९२३ ई० में जब देशबन्धु मेरे प्रान्त (मद्रास) में दौरा कर रहे थे तब एक सज्जन ने, जो युनिवर्सिटी के क्षेत्र से, मेरे विरुद्ध, मद्रास कौंसिल के लिए खड़े हुए थे, उनसे कहा कि आप सत्यमूर्ति को बैठा दें और बदले में वह असेम्बली के लिए खड़े हों तो मैं उन्हें सहायता दूँगा और २०००) निर्वाचन-व्यय के लिए भी दूँगा।" देशबन्धु ने कहा—"यदि तुम स्वराज-दल के कोष में एक लाख रुपये दो तो मैं सत्यमूर्ति से बैठ जाने के लिए कहूँगा। स्वराज-दल के लिए उसकी सेवा इतने से कम की नहीं है!"

वफ़ादारी

× × ×

१. चित्तरंजन उन आत्माओं में से थे जिन्हें रुपये से प्रभावित नहीं किया जा सकता था। वह रुपये को पानी की तरह खर्च करते थे। कभी उसके गुलाम नहीं हुए; सदा उसे गुलाम रखा। इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना का जिक्र करना आवश्यक है। १९२१ की बात है; शायद अक्टूबर का महीना था। चितरंजन कुछ मित्रों के साथ किसी

चित्तरंजन की महत्ता

योजना पर विचार कर रहे थे कि एक महाजन अपना कर्ज़ उगाहने आया। उसके लगभग पाँच हज़ार रुपये बाक़ी निकलते थे। जब उसे दूसरे दिन आने को कहा गया तो भुनभुनाने और मुँह बनाने लगा। संयोग की बात कि इसी समय एक भारतीय तालुकेदार ने कमरे में प्रवेश किया। पहले चित्तरंजन इनके मुक़दमे की पैरवी कर चुके थे पर साल के आरम्भ में छोड़ दिया था। उसने देशबन्धु से पुनः वह मुक़दमा हाथ में लेने की प्रार्थना की और इसके लिए एक लाख रुपये पारिश्रमिक देने को कहा। 'न' कहने पर दो लाख कहा और अन्त में, यह समझ कर कि और रुपये चाहते होंगे कहा कि आप स्वयं जो उचित समझें अपना पारिश्रमिक कह दें; मैं उतना ही दे दूँगा।' पर चित्तरंजन ने शान्तिपूर्वक मुसकराते हुए इन्कार कर दिया। इतने समय तक वह महाजन, जिसने क़र्ज़ दिया था, बैठा हुआ सब सुन रहा था। वह आश्चर्य-विमूढ़ हो गया था और जब चित्तरंजन कमरे के बाहर निकले तो वह, नशे में डूबे हुए आदमी की तरह, पीछे-पीछे बाहर आया और हाथ जोड़कर, आँखों में आँसू भरे हुए बोला—

"देवता! देवता मेरी आँखों के सामने ही आपने दो लाख रुपये त्याग दिये और मैं ५०००) रुपये का तक़ाज़ा करने आपके पास आया! रहने दीजिए हमारे रुपये!"

× × ×

२. श्री वरदाप्रसन्न पेन ने लिखा है कि एक बार मैं चंदा उगाहने देशबन्धु को हवड़ा के प्रमुख नागरिकों के पास ले गया था। चन्दे में अच्छी रक़म मिली थी। जब मैं मोटर से उन्हें घर ले जा रहा था तो एक सज्जन का घर मिला जो देशबन्धु द्वारा खड़े किये गये आदमी से बंगाल कौंसिल के निर्वाचन में हार चुके थे। स्वयं देशबन्धु ने, इस सम्बन्ध में, अनेक सभाओं में भाषण किया था और एक सभा में इन हारे हुए महाशय ने उनका अपमान भी किया था और उनपर सार्व-

आर्थिक धन के दुरुपयोग का भी इलजाम लगाया था। जब देशबन्धु को मालूम हुआ कि हम लोग उनके मकान के पास से गुजर रहे हैं तो उन्होंने मोटर खड़ी कराई और मकान के अन्दर जाने को तैयार हो गये। मैंने उन्हें रोका; उस घटना की याद दिलाई और कहा कि संभव है वह मनुष्य फिर आपका अपमान कर बैठे। देशबन्धु ने उत्तर दिया "इससे क्या? मैं अपने लिए भिक्षा माँगने नहीं जा रहा हूं; मैं देश के लिए भीख माँगने जा रहा हूँ। वह इन्कार नहीं कर सकते।" फलतः वह अन्दर गये और परिणाम यह हुआ कि वह आदमी देशबन्धु के चरणों में गिरा और एक अच्छी रकम भेंट की।

यह देशबन्धु की महत्ता थी!

\+ \+ \+

देशबन्धु की भाषण-शक्ति भी एक विशिष्ट प्रकार की थी। वह जब बोलते थे तो ऐसा मालूम पड़ता था कि उनके हृदय के अत्यन्त भीतरी तह से शब्दों का सजीव प्रवाह निकल रहा है। उसमें मन-प्राण सब भीग जाते थे। उसमें विपिन बाबू की दहाड़ न थी; मोतीलालजी के चुभनेवाले व्यंग उसमें न होते थे फिर भी विशाल जन-समूह उनके भाषण से इस तरह हिल उठता था जैसे आँधी में पत्ता हिलता है या जैसे मदारी की तूमड़ी से साँप मुग्ध होकर नाचने लगता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि बोलते समय उनके चेहरे पर अपूर्व दृढ़ता, आँखों में आकर्षण, ओठों पर हँसी एवं जिह्वा पर चुने हुए प्रभावशाली एवं मधुर शब्द होते थे। शब्द आग फूँकनेवाले, वाक्य चोट करने वाले एवं तर्क आँधी की तरह विरोधी को जड़-मूल से उखाड़ फेंकनेवाले होते थे। जब गया में युवकों से उन्होंने अपील की—

भाषण-शक्ति

"क्रोध तुम्हारे लिए नहीं है; घृणा तुम्हारे लिए नहीं है; न तुम्हारे लिए क्रूरता, नीचता, कपट और झूठ है क्योंकि तुम उषा की आशा और

प्रभात का विश्वास हो।"*

तब पण्डाल में बैठे प्रत्येक युवक का दिल विपंची के तार के समान झनझना रहा था।

इसी प्रकार कोकनद (कोकनाडा) कांग्रेस में जब वह दहाड़कर बोले—

"आप पैक्ट से बंगाल को निकाल सकते हैं पर आप कांग्रेस के इतिहास से बंगाल को नहीं निकाल सकते।"+

तो सब को बंगाल के इस प्रतिनिधि के सामने सिर झुकाना ही पड़ा।

× × ×

उनकी देश-भक्ति बड़ी गहरी थी। वह उनके लिए धर्म थी। उनके ये शब्द याद आते हैं—"अपने देश के लिए काम करना मेरे लिए, मेरे धर्म का ही एक अंग है।.........वह मेरे जीवन के सम्पूर्ण आदर्श का ही भाग है। मैं अपने देश की धारणा से ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति पाता हूँ।"×

'लिबर्टी' के सम्पादक श्री सत्यरंजन बख्शी ने देशबन्धु के चरणों में श्रद्धा के फूल समर्पित करते हुए बड़े ही भावपूर्ण शब्दों में लिखा था—

---

* "Anger is not for you, hatred is not for you; nor for you is pettiness, meanness or falsehood. For you is the hope of dawn and the confidence of the morning."

+ "You can delete Bengal from the Pact, but you can not delete Bengal from the history of the Congress; you can not delete Bengal from the map of India."

× "With me, work for my country is a part of my religion ....It is the part and parcel of all the idealism of my life. I find in the conception of my country the expression also of divinity."

"........ ....बंगाल रोता था, सारा भारत रोता था—और ज़ार-ज़ार रोता था। अब बंगाल को त्याग की वह शाहाना प्रवृत्ति, प्राण-मय, जीवन-मय वह भावना कहाँ मिलेगी? बंगाल वह जीवनप्रद व्यक्तित्व कहाँ पावेगा; वह खतरे की परवा न करनेवाली दृढ़ता, जो शोक में सान्त्वना देती थी और मृत्यु को तिरस्कृत एवं पराजित करती थी, कहाँ मिलेगी? कवि और देशभक्त, देशबन्धु का जीवन एक गीत—एक भावोद्रेक—त्याग और कष्ट-सहन की एक वैष्णव स्वर-लहरी था। कवि और देश-भक्त—जिस स्वाधीनता के वह प्रेमी थे और जिस पर मरने के लिए जिये और जिसे प्राप्त करने में मरे, वह केवल सैद्धान्तिक वस्तु न थी। उनका प्रेम अपने स्वप्नों को मूर्तिमान करनेवाले पुजारी का प्रेम था—एक प्रगाढ़ प्राणमय प्रेम। हाय! बंगाल वह व्यक्तिगत स्पर्श फिर कहाँ पावेगा?"

जैसा कि किसी ने कहा है:—

'निश्चय ही देशबन्धु युवक बंगाल के सबसे अधिक जीवन-दायी नेता थे'। (greatest and most dynamic leader which young Bengal has ever known or seen.) महात्माजी ने उनकी मृत्यु पर ठीक ही लिखा था—

"मनुष्यों में एक देव गिर गया। आज बंगाल एक विधवा के समान है!"

× × ×

प्रगाढ़ देश-प्रेम, अदभुत लगन, मनस्विता, असीम उदारता तथा जीवन-दायी शक्ति ये सब गुण चित्तरंजन में इतने सुन्दर रूप में व्यक्त हुए थे कि उनकी दुर्बलताएँ उनके अन्दर छिप जाती हैं और नगण्य हो जाती हैं। इन गुणों के कारण न केवल उनके समर्थक वरन् उनके विरोधी भी उनकी स्मृति में बराबर प्रशंसा के फूल बरसाते रहे हैं। उनके उठ जाने के बाद उनकी महानता को बंगाल ने देखा। जिस दिन वह उठे उस दिन

से मानों बंगाल के जीवन में एक दरार पड़ गई है जिसका भरना अत्यन्त कठिन है। वह परिपूर्ण-से होकर, बंगाल के सम्पूर्ण जीवन में समा गये थे। इसलिए उनका अभाव केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही अनुभव नहीं होता वरन् जीवन की प्रत्येक दिशा में होता है। वह अभाव इतना बड़ा है कि आजतक उसकी पूर्ति नहीं हुई और आगे बहुत दिनों तक कोई संभावना भी नहीं है। बंगाल का सारा जीवन विच्छिन्न, विशृंखल, तितर-बितर हो रहा है। जिनको शक्ति देकर देशबन्धु ने शक्तिमान बना दिया था, वह सुभाष बोस, वह विधानराय और वह जतीन्द्रमोहन सेन सभी परिस्थिति को सँभालने में अपने को असहाय पाते रहे। ये लोग जितना सँभालते, परिस्थिति उतनी ही जटिल और निराशा-जनक होती जाती और असमर्थ बंगभूमि, चित्तरंजन के अभाव में, विधवा सी, बिलख कर कहती रही:—

'पड़े हैं सूरते-नक्शे क़दम न छेड़ो हमें,
हम और ख़ाक में मिल जाँयगे उठाने से।'

जीवन-तालिका*

१८७०	५ नवम्बर	पटलडाँगा स्ट्रीट, कलकत्ता के एक मकान में जन्म। अवस्था प्राप्त होने पर भवानीपुर के एल० एम० एस० इंस्टिट्यूशन एवं प्रेसीडेंसी कालेज में शिक्षा।
१८९०	...	प्रेसीडेंसी कालेज से बी० ए० पास किया और उसी वर्ष इंग्लैण्ड गये।
१८९१	....	इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठे पर उत्तीर्ण नहीं हुए।
१८९२	....	'मिडिल टेम्पुल' से बैरिस्टर हुए।
१८९३	....	भारत लौटे और कलकत्ता हाईकोर्ट में बैरिस्टरी शुरू की।
१८९५	...	'मालञ्च' (प्रथम काव्य-संग्रह) प्रकाशित हुआ।
१८९७	३ दिसम्बर	श्री वरदा हलदार की कन्या कुमारी वासन्ती से विवाह।

* श्री० पी० सी० राय की पुस्तक से।

१६०१	१६ जून	दीवालियेपन की दरख्वास्त, पिता के साथ, दी।
	दिसम्बर	पहली बार प्रतिनिधि बनकर काँग्रेस में शामिल हुए।
१६०७-८	....	खुरुरिया-जमींदारी केस हाथ में लिया। ब्रह्मबांधव उपाध्याय का मुकदमा। विपिनचन्द्र पाल का मुकदमा।
१६०८	....	अरविन्द घोष तथा मानिकतल्ला बम-षड्यंत्र के अन्य अभियुक्तों की पैरवी की।
१६११	...	ढाका षड्यंत्र के अभियुक्तों की पैरवी की।
१६१३	१४ मई	अपना और अपने पिता का सारा ऋण चुकाकर दिवालियेपन की घोषणा रद्द कराई। 'सागर-संगीत' प्रकाशित हुआ।
१६१४	जुलाई	पुरुलिया में पिता की मृत्यु। राजघराने के एक दूर के सम्बन्धी केशवप्रसाद सिंह की ओर से डुमराँव-केस हाथ में लिया।
१६१७	....	बंगाल प्रान्तीय कान्फ्रेंस, भवानीपुर के अध्यक्ष हुए।
१६१८	....	टाउनहाल में 'भारत-रक्षा विधान' (डिफेंस ऑव इण्डिया ऐक्ट) की निन्दा करते हुए भाषण किया।

१९१९	....	काँग्रेस की जलियाँवालाबाग़ जाँच-समिति के सदस्य। अमृतसर काँग्रेस में प्रथम बार अड़ंगा-नीति का प्रस्ताव। कलकत्ता मैदान की विराट सभा में रौलट ऐक्ट के विरोध-स्वरूप महात्मा गाँधी के निष्क्रिय प्रतिरोध (सत्याग्रह) आन्दोलन का समर्थन।
१९२०	मार्च	महात्मा गाँधीजी ने सरकार से असहयोग करने की घोषणा की।
	४ सितम्बर	लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में हुई कलकत्ता की विशेष काँग्रेस में महात्माजी के असहयोग-कार्यक्रम का विरोध किया।
	दिसम्बर	श्री विजयराघवाचार्य की अध्यक्षता में हुई नागपुर काँग्रेस में असहयोग कार्यक्रम को अपनाया।
१९२१	जनवरी	बैरिस्टरी छोड़ दी। पूर्व बंगाल आसाम में राजनीतिक दौरा। ढाका में राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना। जिला मजिस्ट्रेट द्वारा मैमनसिंह जिले में प्रवेश करने की रोक। निषेधाज्ञा उठाई गई। मैमनसिंह, तंगेल, हबीबगंज, मौलवी-

		बाज़ार, सिलहट, कोमिल्ला, चटगाँव इत्यादि का दौरा। बारीसाल-सम्मेलन में प्रतिनिधि रूप में सम्मिलित हुए।
१९२१	२५ नवम्बर	स्वयंसेवक दल ग़ैर क़ानूनी घोषित। सार्वजनिक सभाओं पर रोक। कलकत्ता-आगमन पर लार्ड रीडिंग ने बंगाल सरकार द्वारा जारी किये गये दमन के अस्त्रों का समर्थन किया।
	२७ नवम्बर	कांग्रेस-कमिटी ने स्वयंसेवक-दल के ग़ैर क़ानूनी घोषित करने एवं सार्वजनिक सभाओं की रोक-सम्बन्धी सरकारी क़ानूनों को अमान्य करने का निश्चय किया।
	२८ नवम्बर	खिलाफ़त कमिटी ने कांग्रेस-कमिटी के उपर्युक्त निश्चय को स्वीकार किया। बंगाल की कांग्रेस एवं खिलाफ़त कमिटियों-द्वारा चित्तरंजन दास 'डिक्टेटर' बनाये गये। डिक्टेटर की हैसियत से चित्तरंजन ने कई विज्ञप्तियाँ निकालीं और १० लाख स्वयंसेवकों के लिए अपील की। सरकार ने इन विज्ञप्तियों को एवं स्वयंसेवकों की अपील को ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया।

१६२१	३० नवम्बर	बंगाल गवर्नर लार्ड रोनाल्डशेने, कलकत्ता के सेण्ट एण्डरूज भोज में, चित्तरंजन की बड़ी प्रशंसा की पर शासन के सम्बन्ध में धमकी एवं चेतावनी भी दी।
	६ दिसम्बर	बहुत से स्वयं-सेवक, जिनमें चित्तरंजन के पुत्र भी थे, बड़ाबाज़ार में गिरफ़्तार हुए।
	७ दिसम्बर	अन्य स्वयंसेवकों के अलावा, चित्तरंजन की पत्नी, बहन तथा अन्य महिलाएँ गिरफ़्तार हुईं पर थोड़ी देर बाद छोड़ दी गईं।
	१० दिसम्बर	क्रिमिनल-ला अमेण्डमेण्ट ऐक्ट की १७ वीं धारा के अनुसार चित्तरंजन गिरफ़्तार हुए।
	२५ दिसम्बर	चूँकि विचाराधीन क़ैदी थे इसलिए अहमदाबाद कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने पर भी उसका सभापतित्व न कर सके। दिल्ली के हकीम अजमलखाँ उनकी जगह पर अध्यक्ष हुए।
		प्रिंस ऑफ वेल्स का कलकत्ता-आगमन तथा ज़बर्दस्त हड़ताल।
१६२२		कांग्रेस सविनय अवज्ञा-समिति ने रिपोर्ट दी कि अभी समय अनुकूल नहीं है।

	६ जनवरी	चित्तरंजन को छः महीने की सजा हुई गोलमेज-सम्मेलन के लिए रीडिंग-मालवीय समझौता। महात्माजी की स्वीकृति की शर्त के साथ चित्तरंजन का समर्थन।
	जुलाई	जेल से आने पर मिर्ज़ापुर पार्क (कलकत्ता) में अभिनन्दन-पत्र अर्पण।
	दिसम्बर	गया कांग्रेस का सभापतित्व तथा दल की स्थापना।
१९२३	सितम्बर	अंग्रेजी दैनिक 'फारवर्ड' निकाला। कांग्रेस के दिल्ली विशेषाधिवेशन में कौंसिल-प्रवेश की अनुमति।
	दिसम्बर	मौलाना मुहम्मदअली की अध्यक्षता में हुई कोकनद (काकनाडा) कांग्रेस में कौंसिल प्रवेश का प्रस्ताव पास हुआ। कौंसिल में स्वराजियों का प्रवेश तथा सर सुरेन्द्रनाथ और श्री एस० आर० दास-जैसे प्रमुख लिबरलों की हार। बंगाल की कौंसिल में बहुमत दल के रूप में स्वाराजियों का प्रवेश। गवर्नर लार्ड लिटन द्वारा देशबन्धु को मंत्रिमण्डल बनाने का निमंत्रण; देशबन्धु की अस्वीकृति।

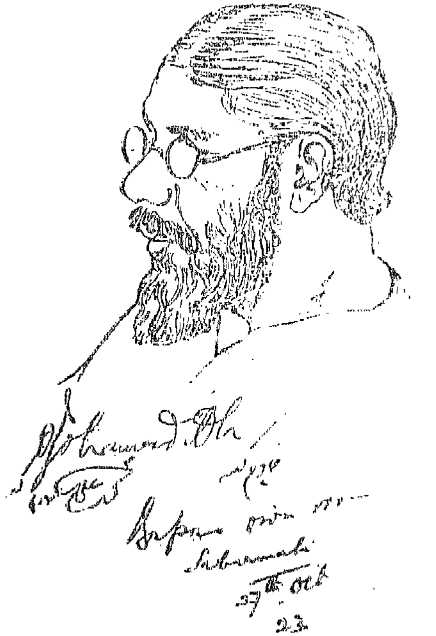
स्वतंत्रदल वालों से समझौता।

हिन्दू मुस्लिम पैक्ट।

भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता।

१६२४	जनवरी	लार्ड लिटन के मंत्रित्व ग्रहण करने के प्रस्ताव को अस्वीकार किया।
		स्वराजियों का कलकत्ता कार्पोरेशन पर अधिकार। देशबन्धु प्रथम मेयर निर्वाचित हुए।
	२४ मार्च	बंगाल कौंसिल में मंत्रियों के वेतन का बजट (२,४०००० रु०) अस्वीकार करने का प्रस्ताव। प्रस्ताव के पक्ष में ६३ और विपक्ष में ६२ मत आये।
	अप्रैल	सिराजगंज कान्फ्रेंस और गोपीनाथ साहा सम्बन्धी प्रस्ताव। देशबन्धु ने कांग्रेस की ओर से तारकेश्वर के महन्त के विरुद्ध लगाये इलजामों की जाँच के लिए कमिटी नियुक्त की।
		तारकेश्वर में सत्याग्रह का आरम्भ। महन्त सतीशगिरि से समझौता।
		भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन (कलकत्ता) की अध्यक्षता।

१९२४	दिसम्बर	महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में हुई बेलगाँव कांग्रेस में शामिल हुए।
१९२५	मार्च	रीडिंग-बर्केनहेड-दास की समझौते की बात-चीत।
		बंगाल-कौंसिल में मंत्रियों का वेतन अस्वीकार करने का प्रस्ताव। प्रस्ताव के पक्ष में ६९ और विरुद्ध में ६३ मत।
		अपनी सारी सम्पत्ति का ट्रस्ट बनाकर देश को अर्पण।
	३० मार्च	हिंसात्मक कार्यों की निन्दा करते हुए विज्ञप्ति निकाली।
	४ अप्रैल	दमन और हिंसात्मक कार्यों की निन्दा करते हुए दूसरी विज्ञप्ति निकाली।
	२ मई	फरीदपुर कान्फ्रेंस के अध्यक्ष-पद से दिये अपने भाषण में सम्मानपूर्ण समझौते का प्रस्ताव।
	१६ मई	दार्जलिंग-आगमन।
	१६ जून	५ बजकर १५ मिनट पर संध्या के समय दार्जलिंग में देहावसान।



मुहम्मद अली

मुहम्मद अली

जन्म	मृत्यु
दिसम्बर १८७८ ई०	४ जनवरी १९३१ ई०

His strength was the strength of ten
Because his heart was pure,

...SIR GALAHAD.

× × ×

"उसमें दस आदमियों की शक्ति थी क्योंकि उसका हृदय पवित्र था।"

—सर गैलहैड।

[१]

वह मुहम्मद अली !

सद साल दौरे चर्ख़ था सागर का एक दौर,
निकले जो मैकदे से तो दुनिया बदल गई।

१६२० में देश में जो राष्ट्रीय आँधी उठी उसमें जन-मत कहाँ से कहाँ पहुँच गया। भिक्षा का काल समाप्त हुआ और देश की त्रस्त आँखों ने किंचित् विश्वास से अपनी भुजाओं की ओर देखा। देखते-देखते राष्ट्र में एक नशा चढ़ गया। वाणी का युग गया और कर्म का युग आया। प्लेटफार्म विनोद की जगह खतरे की चीज़ बन गये। यह समय था जब भारतीय आत्मा में मंथन हो रहा था और इस मंथन ने राष्ट्र का नक़्शा बदल दिया।

पर तूफान के चिह्न तो १६१६ की अमृतसर कांग्रेस में ही दिखाई पड़ने लगे थे और देखनेवालों ने उन्हें अच्छी तरह देखा। मौलाना मुहम्मदअली का विश्वास अंग्रेज़ी-शासन से हट गया था पर जेल से छूटने के बाद जन-मनोवृत्ति में जो परिवर्तन उन्होंने अमृतसर कांग्रेस में देखा, उससे वह भी बदल गये। यहाँ जो देखा उसे देखकर फ़ारम से निकलते-निकलते उन्होंने यह शेर दोहराया—

सद साल दौरे चर्ख़ था सागर का एक दौर,
निकले जो मैकदे से तो दुनिया बदल गई।

सचमुच दुनिया बदल गई थी और बहुत जल्द वह बदली हुई दुनिया सार्वजनिक जीवन में नाना जीवित-जाग्रत रूपों में प्रतिबिम्बित हुई।

उस तूफ़ानी युग में अनेक बार मौलाना मुहम्मदअली को देखा। लम्बे, सुडौल—भरा हुआ शरीर और चमकती आँखें। तलवार की तरह काटनेवाली जिह्वा! जब बोलते तो कलेजा निकालकर रख देते। मानों भारत के दिल में जो व्यथा है वह, अत्यन्त स्वाभिमान के साथ, दिल से टपक रही है! जीते जागते शब्द, काव्य के प्रवाहपूर्ण सौन्दर्य में लिपटे हुए! उनकी वह आकृति भूलती नहीं; वह भूलने की चीज़ भी नहीं और आज जब फिर वह आकृति दिखने की कोई संभावना नहीं रही है तब उसकी याद रह-रहकर बिजली की तरह चमकती है।

राष्ट्र का दुर्भाग्य कि मुहम्मदअली १६२१ में अपने जिस सर्वोत्तम रूप में चमके थे, वह फिर दिखाई न पड़ा। नहीं तो आज के इन तुच्छ साम्प्रदायिक झगड़ों का और रूप होता। जो ज्वार उस समय उनमें आया था, उसने राष्ट्र को पागल कर दिया था। वे दिन याद करने की चीज़ भर रह गये हैं जब कराची में उनपर लगाये गये जुर्म को प्रत्येक स्थान पर सभा करके सारा राष्ट्र दोहरा रहा था। वह एक अद्भुत नशा था जिसमें राष्ट्र की साहसिकता, खतरे की परवा न करके, नाच उठी थी! कहाँ गये वे दिन! बी अम्मा के पुत्र में वीर माता की वह वीर वाणी—

"याद रक्खो यदि जाति की सेवा से ज़रा भी हटकर तुमने गवर्नमेण्ट की बात मानी तो मैं तुम्हारा गला घोंट दूँगी।"*

एक बार ही चमककर क्यों नष्ट हो गई? और वह वीर माता, वह सच्ची राजपूतनी, जिसने पुत्र का गला घोंट देने का वादा किया था, अन्त तक देखने को क्यों जीवित न रही?

× × ×

पर जो हो; मैं तो सदा मानता रहा कि वह निर्भय और वीर, वह सिपाही और योद्धा, वह राष्ट्रीय स्वाभिमान का प्रतीक मुहम्मद

*टर्की के झगड़े में पहली नज़रबंदी के समय बी अम्मा ने मुहम्मद-अली से ये शब्द कहे थे।

अली ही, जो असहयोग-काल में दिखाई पड़ा, सच्चा मुहम्मदअली था। बाद के मुहम्मदअली तो उसकी स्मृति के खंडहर-मात्र थे! यह उस जागृति की जीवित समाधि थी जिसे एक समय उन्होंने जागाया था और जो अन्तिम दिनों तक उनकी ओर हसरत से देखती रही और अन्त में ऐसी आकर्षक बनी और मुहम्मदअली के दिल में वह दर्द पैदा किया कि वह वतन के इस दर्द में, उस भूत जागरण का स्वप्न देखते-देखते, और भविष्य के लिए लोगों से उसी को फिर लाने की अपील करते-करते, निमग्न हो गये और आज हम भी खुश होकर, किंचित् गौरव के साथ, बी अम्मा के इस वीर बच्चे को प्रणाम करते हैं और दिल मानो कहना चाहता है कि—"ऐ मुसाफ़िर, तूने अपने को खूब निबाहा और जिस मंज़िल पर भी तू आज हो, ईश्वर तुझे शान्ति दे। तुझे, तेरी गौरव-पूर्ण रक्त में भरी हुई जीवनमयी स्मृति को हम प्रणाम करते हैं! बीच में तू रास्ता भूल गया था, न भूलता तो आज हम तुझे दिल में भी जगह देते और राष्ट्र के निर्माताओं में तुम्हारा स्थान मौ० 'आज़ाद' के साथ होता। पर अब तो जो है सो है!"

[२]

जीवन-कथा

जन्म और बचपन

मौलाना मुहम्मद अली के पितामह श्री अलीबख़्श खाँ रामपुर राज्य (युक्तप्रान्त) के प्रतिष्ठित अधिकारियों में थे। वह नवाब के दाहिने हाथ समझे जाते थे। उन्होंने ग़दर के समय अंग्रेज़ों की बड़ी सहायता की थी। अलीबख़्श खाँ के पुत्र मौ० अब्दुल अली खाँ भी, पिता की तरह ही, रामपुर राज्य के एक उच्च पदाधिकारी थे। उनके घर प्रसिद्ध बी अम्मा के गर्भ से मुहम्मद अली का जन्म दिसम्बर १८७८ ई० में हुआ। जब यह गोद में थे तभी इनके पिता का देहान्त हो गया। उस समय इनके बड़े भाई शौकतअली सिर्फ़ दो वर्ष के थे। वीर माता ने इन दोनों बच्चों को अपने स्नेह से पाला और इस माता के अन्दर जो अच्छे संस्कार थे वे मुहम्मद अली में आरंभ से ही प्रकट हुए।

शिक्षा

मुहम्मद अली की प्रारंभिक शिक्षा कुछ दिन तो घर पर हुई। बाद में यह रामपुर स्टेट स्कूल में भरती हुए। वहाँ से फिर बरेली आये और बरेली हाई स्कूल में पढ़ते रहे। हाईस्कूल की शिक्षा समाप्त कर एम० ए० ओ० कालेज अलीगढ़ में शिक्षा पाई। यह अपने कालेज के अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्रों में थे। इनकी प्रतिभा का परिचय पाकर कालेज के मंत्री नवाब मुहम्मद इसहाक़ खाँ ने, बी० ए० पास कर लेने के बाद, सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए इन्हें इंग्लैण्ड भेज दिया। १८९८ ई० में यह इंग्लैण्ड गये और आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी (लिंकन कालेज) में १८९८ से १९०२ तक अध्ययन करते रहे। आई० सी० एस० की परीक्षा भी दी पर उसमें असफल रहे। बीच में कुछ दिनों के लिए भारत लौटे पर पीछे फिर

वापस जाकर आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी की बी० ए० की परीक्षा दी और उसमें सफल होने पर १९०२ में भारत लौटे। उन दिनों 'आक्सफर्ड युनिवर्सिटी युनियन' उनके भाषणों से चमक-सा उठा था।

१९०२ ई०में भारत लौटे। लौटते ही इन्हें रामपुर राज्य के शिक्षा-विभाग के प्रधान अधिकारी का पद मिल गया। एक वर्ष तक इन्होंने यह काम किया। दूसरे साल बड़ौदा चले गये और वहाँ गायकवाड़ की सिविल सर्विस में प्रवेश किया और वहां के अफीम के महकमे में काम किया। १९०४ से १९१० तक इस पद पर रहे और अपने विभाग में कई सुधार किये।

जीवन में प्रवेश

इन कामों को करते हुए भी यह अपनी जाति के हित के कार्यों में भाग लेते रहते थे। १९०६ ई० में जो मुस्लिम लीग कायम हुई उसके संस्थापकों में यह भी एक थे। इनके कलम में बड़ी ताकत थी; प्रायः पत्रों में यह लेख लिखा करते थे। १९१० ई० में इन्होंने बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और १९११ ई० में कलकत्ता से अंग्रेज़ी में 'कामरेड' नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला। इस पत्र ने आपकी सुन्दर मँजी हुई अंग्रेज़ी और विचार-शैली के कारण बड़ा नाम पाया। इन्हीं दिनों जावरा (मध्यभारत) के नवाब तथा सर माइकेल ओडायर ने जावरा का प्रधान मंत्रि-पद स्वीकार करने के लिए इन पर ज़ोर डाला पर अब यह देश एवं जाति की सेवा का निश्चय कर चुके थे इसलिए इन्होंने यह अनुरोध अस्वीकार कर दिया।

सार्वजनिक कार्य

यह कभी-कभी 'टाइम्स ऑव इण्डिया' 'इण्डियन स्पेक्टेटर' इत्यादि पत्रों में भी अपने लेख छपवाया करते थे जिनके कारण इनकी बड़ी ख्याति हुई। इसी समय इनके मन में मुसलमानों के लिए एक जातीय विश्वविद्यालय खोलने का विचार उत्पन्न हुआ और इन्होंने विश्वविद्यालय के भावी स्वरूप का एक ढाँचा भी तैयार किया पर कुछ समय के बाद

मुस्लिम विश्व-विद्यालय

अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज को ही मुस्लिम विश्वविद्यालय में परिणत करने के अभिप्राय से देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में घूमकर चन्दा इकट्ठा करने लगे।

कानपुर मस्जिद का मामला

जब ३ अगस्त सन् १६१३ ईस्वी को मछलीबाजार कानपुर की मस्जिद का कुछ हिस्सा गिरा दिया गया और इसके कारण सरकारी अफसरों और मुसलमानों में लड़ाई हो गई और गोली भी चलाई गई, उस समय मौलाना साहब ने सरकारी पक्ष की कड़ी आलोचना करते हुए मुस्लिम जनता के बचाव का विशेष प्रयत्न किया था और जब इनको इसमें काफी सफलता होती न दीख पड़ी तब यह विलायत चले गये और वहाँ विविध पत्रों-द्वारा विलायत की जनता को कानपुर के मामले की जानकारी कराई। अन्त में इनका प्रयत्न सफल हुआ और उस मस्जिद का टूटा हिस्सा बनवा दिया गया और जो मुसलमान, इस सम्बन्ध में, गिरफ्तार किये गये थे वे छोड़ दिये गये।

गिरफ्तारी, नजरबंदी और रिहाई

१६१२ में दिल्ली भारत की राजधानी बनाई गई। तब से 'कामरेड' भी कलकत्ता से दिल्ली आया। १६१३ ई० में यहाँ से उर्दू दैनिक 'हमदर्द' भी निकाला। इसके साथ ही अपने बड़े भाई मौलाना शौकत अली के सहयोग से, मुहम्मद अली ने 'खुद्दामे काबा' आन्दोलन भी चलाया था और १६१२ ई० में जब तुर्की-बालकन युद्ध हुआ तो उन्होंने चन्दा करके सेवा-सहायता के लिए एक स्वयंसेवक-मण्डल तुर्की भेजा था। १६१४ ई० में युरोपीय महायुद्ध आरंभ हुआ। उस समय तुर्की और ब्रिटेन में भी लड़ाई छिड़ने की संभावना हुई। तब भारत-सरकार के अनुरोध से मौलाना मुहम्मद अली और डा० अंसारी ने तुर्की के प्रधान मंत्री श्री तलअत पाशा को तार दिया कि 'तुर्की को इस युद्ध में निरपेक्ष रहना चाहिए अन्यथा इसलामी दुनिया पर मुसीबत आवेगी।' पर घटनाएँ इस

क्रम से घट रही थीं कि तुर्की को युद्ध में जर्मनी के पक्ष से शामिल होना पड़ा। उस समय मौलाना मुहम्मद अली ने 'कामरेड' और 'हमदर्द' में तुर्की के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए, कई ज़बर्दस्त लेख लिखे। उनके कारण मई १९१५ ई० में, अपने बड़े भाई शौकत अली के साथ, ('डिफेंस ऑव इण्डिया ऐक्ट' अथवा 'भारत-रक्षा कानून' के अनुसार) गिरफ़्तार किये गये और महरौली, लैंसडौन तथा छिंदवाड़ा में नज़रबन्द रखे गये। नज़रबन्दी की आधी अवधि समाप्त होने पर यह जेल में रखे गये पर इन कठिनाइयों से यह ज़रा भी विचलित नहीं हुए। इनकी जायदाद का अधिकांश नष्ट हो गया पर सरकार ने कोई परवाह न की। इन बातों के कारण लोगों में असन्तोष पैदा हुआ। स्थान-स्थान पर, सभाएँ की गईं और सरकार को तार दिये गये। भारतीय मुसलमानों ने वायसराय के पास एक 'मेमोरियल' भी भेजा पर सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। हाँ, जब भारतमंत्री श्री मांटेगू भारत आये तब सरकार ने इस शर्त पर इन्हें छोड़ना चाहा कि लड़ाई ख़त्म होने तक वे राजनीतिक मामलों में न शामिल न हों। इन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया। जब इस ('डिफेंस ऑव् इण्डिया') क़ानून की अवधि समाप्त हो गई तो जून १९१९ से दिसम्बर १९१९ तक रेगुलेशन ३ के अनुसार बेतूल जेल में रखे गये। अन्त में जब लड़ाई की समाप्ति के बाद १९१९ में नवीन सुधारों की घोषणा हुई और बहुत-से कैदी मुक्त हुए तब यह भी छोड़ दिये गये।

खिलाफ़त और असहयोग आन्दोलन में

छूटने के बाद ही यह अमृतसर-कांग्रेस में प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए। इस समय तक वातावरण बदल गया था। खिलाफ़त की समस्या को लेकर मुसलमानों में बड़ी बेचैनी फैली हुई थी। इस सम्बन्ध में एक डेपूटेशन लेकर मार्च १९२० में यह इंग्लैंड गये। वहाँ प्रधान मंत्री और बड़े-बड़े लोगों से भेंट की पर ऐसे आवेदनों से क्या

होना जाता था ? वहाँ तुर्की और अरब नेताओं से भी भेंट हुई और उनसे बात-चीत करने पर इनके मन में यह बात बैठ गई कि गुलाम देश के निवासियों की सुनवाई कहीं नहीं होती अतः सबसे पहले अपने मुल्क को आज़ाद करना चाहिये।

इधर जब अक्टूबर १९२० में यह भारत लौटे तब तक देश का नक्शा बदल गया था उधर मुसलमानों ने हिजरत का आन्दोलन शुरू कर दिया था और देश छोड़कर काबुल जा रहे थे; इधर पंजाब की दुर्घटनाओं के कारण जनता में घोर असन्तोष उत्पन्न हो चुका था। हिजरत का आंदोलन तो असफल रहा पर गाँधीजी का आंदोलन बढ़ता गया। १९२० के सितम्बर में कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। और फिर दिसम्बर में नागपुर कांग्रेस हुई जिसमें राष्ट्र ने आत्मावलम्बन के नये पथ पर चलने का निश्चय किया और असहयोग का कार्यक्रम पास हुआ। तब मौलाना मुहम्मद अली अपने बड़े भाई शौकतअली के साथ, गांधीजी के मुख्य सहायक नेताओं के रूप में जनता के सामने आये।

सितम्बर १९२१ में कराँची में खिलाफत कान्फ्रेंस हुई। इसमें मौलाना मुहम्मदअली ने मुसलमान सैनिकों को सम्बोधन करते हुए कहा कि

फिर गिरफ्तारी

'मुसलमान सैनिकों को इस्लाम के शत्रुओं की नौकरी छोड़ देनी चाहिये।' इसी जुर्म पर १४ सितम्बर १९२१ को यह निज़ामापट्टम में गिरफ्तार किये गये। इसी सम्बन्ध में डा० किचलू, जगद्गुरु शंकराचार्य इत्यादि भी गिरफ्तार किये गये। अक्टूबर में मुक़दमा शुरू हुआ। इन लोगों पर सरकार के विरुद्ध षड्-यंत्र करने और सेना को राजभक्ति से हटाने का प्रयत्न करने का जुर्म लगाया गया। मौलाना मुहम्मदअली ने मुक़द्दमे के समय वीरता-पूर्वक कहा—"दर असल खिलाफती नेताओं का फैसला नहीं हो रहा है वरन् सरकार की परीक्षा हो रही है जिसने ईश्वरीय क़ानूनों का उल्लंघन किया है।" इस मुक़द्दमे में अभियुक्तों पर षड्यंत्र का जुर्म सिद्ध नहीं हुआ। दूसरे

जुर्म में २ नवम्बर १६२१ को इन दोनों भाइयों को दो-दो वर्ष कड़ी कैद की सज़ा हुई।

पूरी सज़ा भुगतने के बाद मौ० मुहम्मदअली, अपने बड़े भाई के साथ, ३ सितम्बर १६२३ को बीजापुर जेल से छूटे। छूटने पर देश में उनका बड़ा स्वागत हुआ। इस समय गांधी जी जेल में थे। स्वराजियों और गांधीवादियों का झगड़ा

रिहाई और सम्मान

ज़ोरों पर था। इस सम्बन्ध में १५ सितम्बर १६२३ को दिल्ली में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ और मौ० मुहम्मद अली के विशेष प्रयत्न से दोनों दलों में समझौता हो गया। इसी साल (२८ दिसम्बर १६२३) कोकोनाडा (या कोकनद) कांग्रेस के अध्यक्ष हुए। इस प्रकार राष्ट्र ने उनकी सेवा के बदले उन्हें सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया।

१६२४-२५ में देश में हिन्दू-मुसलमानों में जो कलह और दलबन्दी शुरू हुई उसमें मौलाना मुहमम्दअली दृढ़ रहे और सदा दोनों जातियों में मेल कराने की कोशिश करते रहे। उन्हीं के विशेष प्रयत्न से, गांधी जी के २१ दिन के उपवास के बाद, सर्व-धर्म सम्मेलन की बैठक दिल्ली में हुई थी। पर १६२६ से धीरे-धीरे वह शिथिल पड़ने लगे और १६२७ की मद्रास कांग्रेस में मुसलमानों के अधिकारों के विषय में मतभेद होने के कारण कांग्रेस से अलग हट गये। तब से प्रायः अलग ही रहे। पर अन्तिम दिनों में देश की दुर्दशा देखकर वह बहुत दुखी थे और हृदय-रोग में स्वास्थ्य बहुत ज्यादा खराब होने पर भी वह गोलमेज-सम्मेलन में शरीक होने के लिए इस आशा से इंग्लैण्ड गये कि संभव है देश की समस्या कुछ सुलझ जाय। इस कान्फ्रेंस में भाषण देते समय उन्होंने कहा था कि 'यदि आप हमें स्वतंत्रता न देंगे तो संभव है कि यहीं हमारी कब्र का प्रबन्ध आपको करना पड़े।' उस समय कौन जानता था कि उनकी वाणी में भावी बोल रही है और ये शब्द इतनी जल्द सत्य होंगे।

मत भेद

स्वास्थ्य तो पहले से ही खराब था फिर हजारों मील की लम्बी यात्रा और उसपर रात-दिन का परिश्रम। दिन दिन स्वास्थ्य गिरता गया।

देहावसान

३ जनवरी की आधी रात तक वह हिन्दू-मुसलमानों के नाम इस आशय की एक अपील लिखते और उसे दोहराते रहे कि परस्पर के सारे मत-भेदों को भुलाकर राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए मिलकर काम करना ही इस समय वांछनीय है।' सुबह ४ बजे उनकी तबियत बहुत खराब हो गई। ५ बजे से तो बेहोश ही हो गये और रक्तवाहिनी नली के फट जाने से ४ तारीख को ६ बजकर ३० मिनट पर, देश के लिए लड़ते-लड़ते, मौलाना मुहम्मदअली, शहीद हो गये।

उनके देहावसान पर सारे भारत में हड़ताल हुई, शोक मनाया गया। पर उनके देहावसान से जो स्थान खाली हो गया वह तो आजतक खाली ही है। आज उनकी मृत देह जेरुसलम में गड़ी हुई पड़ी है और उनकी आत्मा स्वतन्त्र राष्ट्रनिर्माण के लिए हमसे अपील कर रही है।

[३]

व्यक्तित्व का विश्लेषण

एक मुसलमान, इस्लाम की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों के साथ; एक देशभक्त धर्मान्ध की सारी कट्टरता के साथ; एक उपदेशक (प्रीस्ट) भाव-प्रवाह की सारी भयानकता के साथ। उदारता के सामने उदार, कट्टरता के सामने कट्टर। —जिसकी जिह्वा में शक्ति है और जिसकी कलम में ताकत पर जो उनसे विष उगलना जानता है; उसे चुपचाप पीना नहीं। राजपूत की तरह वीर और कट्टर; एक का जवाब दो से देने वाला;—यह मुहम्मदअली थे!

एक निगाह में

भारतीय राजनीति में मुहम्मदअली का उदय और विकास, अध्ययन का एक मनोरंजक विषय है। यह मानो सम्पूर्ण उत्साह के साथ कहना चाहता है कि स्वतंत्रता के युद्ध में धर्म को लाकर हमने गलती की है—धर्म सदाचार और पवित्रता का आकर नहीं; धर्म कट्टरता, जोश और भाव-प्रवाह का उत्तेजक। समूह ने सदा धर्म को इसी रूप में ग्रहण किया है और इसीलिए उसके धर्म के सामने देश, समाज, व्यक्ति सब तुच्छ हैं। गांधी ने धर्म को उसके समन्वयात्मक रूप में ग्रहण किया पर अशिक्षित जनता उसे सदा विभागात्मक रूप में ग्रहण करती है। तुम्हारा आन्दोलन यदि हमारी चिर-पोषित खिलाफत की समस्या हल कर देता है तो वह अच्छा है; उसका स्वागत। तुम्हारा आन्दोलन यदि अस्पृश्यता की समस्या उठाले और हमारे धर्म में हाथ डालने लगे तो बुरा है; उसका सत्यानाश!—रास्ते पर चलनेवाला साधारण आदमी इसे यों ग्रहण करता है। उसका धर्म उसकी परम्परा है, जिसे वह बाप-दादों से सुनता आया है, जो

धर्म बनाम राजनीति

उसकी रीति-नीति में बैठ गया है; वह नहीं, जिसका एक नवीन अर्थ आज किया जा रहा है!

इस तरह इस प्रयोग में जहाँ असीम संभावनाएँ हैं वहाँ उसमें असीम खतरा भी। गांधी इस प्रयोग का एक पक्ष है और मुहम्मदअली दूसरी बाजू।

यों लें। पहली बात मुहम्मदअली के बारे में यह कि वह मुसलमान थे।—**मुसलमान शब्द से जो समझा जाता है और जो समझना चाहिए,** दोनों अर्थों में, सारी बुराई-भलाई के साथ। मुसलमान के साथ पहली बात यह है कि वह प्रथम श्रेणी का श्रद्धालु है। उसकी श्रद्धा अन्धविश्वास तक

मुसलमान की श्रद्धा।

बढ़ी हुई है। इस श्रद्धा का जो अपमान करे, जो उससे हटे, काफिर है, त्याज्य है। यह श्रद्धा हिन्दू की श्रद्धा की तरह नम्र, अवगुंठनवती हिन्दू-नारी की तरह अपने ही अन्दर सिकुड़ी-सिमटी हुई, हलकी हलकी शर्म और मुलायम-मुलायम शील को लेकर चलनेवाली नहीं। यह वह श्रद्धा नहीं जो क्रोध को पी जाती है; जो अपमान के प्रति उदासीन है और हँसी उड़ाने एवं चोट करने पर, नवोढ़ा की लज्जा के साथ, बहुत हुआ तो, एकबार आँख उठाकर सहमी-सहमी-सी देख लेती है; टप-टप दो बूँद आँसू पृथ्वी पर गिरा देती है और दुनिया के अनन्त मार्ग पर फिर शान्ति के साथ चलना आरम्भ कर देती है। यह वह श्रद्धा है जो कल-गान नहीं गाती; बिजली की तरह कड़कती है। जो लक्ष्मी नहीं दुर्गा है। जो अपमान करनेवाले को क्रुद्ध, लाल, ज्वालामयी आँखों से देखती है और बस चले तो उसका खून पी जाना चाहती है। जो फास्फोरस की तरह जलकर आग लगा देनेवाली है और जिसमें चन्द्रिका की मन्द प्रभा नहीं, मार्तण्ड का प्रखर—असह्य—प्रकाश है!

सुनते हैं, अपने प्रारम्भिक यौवन में मुहम्मदअली धर्म के वैसे कट्टर न थे। शायरी का रंग चढ़ा हुआ था और यौवन के लचीलेपन

तथा काव्य की धर्म-बन्धन को काट देनेवाली प्रवृत्ति में वह ओत-प्रोत हो रहे थे। यह एक धर्म से मुसलमान पर हृदय से हिन्दू, शायर और रिन्द, मित्र की राय है जिन्होंने मुहम्मदअली को नज़दीक से देखा था। पर हम इससे सहमत नहीं। हम इतना मानते हैं कि यह कट्टरता, यह 'ईमान' कैशोर एवं यौवन के अल्हड़ प्रवाह में जल-क्रीड़ा करते समय अपने को भूल गया पर ज्यों ज्यों धारा बहती गई, यौवन दूर हटने लगा, परदा उठा और उम्र आई, जनता के नज़दीक आना पड़ा त्यों-त्यों वह मुसलमान का ईमान निखरता गया।

मुहम्मद अली के जीवन में यह ईमान और श्रद्धा, राजपूत की युद्ध में मज़ा लेने वाली मनोवृत्ति के साथ, व्यक्त हुई। यह उसी श्रद्धा का करिश्मा था कि तुर्की का ध्यान भारत के पहले आता था। तुर्की का ध्यान केवल इसलिए नहीं कि वह एक स्वतंत्र मुसलमान राष्ट्र है; इसलिए कि उसमें धर्म की परम्परा—खिलाफ़त की गद्दी चली आई है। उस पर चोट न पड़े इसलिए अंग्रेज़ों का, ब्रिटिश सरकार का विरोध भी करना पड़े तो हर्ज नहीं। फल क्या होगा, इसकी इस श्रद्धा को परवा नहीं। धर्म का ख़तरा उसे उत्तेजित कर देने के लिए काफ़ी है। उसके लिए कुरान का प्रत्येक शब्द ईश्वराज्ञा का अन्तिम शब्द है और हज़रत मुहम्मद उसके एक मात्र प्रवक्ता। १३०० वर्ष पूर्व उन्होंने जो कहा था वह मुहम्मद अली के कानों में गूँजता है। वह झण्डा गिर जायगा, यह ख़याल उन्हें पागल कर देने के लिए काफ़ी है। 'कामरेड' के अग्रलेख पढ़ जाइए; 'हमदर्द' की टिप्पणियाँ देखिए; उनके व्याख्यानों को पढ़िए, सर्वत्र आपको इस्लाम के प्रति उनकी बाधा-बंध विहीन वेदना, श्रद्धा फूट-कर निकलती दिखाई देगी। इस श्रद्धा के आगे महान् से महान् पुरुष तुच्छ है, यदि वह इस्लाम पर ईमान नहीं लाता। इसके आगे 'महात्मा गांधी से एक अत्यन्त पतित मुसलमान अच्छा है।' वह महात्मा है तो

यह श्रद्धा कैसे चलती है?

क्या, मुसलमान तो नहीं ! सच पूछें तो इस श्रद्धा, इस धर्म-भक्ति की समझ के बाहर, यह बात, है कि एक अ-मुस्लिम—काफ़िर—एक मुसलमान से बढ़कर कैसे हो सकता है ? मुसलमान के लिए इस श्रद्धा में ढिलाई नहीं, छूट नहीं। सच तो यह कि वह इसी नाप से मनुष्य के बड़प्पन को नापता है। हिन्दू अनीश्वरवादी होकर भी हिन्दू रह सकता है पर मुसलमान कुरान के, अल्लाह के और उसके प्रवक्ता के एक शब्द पर भी आपत्ति करके मुसलमान नहीं रह सकता। यह उसी प्रकार इस्लाम का गुण दोष दोनों हैं जैसे सब प्रकार की छूट, सब प्रकार की उदारता और स्वतंत्रता हिन्दू धर्म का गुण दोष दोनों है। इस कट्टरता ने, इस कठोर बंधन और अनुशासन ने मुसलमान को मुसलमान रखा है। इसी से मुसलमान जीवित है। जहाँ उसने इसे छोड़ा, गया। कमालपाशा (जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में देखते-देखते सूर्य की भाँति उदय हुआ और जिसके कारण इस्लाम का सिर वस्तुतः इतना ऊँचा उठा जितना सैकड़ों मुहम्मद अली नहीं उठा सकते थे) इसके सामने आदर्श नहीं रख सकता; इब्नसऊद इसके आगे हेच है !

इसी को लेकर मुहम्मद अली इंग्लैण्ड गये; इसी को लेकर उन्होंने तुर्की का समर्थन किया और इसी के कारण सरकार का विरोध भी किया। निर्भयता इस प्रवृत्ति की विशेषता है और इसीलिए, मौलाना मुहम्मद अली अपने समय के अत्यन्त निर्भीक नेताओं में से एक थे। यही निर्भीकता प्रायः अत्यन्त स्वच्छन्द रूप में प्रकट होती रही है। वह इस व्यक्ति के जीवन के साथ खेलती है और चूँकि यह व्यक्ति जीवन को गेंद की तरह उछालता चलता है इसलिए वह समाज के, देश के साथ भी खेलती है। वह प्रजा-तंत्र को नहीं जानती; शायद राष्ट्रीयता को भी कम ही जानती है। दरअसल वह शहादत की मिट्टी में फूटती है। मुहम्मद अली में भी शहीद का उत्ताप है।

निर्भयता

पर इस भावना के साथ, बी अम्मा की विशेष ममता के साथ पले हुए मुहम्मद अली में, स्वतंत्रता की गहरी लगन भी हम देखते हैं।

स्वतंत्रता की लगन

स्वतन्त्रता व्यक्तिगत भी, धार्मिक भी और दैशिक भी;—हर क्षेत्र में स्वतंत्रता। पर यह स्वतंत्रता उच्छृंखल है और बिना किसी उद्देश्य के, एक चिर-अस्थिर शक्ति की तरह सदा चलती रहती है। यह उस मुसाफिर के समान है जिसकी कोई मंजिल नहीं और जो कभी सेहरा में, कभी शाह-राह पर और कभी कूचों में जा निकलता है। एक ओर इस स्वतंत्रता और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरता का इस व्यक्ति में अद्‌भुत और आश्चर्यजनक संमिश्रण दिखाई देता है और इसी कारण भारतीय सार्वजनिक जीवन में, और विशेष रूप से राजनीतिक जीवन में, मुहम्मद अली से अधिक समझ में न आ सकने वाला व्यक्तित्व दूसरा नहीं। गांधी का नाम भी बहुतेरे

पारस्परिक विरुद्धताएँ

लेंगे, यह जानकर भी मैं ऐसा कह रहा हूँ। गांधी को मैं व्यक्तित्व नहीं, 'आइडिया' मानता हूँ; वह हमारी संस्कृति का प्रतीक है। जिन नेताओं का रहस्य समझना, विश्लेषण करना अत्यन्त कठिन है, मुहम्मद अली उनमें अन्यतम थे। इस व्यक्ति की पारस्परिक विरुद्धताओं और परिवर्तनों को देख कर आदमी घबड़ा जाता है और प्रायः उसके विषय में गलत धारणाएँ बना लेता है। एक लेखक ने ठीक ही लिखा था कि 'मुहम्मद अली से अधिक सफलता के साथ शायद ही कोई व्यक्ति अपने सम्बन्ध में गलतफ़हमी पैदा कर सका हो।' *

---

*No living man, perhaps, has succeeded in casting such a multi-coloured halo of mis-understanding about himself as Maulana Mohamad Ali. इस वाक्य में 'लिविंग मैन' शब्द इसलिए आया है कि यह इनके जीवन काल में ही लिखा गया था।

दुनिया में बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने अन्दर, अपने बारे में स्पष्ट नहीं होते। वे सीधे-सीधे साफ़ साफ़ अपने को भी नहीं समझ पाते। बहुत कुछ मुहम्मद अली इन्हीं में से एक थे। इसीलिए उनके व्यवहार से, उनकी जीवन शैली से उनके बारे में गलतफ़हमी फैलती थी। आज तो मौलाना स्वर्ग में सुरक्षित हैं पर जब वह जीवित थे तब भी बहुत-से लोगों को उनकी विशेषता,—उनके बड़प्पन में संदेह था। उनके सहधर्मी स्व० 'अकबर' इलाहाबादी की ये लाइनें कितनी निर्दयता के साथ, प्रसिद्ध हो गई हैं—

बुद्धू मियाँ भी हज़रते गाँधी के साथ हैं।
यक मुश्त खाक हैं मगर आँधी के साथ हैं।

फिर हिन्दुओं में तो अधिकांश लोग उनको इतना महत्व देने के विरुद्ध थे। स्वयं मैं अपने बारे में यही कह सकता हूँ। १९२४ या २५ में मैंने गांधीजी को एक लम्बा पत्र इस सम्बन्ध में लिखा था और यह भी लिख दिया था कि विपरीत उदाहरण इतने ज्यादा हैं कि मैं समझता हूँ आप धोखा खा रहे हैं। पर अध्ययन, मनन और विश्लेषण ने इस सम्मति में परिवर्तन करने को मुझे बाध्य किया है।

गांधी का निर्णय ठीक है

धोखा तो गांधीजी ने खाया पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मुहम्मद अली नगण्य थे। एक सीमा तक ऐसा कहना गांधी के निर्णय के विरुद्ध होगा, जिससे बढ़कर मनुष्यों का पारखी हमारे समय में दूसरा नहीं हुआ। उसने मुहम्मद अली की शक्ति को पहचाना था; हाँ, मुहम्मद अली को न पहचान सके। पर यों तो स्वयं मुहम्मद अली भी स्पष्टता के साथ कभी अपने को पहचान न पाये—देख न सके। उनमें धर्म की सेवा का एक नशा आया था। और जब गांधी ने राजनीति में धर्म का एक प्रयोग शुरू किया तो उनके हृदय में यह नशा अपनी परिपूर्णता पर पहुँच गया और एक तूफ़ान की तरह सार्वजनिक जीवन में फट पड़ा!

इसी दृष्टि से यदि विश्लेषण करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहेंगे कि वह भारत की स्वतंत्रता के भक्त थे और वाह्यदृष्टया इसी के लिए उन्होंने प्राण दिये पर यह स्वतंत्रता की भक्ति स्वतंत्रता के लिए न थी; इसकेमूलमें उनका उद्देश्य इस्लाम की सेवा—उसकी सुरक्षा,—'सिक्योरिटी'—थी। वह ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध इसलिए उतने नहीं थे कि वह प्रजातंत्र की पद्धति को श्रेष्ठ समझते थे; इसलिए अधिक थे कि अन्तर्राष्ट्रीय संसार में ब्रिटेन, संयोग-वश, मुसलमान राष्ट्रों के विरुद्ध पड़ता था। अफ़गानिस्तान, फारस, अरब, मिश्र और तुर्की इत्यादि मुसलमानराष्ट्रोंमें अंग्रेजों ने विशेषाधिकार प्राप्त करके अपना प्रभुत्व जमा लिया था। इसलिए अंग्रेजों की साम्राज्य-लिप्सा के वह कट्टर दुश्मन हो गये थे। गांधी ने जब ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध शंख फूँका तो स्वभावत: उनका दिल नाच उठा और उसके साथ हो गये। जब बीच में गांधी ने आन्दोलन स्थगित कर दिया तो धीरे-धीरे उनका यह उत्साह मरने लगा और अन्दर इस्लाम की जो भक्ति थी उसको प्रत्यक्ष रूप ग्रहण करने और ऊपर आने का मौक़ा मिला।

भारतीय स्वतंत्रता के प्रेमी

इस तरह मुहम्मदअली के अन्दर पैठकर देखें तो मालूम होगा कि मुख्यतया वह इस्लाम की सेवा और मुसलमानों के उत्थान को लेकर चले थे। भारतीय स्वतंत्रता इस उद्देश्य का साधन थी। ठीक वैसे जैसे वह गांधी के लिएविश्व-कल्याण का साधन थी। यह बात अगर हम समझ लें तो उनके साथ शायद कम अन्याय कर सकेंगे और इसे समझ लेने पर यह समझते भी शायद देर न लगेगी कि मौलाना मुहम्मदअली सम्प्रदायवादी (कम्यूनलिस्ट) न थे,—यद्यपि एक बहुत बड़ी संख्या उनको ऐसा ही समझती रही।

और इससे यह भी कहा जा सकता है कि सर सैयद अहमद के बाद मुसलमानोंको जगानेवाला मुहम्मदअली से बड़ा दूसरा नेता नहीं हुआ।

पर जब हम मुसलमानों की दृष्टि से उन्हें सर सैयद की पंक्ति में बैठाते हैं तब भी हमें यह ख़याल है कि वह सर सैयद न थे। दोनों के व्यक्तित्व, जीवन-निर्माण और जीवन-यात्रा के प्रकार में अन्तर है और शायद बड़ा अन्तर है। सर सैयद कूट-नीतिज्ञ थे; उन्होंने मुसलमानों को जगाया पर भारत का भला नहीं किया। वह जिस रास्ते से गये वह राष्ट्रीय व्यक्तित्व के बिलकुल विरुद्ध जाता था। आज मुसलमान में जो ज़हर है और राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति जो उपेक्षा है वह बहुत कुछ सर-सैयद की ही देन है। मुहम्मदअली ने इस ज़हर को निकालने के ख़याल से दूसरा रास्ता इख्तियार किया था। मुहम्मद अली सर सैयद की भाँति कूट-नीतिज्ञ न थे। वह शहीद का हृदय लेकर जीवन की चौमुहानी पर खड़े हुए और उन्होंने मुसलमान में जो वीर भाव था, जो शहादत के संस्कार थे, उन्हें पुकारा। इतनी निर्भयता से मुसलमान को सम्बोधन करने वाले दूसरे व्यक्ति को फिर हमने नहीं देखा। यह निर्भयता सब तरफ़ से व्यापक थी। एक ओर वह सरकार की ओर भवें तानकर खड़ी हुई और दूसरी ओर हिन्दुओं से निर्भय रहना उसने सिखाया।

सर सैयद और मुहम्मद अली

इतनी सीटें वहाँ मिलें, इतनी वहाँ—यह बात मुहम्मदअली के नज़दीक हेच थी। वह पुकार कर कहते—जबतक तुममें ताक़त है तबतक इतने-इतने की व्यवस्था हो या न हो, तुम्हें वह मिलकर रहेगी और जब तुम कमज़ोर हो जाओगे तो यह सब लिखा-पढ़ा धरा रह जायगा। सर सैयद ने जहाँ कूटनीति से मुसलमानों को बढ़ाना चाहा वहाँ मुहम्मदअली ने वीरता और शक्ति जाग्रत करके उनको शक्तिमान बना देने का बीड़ा उठाया। उनका मुसलमान सरकार के इशारों पर नाचनेवाला, टुकड़ों पर बिका हुआ, निस्सार बातों के लिए तूफ़ान मचा देनेवाला प्राणी नहीं; वह वीर, विद्रोही अपनी ताक़त में विश्वास रखनेवाला है। अपनी रक्षा के लिए वह

निर्भीकता का शिक्षक

अपने पैर पर खड़ा होना चाहता है। सरकार उसे आँख दिखाये तो उससे लड़ने को तैयार; हिन्दू दिखाये तो उससे लोहा लेने पर कमर-बस्ता। मुहम्मदअली ने जो लिखा, जो कहा वैसा मुसलमानों में किसी ने न लिखा था, न कहा था। यह मुहम्मदअली का ही प्रताप था कि उसने मुसलमान को, जो सरकार के प्रति वफ़ादार रहने में अपना लाभ देखता था और सुविधा के स्वाद का अनुभव करता था, झटका मारकर जगा दिया और यद्यपि सर सैयद का संस्कार अन्दर-अन्दर बैठ गया था और जो कुछ नहीं बैठा था उसे सरकार ने हिमायत के छींटे दे देकर इसलिए बैठा दिया कि विद्रोही हिन्दू को दबाने का यही एक उपाय रह गया था, पर वह भारतीय मुसलमानन पर अपनी एक विशेषता की छाप तो सदा के लिए छोड़ गया है

× × ×

अनावृत स्पष्टता और स्वच्छन्दता

यदि देश को छोड़ दें और व्यक्ति को लेकर चलें तो गाँधी की धुन, उसकी व्यर्थता के आडम्बर को तोड़कर बातों को साफ साफ सब के सामने रख देने की वृत्ति, कुछ कुछ मुहम्मदअली में थी। पर इसके साथ ही मालवीय जी का भाव-प्रवाह, भावावेश एवं, थोड़ा ही बहुत सही, मोतीलाल जी की निष्ठुरता भी उनमें विकीर्ण हुई थी। इसीलिए उनका जीवन, उस नौका की भाँति, जो लहरों पर थपेड़े खाती इधर-उधर बहती है और अपना निश्चित मार्ग बना नहीं पाती, जिसका कोई बन्दर नहीं, बाधा-बंध-विहीन-सा बहता चला जाता है। जिधर बोझ पड़ा, झुक जाता है। जहाँ दिल मिल गया, अठखेलियाँ करने लगता है। वाणी का वही उन्मुक्त प्रवाह, वही विस्तार यहाँ है जो मालवीय जी में है। गुणों की भिन्नता है पर हम तो यहाँ केवल विस्तार और प्रवाह की बात ही लिख रहे हैं। लेखनी का भी वही हाल। वाणी और लेखनी, आत्म प्रकाश के दोनों साधनों में, भाव-प्रवाह झरने की तरह बहता है।

टिप्पणियाँ लेखों का रूप धारण करती हैं। व्यक्तिगत पत्र में भी ज़रा-सी बात लिखने बैठे तो सफ़े के सफ़े रँग गये। मानो उर्दू के इस आचार्य और महाकवि 'मीर' का शेर उन्हीं के लिए लिखा गया हो—

लिखते रुक्का लिख गये दफ़्तर,
शौक़ ने बात क्या बढ़ाई है।

काँग्रेस के जितने अध्यक्ष हुए उनमें उनका भाषण सब से लम्बा—पूरी एक किताब—है। और उसका सार निकालने बैठिए तो दो चार पेज काफी होंगे क्योंकि उनमें तथ्य उतना नहीं जितना भावों का एक तूफ़ान है। जो कुछ उनके दिल में है, वह बाहर आने के लिए बेकरार है और ऐसे समय वह इस बेकरारी, इस प्रवाह की दया पर निर्भर करते हैं। वह उन्हें जिधर ले जाय। जिह्वा पर या कलम पर उनका वह काबू नहीं जो महात्मा गांधी की विशेषता है।

पर इतना ही नहीं, जैसे गांधी की लगन लेकर भी वह गांधी से मंजिलों दूर हैं वैसे मालवीयजी का भाव-प्रवाह पाकर भी वह मालवीयजी से बिलकुल अलग—दूसरी चीज़ हैं। मालवीयजी में दया है, करुणा है, नम्रता है, वह व्यंग करना, चोट पहुँचाना नहीं जानते। मुहम्मदअली की वाणी व्यंगमयी है; उनकी जीभ चोट करना जानती है;—उसमें कोबरा का प्राण-घातक विष है। उनके व्यंग बिच्छू के तीव्र दंश हैं। अपने विरोधी पर वाणी और लेखनी द्वारा वह ज़बर्दस्त आक्रमण करते हैं। विरोधी के लिए, प्रतिद्वन्द्वी के लिए उनकी ज़बान बड़ी विषैली है। और फिर इस ज़बान के उपयोग में संयम नहीं;—वह स्वच्छन्दतापूर्वक चलती है।* उनकी जिह्वा, उनकी क़लम से भी अधिक स्वच्छन्द है। जैसे उस पर उनका

गांधी भी नहीं; मालवीय भी नहीं।

*एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा था—

"No one in the country has a rougher tongue or a more deadly pen for his opponents, or uses it more freely."

काबू नहीं। यहाँ तक कि विरोध करते समय वह विषय से बहुत दूर चले जाते हैं। अप्रासंगिक होकर भी आक्रमण तो करना ही है। अप्रासंगिक तो कभी कभी मालवीय जी भी हो जाते थे पर उनमें और मालवीय जी में इस विषय में भी बड़ा अन्तर है। मालवीय जी कभी किसी व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करते; उनकी वाणी में व्यक्तिगत निन्दा खोजने से भी न मिलेगी। फिर वह अप्रासंगिक होते हैं विषय को चारों तरफ से स्पष्ट कर देने के लिए। पर मुहम्मदअली तो बोलते-बोलते केवल विरोधी पर आक्रमण करने के लिए रास्ते से दूर चले जाते हैं और व्यक्तिगत उदाहरणों एवं घटनाओं के उल्लेख-द्वारा विरोधी पर चोट करने से नहीं चूकते। ये उदाहरण चुभते हैं, चोट करते हैं। मुहम्मदअली एक के लिए दो घूँसे देने वाले सैनिक योद्धा की तरह राजनीति में दिखाई पड़ते हैं। राजनीति क्या हर जगह यही बात है। अनेक बार उनके विशेषण भयानक और अविचार-पूर्ण होते हैं। उनमें महात्मा गांधी का वह विवेक नहीं जो मनुष्य को उसके कार्यों से, उसकी राजनीति से अलग करके देख सकता और इसीलिए सार्वजनिक विषयों में मत-भेद रखते हुए भी व्यक्ति को स्नेह कर सकता है, सम्मान कर सकता है। मुहम्मदअली के लिए यह बात नहीं। मनुष्य और उसके विचार या कार्य सब को वह मिला देते हैं। यदि कोई माडरेट, नरम, है तो बुरा है। इसपर जब वह बोलने उठेंगे तो इतना ही कहकर चुप नहीं होंगे कि माडरेट ऐसे हैं वैसे हैं, बल्कि दो-चार के नाम लेकर, उनके व्यक्तिगत उदाहरण देकर, तब बैठेंगे।

पर यह विष, विरोध की यह कटुता भी बहुत-कुछ भावावेश के कारण ही पैदा होती है। इसलिए वह दिल में छिपाकर उसे नहीं रखते। साफ़-साफ़ सामने रख देते हैं। संसार के अनुभव उनके इस लड़कपन की मनोवृत्ति को बदल न सके। हर उम्र में वह यकसाँ हैं। वही साफ़ गोई—स्पष्टवादिता—और वह भी उच्छृंखलता की सीमा तक बढ़ी हुई!

इस स्पष्टवादिता को खोलकर भीतर-बाहर से देखें तो कह सकेंगे कि वह गुण भी है दोष भी है। वह जहाँ भीरता और विवेक की कमी सूचित करती है वहाँ मनुष्य को ईर्ष्या-द्वेष और धोकेमे, दिल ही दिल में बातें रखकर पिशाच होने से उसे बचा लेती है। तूफान आता है और चला जाता है;—दिल का मैल उसके साथ निकल जाता है; दिल में ही रहकर,कीचड़, काई और सड़ान नहीं पैदा करता। इसीलिए एक ओर जहाँ मुहम्मदअली को चोट और आक्रमण करते देखते हैं वहाँ बहुत जल्द शत्रुता और विरोधी को भूलते भी देखते हैं। जहाँ वह तीव्र आक्रमण और चोट करनेवाले हैं वहां स्नेही भी हैं। भाव प्रवाह जिधर लुढ़क जाय। जब महात्माजी के साथ थे तो उनके बिलकुल अन्तरंग हो गये थे। दिल का दरिया उधर ही उमड़ पड़ा था और उन्हें बहा ले गया। सागर और नहर एक हो रहे थे। पर जब तूफान खतम हो गया, बाढ़ कम हुई, बीच की जमीन सूख गई,——दोनों अलग दिखाई पड़े। इसमें मुहम्मद अली का कोई दोष नहीं, यह उनकी प्रकृति का ही दोष है!

गुण भी, दोष भी

× × ×

ऊपर जिस भावावेश का जिक्र किया गया है वह मौलाना मुहम्मद अली में कभी-कभी बड़े विचित्र रूप में प्रकट होता था। इस सम्बन्ध में उनका जीवन मनोविज्ञान के विद्यार्थी के लिए अध्ययन की एक चीज है। उसमें परस्पर-विरुद्ध धारणाएँ चमकती हैं। उनका मन कुछ और है पर विरोध में, विवाद में उत्तेजित करके आप उनसे कुछ कहला लेते हैं। ऐसी उत्तेजना के समय तो वह अपने विरोधी की सही या गलत हर बात का विरोध करते हैं। यदि कोई विरोधी उनसे कुछ कराना चाहे तो उसे उस काम के विरुद्ध राय प्रकट करनी चाहिए।

सच बात तो यह कि मुहम्मदअली उन उपकरणों से बने ही न थे, जिनसे राजनीतिज्ञ बनता है। उनमें कलाविद् का, कवि का भावावेश

है। वह भाव-प्रवाह और धारणाओं के प्राणी हैं और यह भाव-प्रवाह स्थायी नहीं होता। उसमें ज्वार भी है; भाटा भी है। इसीलिए कभी हम, कवि की भांति, उन्हें बहुत ऊँचा उठते देखते हैं और कभी साधारण प्राणी के रूप में। राजनीतिज्ञ ज़रा ठोस उपकरणों से बनता है, वह विरोधी के आक्षेप पर उबल नहीं पड़ता। ज़रूरत होती है तो उसे पी जाता है और मौक़ा आने पर उसका उपयोग करता है। वह अपने दिल पर क़ाबू रखता है और शान्त, ठण्डा, निष्ठुर होकर चलता है। इसीलिए मौलाना राजनीति की चीज़ न थे और राजनीति में इस रूप में उनका आना विशेष वांछनीय नहीं कहा जा सकता। उनका जीवन इस बात का उदाहरण है कि धर्म को राजनीति में लाना ठीक नहीं। यहाँ धर्म से मतलब उसके उस बाह्याचार से है जिसे लेकर मुख्यतया जन-समूह चलता है। मुहम्मद अली सबसे पहले मुसलमान थे, फिर भारतीय थे। राष्ट्रीयता जब उठती है तो इस भाव को चूर-चूर करके ही उठ सकती है। स्वतंत्रता का युद्ध लम्बे समय तक तभी चल सकता है जब हिन्दू या मुसलमान सबसे पहले अपने को भारतीय समझे। जहाँ धर्म का बाह्याचार प्रबल हो उठता है वहाँ देश-हित का क्रय-विक्रय होने लगता है; मानव हृदय में युग-युग से संचित संस्कार देश की, अधिक के हित की, भावना को दबा देते हैं। धर्म वहाँ तक तो ठीक है जहाँ तक वह मानव में सदाचार का पोषण करता है पर ऐसा धर्म तो मनुष्य-मात्र के लिए एक ही हो जाता है। उसमें दलबंदियाँ हो नहीं सकतीं।

राजनीतिज्ञ नहीं; भावुक

असंयमित, उच्छृंखल भावावेश हमारे सार्वजनिक जीवन को मौलाना मुहम्मद अली की भेंट है। इसमें वह ग़लती कर जाते रहे हों, बह जाते रहे हों पर वह सदा सच्चे—'सिंसियर'—रहते थे। और जो कहते उसके लिए आवश्यकता होने पर फाँसी पर चढ़ सकते थे। अपने

सार्वजनिक जीवन को उनकी देन

विश्वास को, सही या गलत, वह बेच न सकते थे। इसके लिए निन्दा, शरीर-यातना, उपेक्षा सब कुछ सह सकते थे। किसी कीमत में उनका विश्वास खरीदा न जा सकता था। वह दिल की उमंग लेकर चलते थे, जिसका कोई मूल्य आँकना, जिसे किसी भी कीमत में खरीदना संभव नहीं। बहुत करके समझौता उनकी प्रवृत्ति में न था;—या था तो नगण्य मात्रा में। वह एक कट्टर धर्म-पुरोहित—'प्रीस्ट'—की भाँति थे, वह एक उपदेशक थे। उनकी वाणी के प्रवाह में, दिल की आग धू धू करके जलती थी। इस भाव-राशि में कोई क्रम न होता था; कोई व्यवस्था, तरतीब, न होती थी। वह बरसाती नदी की उमंग लेकर उछलती कूदती, उमड़ती घुमड़ती, अठखेलियाँ करती, गरजती, कहीं सींचती, कहीं उजाड़ती चलती थी!

—और इतना कह लेने के बाद इससे निष्कर्ष तो यही निकलता है कि उनमें एक शहीद का 'तत्त्व' था; वह कलावन्त के उपकरणों से बने थे, जो सीधे उपयोगितावाद को लेकर नहीं चलता, हृदय की भाव-राशि को, अनुभूति को लेकर चलता है।

इसीलिए जब गांधी से अलग हुए तब भी, मुसलमानों के नेता होकर भी, वह अन्य सम्प्रदायवादी मुसलमानों के बीच अपने ढंग के एक अलग ही आदमी की तरह खड़े दिखाई दिये। वह

कौंसिल-कक्षा से दूर

फजली हुसैन और सर शफात अहमद की पंक्ति से अलग रहे। उनको आफिसों का, नौकरियों का, सीटों का मोह कभी खींच न सका। कौंसिलों को वह उस समय भी, असहयोगी की नाईं खेल की चीज़ समझते रहे। इस विषय में वह अन्त तक असहयोगी की तरह रहे। स्वराज दल के जमाने में भी मोतीलाल जी और देशबन्धु की जगमगाहट उन्हें इधर खींच न सकी। कभी-कभी वह असेम्बली का दृश्य देखने के लिए ऊपर दर्शकों की गैलरी में जा बैठते थे। एक बार मोतीलाल जी ने नीचे से आवाज़ दी—"मौलाना, अब यहाँ तक तो आ ही गये हो

फिर इधर ही आ जाओ न !"

मुहम्मदअली झट बोले—"मैं तो यहाँ से—ऊँचाई से आप लोगों को नीचे की तरफ देखने आया हूँ ।"*

इस वाक्य में उनकी हाज़िर-जवाबी और व्यंग ही प्रस्फुटित नहीं हुए हैं वरन् उनका विश्वास भी प्रकट हुआ है । वह सचमुच इन कौंसिलों (इत्यादि) को तुच्छ दृष्टि से देखते थे ।

× × ×

इतना कह चुकने के बाद समय आया है कि हम सब को थोड़े में संक्षेप कर लें । पहली बात तो यह कि मुहम्मदअली मुसलमान थे ।

मुसलमान

ईश्वर में, अपने धर्म में, कुरान में और ईश्वर के प्रवक्ता हज़रत मुहम्मद में उनका दृढ़ एवं अटल विश्वास था । इसलिए जब वह राजनीति में आये तब भी अपना यह विश्वास और अपनी यह प्रकृति साथ लाये ।

दूसरी बात है यह कि धर्म की इस भावना ने उन्हें अटूट निर्भीकता का दान किया था । इसलिए अपनी बातों को वह साफ़-साफ़ निर्भय

निर्भीकता

होकर कह सकते थे । वह मुसलमानों की रक्षा के लिए अंग्रेजों की सहायता लेना हेच समझते थे । उनका वीर भाव इसे बर्दाश्त न कर सकता था । मुसलमानों में उन्होंने कभी अ-राष्ट्रीय भावनाएँ जगाने की कोशिश न की । ब्रिटेन की गुलामी की बात भी उनके लिए असह्य थी ।

---

* असल में अंग्रेजी में "I have come to look down upon you." शब्द उन्होंने कहे थे । इसका ठीक अनुवाद करना कठिन है । 'लुक डाउन' शब्द में श्लेषात्मक व्यंग है । इसका एक अर्थ तो 'यहाँ से तुम लोगों को देखने आया हूँ', होता है और दूसरा—"यहाँ से तुम लोगों को नीची—हिकारत की निगाह से देखने आया हूँ" यह है ।

तीसरी बात, जिसे मैं, अपनी सारी हिम्मत बटोर कर, कह देना चाहता हूँ, यह है कि वह राजनीतिज्ञ न थे; उनमें कलावन्त और शहीद की वृत्तियां विकसित हुई थीं। उनमें भावावेश का असंयमित प्रवाह था, जो जब उमड़ता तो बाँध तोड़कर सब कुछ जलमय कर देता था। असफलताएँ इस भावावेश का ज़ोर तोड़ नहीं सकतीं; कठिनाइयों की चर्चा उसके सामने व्यर्थ है। यह देखने की बात है कि मुहम्मदअली का जीवन, प्रत्यक्ष परिणाम की दृष्टि से, असफलताओं का आकर है। जिस खिलाफत के लिए इतना किया, इतना तूफान खड़ा किया, हज़ारों को कष्ट सहने को निमंत्रित किया उस बाँध को कमालपाशा नामक उठती हुई ज़ोर की लहर ने धक्का मारकर रास्ता काट दिया। पर यहीं क्या, जिस काम को ले लीजिए, यही बात दिखाई देगी। सफलताएँ उनके जीवन में बहुत कम हैं—प्रायः हैं ही नहीं और हों भी तो रेगिस्तान में 'ओसिस'—हरियाली की तरह होंगी फिर भी जहां तक इस भावावेश का सम्बन्ध है, असफलताएँ कभी उसका गला न घोट सकीं क्योंकि परिणाम की उसे कभी उतनी चिन्ता न रही। यह भावावेश तो बस उमड़ना जानता है; वह तो जीना चाहता है। वह सब पर छा जाना, सबको भिगो देने को उत्सुक है। यही भावावेश १९२१ से १९२५ तक भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी असीम विस्तृति के साथ उमड़ा था। उस समय गांधीजी के बाद मुहम्मदअली शायद सब से लोकप्रिय नेता थे। उनका दिल इस आन्दोलन में उमड़ पड़ा था; वह अपने को भूल गये थे। जैसे कवि या कलावन्त भावावेश में अपने को भूल जाता है, अपने से ऊँचा उठ जाता है, अपने को बहुत पीछे छोड़ जाता है और इस विस्मृति में, इस उड़ान में अद्भुत सृष्टि एवं निर्माण कर जाता है।

राजनीतिज्ञ नहीं शहीद और कलावंत

शहादत की इस भावना ने ही उनमें स्वतन्त्रता की प्यास और आकांक्षा उत्पन्न की थी। वह प्रकृति से ही स्वतंत्रता-प्रिय थे। जैसे एक

अफ़गान स्वतंत्रता का दीवाना होता है; वह स्वभाव से ही स्वतन्त्र होता है, वैसे ही मुहम्मद अली स्वतंत्रता-प्रेमी और बिलकुल प्रजावादी—डेमोक्रेटिक—स्वभाव के थे। जहाँ ग़रीब पिस रहे हों, दुर्बल सताये जा रहे हों वहाँ उनकी वीर भावना उमड़ती थी। युद्ध में, जहाँ वीरता है, वहाँ, उनका दिल है। इसीलिए १९३० में जब फिर १९२१ के उत्साह की पुनरावृत्ति शुरू हुई; जब फिर राष्ट्र ने त्याग एवं कष्ट-सहिष्णुता की प्रभा से वातावरण को चकाचौंध कर दिया; जब स्त्रियाँ आँधी की शक्ति की तरह भारतीय राजनीति में आईं तब मौलाना मुहम्मदअली का दिल फिर उधर खिंचने, उमड़ने लगा था। लन्दन में दिये गये उनके व्याख्यानों, उनके निजि पत्रों तथा बात चीत में यह बात स्पष्ट हो गई थी। इसीलिए हमने उन्हें अन्तिम दिनों में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए अद्भुत भावावेश के साथ अपील करते देखा और मेरा ऐसा ख्याल है कि यदि वह जीवित रहते तो अवश्य आज राष्ट्र के कर्णधारों में एक होते। पर जिस रूप में वह मरे, उसमें वह मरकर भी अमर रहे। वह सचमुच ही शहीद हुए।

शहादत की भावना

चौथी और शायद सबसे ज़रूरी बात यह कि वह सम्प्रदायवादी—कम्यूनलिस्ट—न थे। इस विषय में उनका व्यवहार बहुत कुछ मालवीय जी की भाँति रहा। मालवीयजी की भाँति ही मौलाना मुहम्मद अली ने भी कभी कांग्रेस का विरोध नहीं किया। अन्तिम समय तक स्वतंत्रता की आग उनके दिल में जल रही थी और मुझे मालूम है कि उन्होंने मरते समय तक कांग्रेस का विरोध न करने की, साम्प्रदायिक विवाद न बढ़ाकर राष्ट्रीय पक्ष को प्रबल करने की सलाह मुसलमानों को दी थी।

× × ×

१९२५ से १९२९ तक उनके सर्वमहती भावावेश के सार्वजनिक जीवन में एक अन्तर—एक 'गैप' आता है। बिलकुल अन्तर—'गैप'—ही

तो नहीं कह सकते पर उनके १९२१ से २५ तक के जीवन के मुकाबले वह 'गौण' ही है। उन दिनों साधारण—औसत हिन्दू की जबान पर यही रहता था—"देखो, असली रंग निकल आया न!"—"आखिर तो मियाँ भाई ही ठहरे?" इस समय जो कुछ कहा जाता उसका कोई जवाब न हो सकता था। या यों कहें कि जवाब तो हो सकता था पर प्रश्नकर्त्ता उसे जवाब मानने के लिए तैयार न होता। उस समय की हवा में वह भी ठीक ही था। पर उस समय भी गाँधी जी अपने निर्णय में अटल रहे और मौलाना की असाधारणता में उनका विश्वास बना रहा। पर जो कुछ कहा जा चुका है और जो कुछ नहीं या जो कुछ आगे कहा जा सकता है, इन सबके रहते या न रहते हुए भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि मुसलमानों में उनके स्थान की पूर्ति नहीं हो सकी—शायद नहीं हो सकती। जैसे १९२१ से २५ तक उनका स्थान उन्हीं का था, वैसे ही सार्वजनिक जीवन से अलग-से दीख रहे परवर्तीकाल (१९२६—३०) में भी उनका स्थान उन्हीं के लिए खाली रहा। दोनों अवस्थाओं में उनके स्थान को, उनकी मर्यादा को चैलेंज नहीं किया जा सकता। वह खास उनकी ही सृष्टि थी,—किसी की दी हुई न थी कि दूसरे को दी जा सके।

× × ×

यह ठीक है कि सब बातों पर विचार करके देखें तो मुहम्मदअली को पूरा पूरा—अपने में परिपूर्ण राष्ट्रनिर्माता नहीं कह सकते। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि हमारे राष्ट्र निर्माण के इतिहास में उनका जिक्र आये बिना नहीं रह सकता। फिर चाहे वह किसी रूप में आये। उनके जिक्र बिना वह अधूरा रहेगा। हमारे निर्माण के इतिहास में उनका एक विशेषस्थान है। उन्होंने राष्ट्र के—शरीर के एक ऐसे भाग से, अंग में,

राष्ट्र-निर्माता नहीं; फिर भी महत्वपूर्ण

जो सूखा पड़ा था, जो राष्ट्रीयता के प्रवाह के प्रति बिलकुल मुर्दा, उदासीन और निष्ठुर था, एक आँधी की गति और उत्साह पैदा किया। मुसलमान, जो अभी तक तमाशबीन था, उनके प्रभाव से, उनके भावावेश में झूमकर स्वयं नर्तक, नट बन गया और, थोड़ी अवधि के लिए ही सही, उसने भी राष्ट्रीयता के युद्ध में हिन्दू के साथ, सच्चे भारतीय की नाईं, कंधा मिलाकर काम किया।

—और बाद में, जो प्रतिक्रिया हुई उसमें भी मुहम्मदअली के शक्तिमान व्यक्तित्व का पता चलता है। भारत के मुस्लिम सार्वजनिक जीवन में उनसे शक्तिमान व्यक्तित्व दूसरा पैदा न हुआ। उन्होंने मुसलमानों में जो भावावेश, त्याग की जो प्यास असहयोग-काल में पैदा की, वह बहुत करके उनकी निज की देन थी और इसलिए उनके हटते ही, अलग होते ही, सम्पूर्ण मुस्लिम जनता का सामूहिक भावावेश भी शिथिल होकर, टुकड़े-टुकड़े हो गया। यह उनकी निजी और सार्वजनिक शक्ति का एक प्रमाण है।

वस्तुतः वह हमारी राजनीति में एक तूफानी व्यक्तित्व लेकर आये और जैसे आये वैसे ही चले गये !

जीवन-तालिका

१८७८	दिसम्बर	रामपुर (युक्तप्रान्त) में जन्म।
१८७९	...	पिता का देहान्त।
		रामपुर स्टेट स्कूल, बरेली हाई स्कूल और एम० ए० ओ० कालेज अलीगढ़ में शिक्षा।
१८९८	....	शिक्षा के लिए इंगलैण्ड-यात्रा।
१८९८–१९०२	....	लिंकन कालेज (आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी) में अध्ययन। आई० सी० एस० की परीक्षा दी पर अनुत्तीर्ण रहे। भारत लौटे।
१९०३—४	....	रामपुर स्टेट के शिक्षाध्यक्ष।
१९०४—१०	....	बड़ौदा स्टेट की नौकरी।
१९११		कलकत्ता से अंग्रेज़ी साप्ताहिक 'कामरेड' निकला।
१९१३		दिल्ली से उर्दू दैनिक 'हमदर्द' का प्रकाशन। कानपुर मस्जिद-काण्ड पर आन्दोलन।
१९१५	मई	नज़रबंद किये गये।
१९१९	दिसम्बर	जेल से मुक्ति।
१९२०	मार्च	खिलाफत डेपुटेशन लेकर इंगलैण्ड गये। असहयोग-आन्दोलन।
१९२१	१४ सितम्बर	गिरफ्तारी।
	२ नवम्बर	दो वर्ष की सज़ा।
१९२३	३ सितम्बर	जेल से मुक्ति।
	२८ दिसम्बर	कोकनद कांग्रेस के अध्यक्ष। १९२७ में मद्रास-कांग्रेस में मतभेद।
१९३१	४ जनवरी	में देहावसान।



सरोजिनी नायडू

सरोजिनी नायडू

—आधुनिक भारतीय नारीत्व की प्रतिनिधि—

जन्म
१३ फरवरी १८७९ ई०

मृत्यु
२ मार्च, १९४९ ई०

[१]

अट्ठाइस वर्ष पूर्व

अन्य अनेक नेताओं की भाँति, सरोजिनी से भी मेरा परिचय असहयोग युग (१९२०–२१) में हुआ था। किशोरावस्था; स्वप्नों और आकांक्षाओं से भरा मन। वह अवस्था जो आती है तो पर्वतों की ऊँचाइयों को लाँघने का जी करता है और भुजाएँ सागर को चीर कर मार्ग बनाने को उतावली हो जाती हैं। वह अवस्था जो सीधे पांव को डगमग कर देती है, जो जमीन पर खिलती पर आसमान में उड़ती है, जिसमें प्रेम निवेदित होता और सौन्दर्य लुटता है। काव्य और संगीत की भांति सुषमा और स्वर-राग से जीवन को अर्घ्य देने वाली जवानी!—जब बरबस कविता सूझती है; दिल में तूफान उठते हैं, और ऐसा लगता है मानो हमारे अस्तित्व का भी कुछ अर्थ है। और जो अपने को सार्थक करके रहेगा।

चारों ओर आँधी थी। भारत की विजड़ित, मोहाच्छन्न आत्मा में एकाएक एक लहर उठी थी; जैसे शताब्दियों से अपनी अशान्त समाधि में सोया हुआ मुर्दा किसी ऋषि के योग-बल से एकाएक उठ खड़ा हो और अपनी सम्पत्ति माँग बैठे। अनहोनी घटनाएँ हो रही थीं। हमारे तो मन में आँधी थी और बाहर भी। हम आश्चर्य-चकित, विस्मय-विमुग्ध हो एक के बाद एक घटनाओं का यह अनावरण संस्कार देख रहे थे—जैसे कोई जादू का खेल देख रहे हों।

आज का पाठक हृदय में उठनेवाली उन तूफानी भावनाओं की कल्पना नहीं कर सकता जो उन दिनों तरुणों के मन में उठती थीं।

मैं लोकमान्य और लाला जी, मोतीलाल और मालवीय जी, देश-

बन्धु और आजाद के दर्शन कर चुका था। जवाहरलाल को तो निकट से देखा था और बाद में उनके प्रोत्साहन से ही अवध के किसानों में जो कार्यारंभ हुआ, उसमें मैंने भी अपनी किशोरावस्था के स्वप्नों का दान किया। सबसे बड़ी बात यह कि जिस जादूगर ने शताब्दियों से मूर्च्छित और शव-तुल्य देश को जीवित कर दिया उसके दर्शनों का लाभ भी मुझे हो चुका था पर सरोजिनी के दर्शन तबतक न हुए थे। तरुणाई और कविता के डैनों पर उड़ने वाला हृदय का देवता भारतीय स्वप्नों, आदर्शों और परम्पराओं की छाप अंग्रेजी काव्य पर डालनेवाली कवयित्री सरोजनी को देखने-सुनने के लिए लालायित था। और उसकी इच्छा पूरी हुई।

अपने काव्य और जीवन-सौन्दर्य का सम्पूर्ण वैभव लिये वह आईं थीं। उनके व्याख्यान में संगीत की स्वरमयता,-काव्य की हृदय की श्रुंडियों को छूने वाली वेदना, तरुणाई के पंखों पर उड़ने वाले स्वप्नों का ऐसा सामञ्जस्य था मानों हृदय स्वयं आत्म-निवेदन के स्वर से विभोर हो उठा हो। कुछ इस तरह बोलीं मानों यह जो राष्ट्र की आत्मा का जागरण है, यह जो राजनीति की राष्ट्र की तरुणाई के प्रति ललकार है वह जीवन के महाकाव्य का एक सर्ग हो। उनके स्वर में एक रहस्यवादी की अस्पष्टता के साथ हृदय को छूनेवाली गूँज थी। व्याख्यान एक परिपूर्ण छन्द जैसा था, जिसके टुकड़े न हो सकते थे। मैं सुनता रहा, और मुझपर एक गहरे नशे के आवरण एक पर एक छाते रहे। ऐसा नशा कि सभा समाप्त हो गई और लोग चले गये तब जैसे नींद से जगकर मैंने पाया हो कि मुझे भी यहाँ से उठ जाना है।

उस दिन के बाद अनेक बार उन्हें देखा और सुना; बातें कीं पर वह पहला प्रभाव आज भी ज्यों का त्यों है। वही उनके जीवन का वास्तविक रूप था। एक अक्षय सौन्दर्यराशि और आनन्द की अन्तः-सलिला की मूर्ति, जिसने कर्त्तव्य के कोलाहल को सामञ्जस्य और

शान्ति की, पौरुष और उत्सर्ग की दीक्षा दी। नारी की मृदुल रहस्यमयता और आत्म-निवेदन तथा माता का चिरन्तन दान दोनों साथ-साथ लेकर उन्होंने जीवन की यात्रा पूरी की। उनके आनन्द का स्रोत विश्वानन्द में जाकर मिल जाता था, जैसे माता अपनी कृतियों में सन्निविष्ट होकर अपने को खो और लुटा देती है। हम देखते हैं, उनका नारीत्व राष्ट्र के पौरुष को पुकारता है पर उसे स्नेह से सन्तुलित भी करता है और उनका मातृत्व, अपनी सन्तति को, उच्चादर्शों की ओर इंगित करते हुए, पुकार रहा है।

आज जब वह चली गई हैं तब हमारे राष्ट्र के जीवन में एक सूनापन आ गया है। स्वतन्त्रता के तीर्थराज में आकर जीवन की सरस्वती लुप्त हो गई है।

[२]

जीवन-कथा

सरोजिनी देवी का जन्म १३ फरवरी, १८७९ ई० को हैदराबाद (दक्षिण) में हुआ था। इनके पूर्वज ब्रह्मनगर (बंगाल) से यहाँ आये थे और ब्राह्मणों में इनके कुल का बड़ा सम्मान था। सरोजिनी के पिता डा० अघोरनाथ चट्टो-पाध्याय विज्ञान के अच्छे विद्वान् थे और १८७७ ई० में उन्होंने एडिनबरा विश्वविद्यालय से विज्ञान में आचार्यत्व (डी० एस-सी०) की उपाधि प्राप्त की थी। उनका अध्ययन विस्तृत था और उनकी प्रतिभा विशाल थी। स्वभाव बड़ा मृदु और सरल था। सरो-जिनी ने अपने पिता के सम्बन्ध में स्वयं ही लिखा है—

जन्म, बचपन और शिक्षण

"I suppose, in the whole of India, there are few men, whose learning is greater than his and I don't think many men more beloved."

अर्थात् "मेरा ख्याल है कि समस्त भारत में ऐसे थोड़े ही आदमी होंगे, जो विद्वत्ता में उनसे बढ़े-चढ़े हों और मैं नहीं समझती कि लोगों में उनसे अधिक प्रेमास्पद लोग होंगे।"

अघोरनाथजी विज्ञान के पुजारी थे, और उनमें एक वैज्ञानिक की तन्मयता भी थी। इस तन्मयता से ही, बाद में, सरोजिनी का जीवन प्रभावित हुआ। सरोजिनी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'मेरे पिता में वैज्ञानिक रहस्यों को जानने की जो प्रबल उत्कण्ठा थी, वही मेरे हृदय में सौन्दर्योपासना की प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई।'

युरोप से लौटने पर अघोरनाथजी ने हैदराबाद में निज़ाम कालेज की स्थापना की और अपना जीवन शिक्षा के प्रसार में लगा दिया।

सरोजिनी पिता की सबसे योग्य सन्तान थीं। अघोरनाथजी पुत्री को बड़ा प्यार करते थे और उनकी बड़ी इच्छा थी कि वह भी उनकी भाँति विज्ञान की पण्डिता बने। पिता की देख-रेख में सरोजिनी की शिक्षा आरम्भ हुई। पिता अँग्रेजी के परम भक्त थे और उन्होंने आरम्भ से अँग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करने पर जोर दिया। अँग्रेजी भाषा के अध्ययन की जरा भी उपेक्षा होती और वह देखते तो लड़की को दण्ड भी देते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बचपन से अँग्रेजी सरोजिनी की मातृभाषा के समान हो गई और भारतीय भाषाओं का ज्ञान सदा अधूरा रहा।

सरोजिनी बड़ी प्रतिभाशालिनी कन्या थी। १२ वर्ष की अवस्था में उसने मद्रास की मैट्रिक परीक्षा पास कर ली। इस परीक्षा के कुछ पूर्व ही उनके हृदय में कविता लिखने की भावना पैदा हो चुकी थी। जब वह ११ वर्ष की थीं, तब एक दिन गणित का एक प्रश्न हल कर रही थीं। वह हल नहीं होता था; दिमाग परीशान हो उठा था। बस, उस समय एकाएक उन्होंने कविता लिखना आरम्भ कर दिया। उनके कवित्व का यों आरम्भ होता है। १३ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक लम्बी कविता लिखी। यह स्काट के 'झील की रानी' (Lady of the Lake) के ढंग की है। इसमें १३०० पद हैं। यही नहीं, उन्होंने एक छोटा नाटक भी लिखा।

पिता ने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सरोजिनी को १८९५ ई० में विलायत भेज दिया। तीन वर्ष तक सरोजिनी किंग्स कालेज (लन्दन) और बाद में गर्टन (कैम्ब्रिज) में अध्ययन करती रहीं। फिर स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उन्हें इटली की यात्रा करनी पड़ी। प्राकृतिक सौंदर्य और प्रकाश से पूर्ण, दान्ते, वर्जिल, राफेल, माइकेल एन्जलो इत्यादि कवियों और कलाकारों की उस जन्मभूमि ने सरोजिनी को खूब प्रभावित किया और हृदय में जो रस भर रहा था, वह काव्य के रूप में निकलने लगा।

सन् १८९८ ई० के सितम्बर में सरोजिनी हैदराबाद लौट आईं और तीन महीने बाद, दिसम्बर में उन्होंने जाति-पाँति का बन्धन तोड़कर हैदराबाद के डाक्टर मेजर एम० जी नायडू से विवाह कर लिया। यह वह जमाना था जब आज की भाँति समाज-सुधार का पथ सरल और प्रशस्त नहीं हुआ था पर उन्होंने साहस से काम लिया और तबसे बराबर भारतीय नारियों तक जागरण का सन्देश पहुँचाती रहीं। वह भारतीय नारी आन्दोलन की जन्मदात्री थीं और यह उन्हीं के निरन्तर उत्साह और कार्य का परिणाम है कि वह आज इतना सङ्गठित हो गया है। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि यद्यपि उनकी शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य ढङ्ग से हुई थी, परन्तु उनके हृदय पर पाश्चात्य सभ्यता के दंश का विष न था। इसलिए उन्होंने सदा भारतीय संस्कृति और भारतीय आदर्श का सन्देश ही भारतीय नारी तक पहुँचाया। वह सीता सावित्री के आदर्श की पुजारिन थीं और इस आदर्श की प्रेरणा से ही वह युरोप के प्रभाव के ऊपर उठ सकी थीं। भारतीय स्त्रियों के सम्बन्ध में उन्होंने समय-समय पर जो व्याख्यान दिये हैं, उनमें उनके भारतीय मातृत्व के आदर्श का बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। वह भारतीय नारी के मूल तक पहुँच सकी हैं, इसीलिए वह उसका अपमान कभी सहन नहीं कर सकती थीं। बङ्गाल के एक गवर्नर ने जब भारतीय स्त्रियों के प्रति कुछ अपमानजनक वाक्य कहे थे तो इन्होंने इतना ज़बर्दस्त आन्दोलन किया कि लाट साहब को क्षमा माँगनी पड़ी। १९१९ ई० में भारतीय होमरूल लीग डेपुटेशन की सदस्या होकर वह विलायत गईं और वहाँ भारतीय स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में ज़ोरों से आन्दोलन किया। उन्होंने सेलबोर्न कमेटी के सामने स्त्रियों के मताधिकार के पक्ष में जो गवाही दी थी, वह इतनी अच्छी थी कि लार्ड सेलबोर्न ने उसकी प्रशंसा करते हुए, कहा—

सामाजिक जीवन में प्रवेश

"If I may be allowed to say so, it illuminates our prosaic literature with a poetic touch."

अर्थात् "यदि मुझे कहने दिया जाय तो मैं कहूँगा कि इस (गवाही) ने हमारे शुष्क गद्यात्मक साहित्य को कवित्वमय स्पर्श से आलोकित कर दिया है।"

सरोजिनी के जीवन में साम्प्रदायिकता का आभास भी कहीं नहीं दिखाई पड़ता। उन्होंने मुस्लिम संस्कृति की निर्भीकता को ग्रहण किया था और हैदराबाद में मुसलमान और हिन्दू दोनों समाजों में उनकी सदा एक-सी प्रतिष्ठा रही।

राजनीतिक जीवन

सरोजिनी देवी में पीड़ितों के प्रति सहानुभूति लड़कपन से थी। वही सहानुभूति बढ़कर देश की उस पुकार में परिणत हो गई, जो हम पिछले ८८ वर्षों से राष्ट्र के कोने-कोने में ध्वनित एवं प्रतिध्वनित होती सुनते रहे हैं। सन् १९१३ ई० में मुस्लिम लीग के लखनऊ अधिवेशन में हिन्दू मुस्लिम एकता पर उन्होंने एक बड़ा ही प्रभावशाली भाषण दिया था। उसका लोगों पर बड़ा असर पड़ा। १९१५ ई० से आप कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने लगीं। उनका मानस-क्षितिज बराबर विस्तृत होता गया और उसमें सब जातियों और धर्मों को एक-सा सम्मान प्राप्त हुआ। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए तो उनके हृदय में सदा एक तड़प रही। १९१७ ई० के अक्तूबर में पटना में उन्होंने कहा था—"इस विशाल देश में मुसलमान अपना घर बनाने को आये थे। वे इसलिए नहीं आये थे कि यहाँ से लूट-मार कर के अपने घर चले जायँ। वे इस देश में स्थायी घर बनाने आये थे और मातृभूमि को सम्पन्न बनाने के लिए नई सन्तति पैदा करना ही उनका उद्देश्य था। तब वे इस भूमि के बच्चों से अलग कैसे रह सकते हैं? क्या इतिहास यही बताता है कि भूतकाल में वे हिन्दुओं से पृथक् रहते थे? अथवा वह यह बताता है

कि एक बार इस देश को अपनी मातृभूमि बना लेने के बाद वे इस भूमि के बच्चे बन गये और हमारे मांस के मांस और खून के खून (बिल्कुल अपने) हो गये।''

इस प्रकार यद्यपि वे देश के सार्वजनिक जीवन में अधिकाधिक भाग लेती जा रही थीं, पर सन् १९२१ ई० तक इस सेवा का ढंग पुराना था। जीवन वैभव और विलासिता के सपने देखना भूला न था और आराम की जिन्दगी थी। १९२१ ई० में जब वह भारतीय स्त्रियों के मताधिकार आन्दोलन के सम्बन्ध में इंगलैण्ड गई थीं, तब उनका जीवन आज के जीवन से बिल्कुल भिन्न था। वह इंगलैण्ड में अपने वस्त्र-परिधान और कलापूर्णता के लिए प्रसिद्ध थीं। उनकी कविताओं ने उन्हें ब्रिटेन के विद्वत्समाज में सम्मानित किया। वह जहाँ जातीं, उनका स्वागत होता। पश्चिमी निर्भीकता, पूर्वी रहस्यमयता और शालीनता से उनका जीवन परिपूर्ण था। काव्य ने उन्हें रङ्गों के मिश्रण की स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रदान की थी, अत: किस समय कौन-सी साड़ी पहनने से वातावरण और स्थिति के साथ सामञ्जस्य स्थापित होगा, इसे खूब समझती थीं। ब्रिटिश राजनीति के शक्तिमान नेताओं पर उनका प्रभाव था और राज-कुटुम्ब तक उनकी ख्याति पहुँच चुकी थी। जब वह इंगलैण्ड से भारत के लिए रवाना हुईं तो उनके पास लन्दन और पेरिस से ली हुई सर्वोत्तम सिल्क की साड़ियों का संग्रह था।

पर भारत के आकाश पर घटाएँ छा रही थीं। अमृतसर के हत्याकाण्ड ने राष्ट्र की आत्मा को ठेस मारकर जगा दिया था और गांधी के नेतृत्व में वह आत्म-विश्वास के प्रकाश से जगमग जगमग हो उठी थीं। असहयोग आन्दोलन का सन्देश सर्वत्र गूँज रहा था। ज्यों ज्यों जहाज बम्बई बन्दर की ओर अग्रसर हो रहा था, सरोजिनी के हृदय में सङ्घर्ष बढ़ता जा रहा था। वह यह निश्चय न कर पाती थीं कि लिबरलों के साथ काम करना चाहिए या गांधी के साथ। गांधीजी के प्रति उनकी

बड़ी श्रद्धा थी। बम्बई में उतरते-उतरते उन्होंने गांधीजी को आत्मार्पण करने का निश्चय कर लिया। एक दिन पहले तक उनका हृदय-पटल किसी दल विशेष की रेखा से बिल्कुल शून्य था। पर उनके-जैसी गहरी भावनाओं की रानी लिबरलों के शुष्क तर्क-युद्ध से आकर्षित न हो सकती थी। गांधी जी के आन्दोलन में वे सब तत्त्व वर्तमान थे जो कवि की आत्मा को छूते हैं। उसकी भाव-प्रवणता के लिए उसमें पर्याप्त रस था। उसमें उस साहसिकता के लिए गुञ्जाइश थी, जिसने सदा नारी हृदय का सम्मान प्राप्त किया है। जिस नारी ने बम्बई की सड़कों पर जब्त पुस्तकें बेचकर क़ानून तोड़ा था और १९२० ई० में, पंजाब की दुर्घटनाओं के सिलसिले में, इंगलैण्ड में, भाषण करते हुए कहा था—"My sisters were stripped naked; they were flogged; they were outraged." (मेरी बहनें नङ्गी की गईं; उन्हें कोड़े लगाये गये और उनकी आबरू उतार ली गई)

और जिसपर भारत-सचिव का आसन डोल उठा था और उन्होंने इन शब्दों को वापस लेने पर ज़ोर डाला था, पर तेजस्विनी सरोजिनी ने निर्भीकतापूर्वक दोहराकर उनकी पुष्टि की थी, वह शुष्क बहस-मुबाहसे से कैसे तृप्त हो सकती थीं?

१९२२ ई० में कालीकट में भाषण करते हुए उन्होंने तीव्र शब्दों में मोपलों पर सरकार द्वारा किये गये अत्याचार का विरोध किया। इस भाषण पर मद्रास सरकार चिढ़ गई। उसने धमकी और चेतावनी दी पर सरोजिनी पर ऐसी धमकियों का क्या प्रभाव पड़ सकता था! ११ मार्च, १९२१ को महात्मा गांधी को राजद्रोह के अभियोग में ६ वर्ष की सज़ा हुई। महात्मा जी ने जेल जाते समय सरोजिनी से कहा था—

एकता के लिए प्रयत्न

"I entrust the Unity of India into your hands."

अर्थात् "भारत की एकता मैं तुम्हारे हाथों सौंपता हूं।" सरोजिनी ने सिर झुकाकर इस थाती को स्वीकार किया। १९२१ ई० के बम्बई के दङ्गों में अपने प्राणों को खतरे में डालकर उन्होंने जो साहसिक कार्य किया था, उसे कौन भूल सकता है। पर अब तो उन्होंने मानों एकता की धूनी रमा ली और सर्वत्र घूमकर इस एकता के सन्देश का प्रचार करने लगीं। १८ मार्च को अहमदाबाद में भाषण करते हुए, गांधीजी का स्मरण कर उन्होंने विह्वल स्वर में कहा था—"वे उन्हें पृथ्वी के अन्तिम छोर तक ले जा सकते हैं, पर उनकी मंजिल उनके देश-बन्धुओं के हृदय में ज्यों की त्यों अटल है—उन देश-बन्धुओं के, जो उनके अद्वितीय स्वप्नों और कर्मों के उत्तराधिकारी तथा पोषक हैं।"

रात-दिन दौरा करते-करते उनका स्वास्थ्य खराब हो गया। पर आत्मा में जो ज्वाला जल रही थी, वह शान्त न हुई। इसलिए जब विवश होकर स्वास्थ्य-सुधार के लिए लङ्का जाना पड़ा, तब भी वहाँ उन्होंने भारतीय जागरण का सन्देश पहुँचाने में जी-तोड़ परिश्रम किया। 'भारतीय पुनरुत्थान' पर इनका एक व्याख्यान सुनकर वहाँ की राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष श्री एच० जे० सी० पेरीरा ने कहा था—"जिस प्रकार श्री रवीन्द्रनाथ भारतीय पुनरुत्थान के पुरुष-कवि हैं, उसी प्रकार सरोजिनी उसकी नारी कवि हैं।"

महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद असहयोग आन्दोलन शिथिल पड़ गया। युद्ध की यह एक बिल्कुल नई 'स्ट्रैटेजी' (कौशल) थी।

कौंसिल-प्रवेश का विरोध

हमारे नेताओं के हृदय में वह उतर न सकी थी। सिर्फ गांधी के आश्चर्यजनक आत्मविश्वास ने उनको मुग्ध कर लिया था। उसके जाते ही नशा उतर गया। लोगों की समझ में न आता था कि क्या किया जाय। अन्त में सविनय अवज्ञा के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए कांग्रेस की ओर से एक उपसमिति की नियुक्ति हुई। श्रीमती सरोजिनी भी उसकी सदस्या थीं, पर बीमारी के कारण

इसमें शामिल न हो सकीं। नवम्बर १६२२ ई० में कमेटी ने अपनी रिपोर्ट पेश की। कमेटी का असली काम तो सविनय अवज्ञा की जाँच करना था, पर उसने अपना प्रमुख विषय बना लिया कौंसिल प्रवेश को। सरोजिनी इस कौंसिल-प्रवेश की तीव्र विरोधिनी थीं। उस समय, जब अविश्वास की आँधी मोतीलालजी और देशबन्धु को उड़ा ले गई, तब भी नारी के नित्य विश्वास को लिये हुए नायडू उसपर अचल रहीं। पर उन्होंने महासमिति के निर्णय का क्रियात्मक विरोध नहीं किया। वह नहीं चाहती थीं कि इसके कारण फूट हो—यद्यपि जो होना था वह तो हुआ ही। अन्त तक बराबर कौंसिलों के सम्बन्ध में उनकी वही नीति रही—यद्यपि कभी उन्होंने इसको लेकर कोई तीव्र विरोध या झगड़ा नहीं खड़ा किया।

प्रवासी भारतीयों की सेवा

प्रवासी भारतीयों के कष्टों को दूर करने के लिए देवी सरोजिनी सदैव प्रयत्न करती रहीं। नेताओं में गांधीजी, श्रीनिवास शास्त्री, श्री एण्डरूज और श्रीमती सरोजिनी नायडू इन चार ने प्रवासी भारतीयों को अपने जीवन भर नहीं भुलाया और सदा उनके लिए कुछ न कुछ करते रहे। शर्तबन्द कुली प्रथा के विरुद्ध, १६१७ ई० में, सरोजिनी ने जबर्दस्त आन्दोलन किया था। इसी वर्ष जनवरी में इस कुप्रथा के विरोध में की जानेवाली एक बड़ी सभा में प्रवासी बहिनों के साथ किये गये पाशविक व्यवहारों को लक्ष्य करके उन्होंने कहा था—

"Let the beloved of your hearts blot out the shame that your women have suffered abroad. The words that you have heard tonight must have kindled within you a raging fire. Men of India, let that be the funeral pyre of the indenture system. Words from me tonight ! No, tears from me tonight, because I am a woman and though you may feel

dishonour that is offered to your mothers and sisters, I feel, the dishonour that is offered to me is the dishonour to my sex."

अर्थात् 'तुम अपने हृदय-रक्त से उस अपमान को धो डालो, जो तुम्हारी स्त्रियों को विदेशों में सहना पड़ा है। आज तुमने जो शब्द सुने हैं, उन्होंने अवश्य तुम्हारे हृदयों में एक भयङ्कर रोषाग्नि प्रज्वलित कर दी होगी। भारत के मर्दों! इस आग को शर्तबन्द कुली-प्रथा की चिता बना दो। आज मुझसे शब्दों की आशा रखते हैं! नहीं, आज मेरी आँखों से आँसू निकलने—मेरे रोने—का समय है; क्योंकि मैं नारी हूं, और यद्यपि तुम अपनी माँ-बहनों का अपमान अनुभव कर रहे होगे, पर मैं तो अपने अपमान को अपनी जाति के अपमान रूप में अनुभव कर रही हूं।"

सासून अस्पताल पूना से, बीमारी की हालत में ही, महात्मा गांधी ने उपनिवेशों के प्रवासी भारतीयों की दर्दनाक हालत के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित कराया था। इस वक्तव्य में बताये अत्याचारों का वर्णन पढ़कर सरोजिनी का मातृ-हृदय तड़प उठा। केनिया-प्रवासी भारतीयों के निमन्त्रण पर वह वहाँ गईं। उन्होंने वहाँ की अवस्था देखी और भिन्न-भिन्न प्रान्तों का दौरा करके भारतीयों को अपने कर्तव्य के प्रति सजग किया। उनके दौरे का यहाँ तक प्रभाव पड़ा कि प्रवासी भारतीयों ने असहयोग आरम्भ कर दिया और पोलटैक्स देने से इन्कार कर दिया। उनकी वाणी ने हजारों भारतीयों में आत्म-विश्वास की आग पैदा कर दी। प्रवासी भारतीयों ने अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट करने के लिए 'दक्षिण अफ्रीका की भारतीय कांग्रेस' के मोम्बासा अधिवेशन के अध्यक्ष पद पर उन्हें बैठाया। इसी स्थान से उन्होंने प्रवासी भारतीयों को यह उत्साहप्रद सन्देश दिया था—"तुम एक स्वर से सरकार को यह उत्तर दो कि यद्यपि प्राकृतिक जगत् में नदियाँ पीछे नहीं बहती हैं, पर हम तुम्हारे

निर्णय की नदी को पीछे लौटा कर छोड़ेंगे।" केनिया के बाद दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का निमन्त्रण भी उन्होंने स्वीकार किया। उस समय वहाँ नेटाल आर्डिनेंस बिल के विरुद्ध आन्दोलन हो रहा था। सरोजिनी ने जगह-जगह दौरा करके लोगों को दृढ़ रहने और बराबर आन्दोलन करते रहने का उपदेश किया। जहाँ-जहाँ वह गईं, उन्होंने इस समस्या पर ऐसा प्रामाणिक और ओजस्वी भाषण किया कि गोरों को भी भारतीयों के पक्ष के औचित्य को स्वीकार करना पड़ा। वह जहाँ जाती थीं, वहीं लोगों में एक बिजली पैदा कर देती थीं। उन्होंने जनरल स्मट्स, कर्नल क्रासवेल इत्यादि गोरे अधिकारियों से भी भेंट की और बड़े-जोरों के साथ भारतीय पक्ष को उनके सामने उपस्थित किया। सर्वत्र उनका बड़े उत्साह से स्वागत हुआ। उस समय उन्होंने भारत की ओर से दक्षिण अफ्रीका को यह सन्देश दिया था—"सम्भव हुआ तो भारत ब्रिटिश साम्राज्य में रहेगा और आवश्यकता हुई तो वह उससे बाहर हो जायगा और इसका निर्णय दक्षिण अफ्रीका के अधीन है।"

दक्षिण अफ्रीका से वह रोडेशिया गईं। वहाँ भी उन्होंने प्रवासी भारतीयों की अधिकार-रक्षा के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। जब १९२४ ई० की जुलाई में वह भारत लौटीं तो बम्बई बन्दर पर उनका अपूर्व स्वागत हुआ। १९२९ में उन्होंने पूर्व-अफ्रीका की भी यात्रा की।

देश के जागरण के लिए देवी सरोजिनी जो काम कर रही थीं, उसने राष्ट्र की लक्ष-लक्ष जनता में उनके लिए अपूर्व सम्मान का भाव उत्पन्न कर दिया था। यहाँ तक कि महात्मा गांधी की प्रबल इच्छा थी कि १९२४ ई० की बेलगाँव-कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर उन्हें सुशोभित किया जाय। पर गांधीजी इन्हीं दिनों जेल से छूटे थे और राष्ट्र उनके नेतृत्व का लाभ उठाने

कांग्रेस की अध्यक्षा

को व्याकुल था। पैर सरोजिनी भी गांधीजी को ही राष्ट्रपति बनाने के पक्ष में थीं, इसलिए उस साल उनको वह सम्मान प्राप्त न हो सका। परन्तु १६२५ ई० की कानपुर कांग्रेस ने उनको वह सम्मान दिया जो भारतीय राष्ट्र का सर्वोच्च गौरव है।

कांग्रेस के अध्यक्ष स्थान से उन्होंने जो भाषण किया था, वह भी उनके जीवन की सर्वग्राही प्रवृत्ति और साधना के अनुकूल था। सीधा-सादा और संक्षिप्त भाषण था। इसमें उसी सन्देश की व्याख्या थी, जो अध्यक्ष निर्वाचित हो जाने के पश्चात् अक्टूबर में उन्होंने देश के नाम दिया था। वह सन्देश यह है—

"मैं एक स्त्री ठहरी, इसलिए मेरा कार्यक्रम सीधा-सादा, गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाला है। मैं तो केवल यह चाहती हूं कि भारत-माता अपने घर की एक बार फिर सच्ची स्वामिनी बन जाय; उसके अपार साधनों पर उसी का एक मात्र प्रभुत्व हो और आतिथ्य-सत्कार की भारी क्षमता भी उसी के हाथ में रहे। भारतमाता की आज्ञाकारिणी पुत्री की हैसियत से मेरा काम यह होगा कि अपनी माता का घर ठीक करूँ और उन शोचनीय झगड़ों का निबटारा कराऊँ जिसके कारण उसका पुराना संयुक्त पारिवारिक जीवन, जिसमें अनेक जातियाँ और धर्म सम्मिलित हैं, भङ्ग न हो जाय। मेरा यह भी काम होगा कि उसकी निम्न से निम्न और बलवान् से बलवान् सन्तान को, उसकी पोष्य सन्तान को और उन सब अतिथियों और अपरिचितों को, जो उसके द्वार के भीतर मौजूद हैं, एक समान अधिकार प्राप्त हों।"

कैसा अच्छा आदर्श था। इसमें राष्ट्र का मातृत्व बोल रहा है। इसमें नारी का व्यापक, पर विशिष्ट, दृष्टिकोण हम देखते हैं।

और राष्ट्र के अध्यक्षासन पर बैठकर अपनी मृदुवाणी में उन्होंने जो कुछ कहा, वह शिथिल हो रही राष्ट्र की आत्मा को आशा और उत्साह का एक सन्देश था। उसे उन्हीं के शब्दों में यों संक्षिप्त किया

जा सकता है—

"In the battle for liberty fear is the one unforgivable treachery, and despair the one unforgivable sin."

[अर्थात् "स्वतंत्रता के युद्ध में भय ही एक मात्र अक्षम्य अपराध है, और निराशा एकमात्र अक्षम्य पाप।"]

तबसे अन्त तक बराबर सरोजिनी देवी ने इस आदर्श-वाक्य का अनुसरण किया। १६२६ ई० में उन्होंने अमेरिका की यात्रा की और वहाँ जो भाषण उन्होंने किये, उनका अमेरिकन जनता पर अपूर्व प्रभाव पड़ा। 'भारत का सन्देश' पर उन्होंने जो भाषण किया था वह संसार की सर्वश्रेष्ठ वक्तृताओं में स्थान पायेगा।

१६२६ ई० के अन्त में लाहौर-कांग्रेस हुई। लम्बी प्रतीक्षाओं के के बाद राष्ट्र ने पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय को ग्रहण किया। १६३० के साथ सत्याग्रह का वह भूचाल आया, जिससे भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्तियों की एक अच्छी टक्कर हुई। २६ जनवरी को स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा देश के कोने-कोने में दोहराई गई। २ मार्च को महात्मा गांधी ने वायसराय को 'अल्टिमेटम'—चुनौती—भेजा और १२ मार्च को उनकी वह दाँडी-यात्रा शुरू हुई, जो इतिहास में अमर रहेगी। ६ अप्रैल को उन्होंने नमक कानून भङ्ग किया। फिर तो सम्पूर्ण राष्ट्र में सविनय अवज्ञा की लहर आ गई। गिरफ्तारियों और पुलीस की डण्डेबाज़ी से देश में एक तूफ़ान छा गया। सरकार अपने असली रूप में प्रकट हुई। १४ अप्रैल को राष्ट्रपति जवाहरलाल गिरफ्तार हुए और ५ मई को महात्माजी कराडी (गुजरात) में आधी रात के समय गिरफ्तार करके यरवदा जेल भेज दिये गये।

उस तूफ़ानी ज़माने में सरोजिनी कैसे चुप बैठ सकती थीं। अब्बास तय्यबजी की गिरफ्तारी के बाद धरासणा नमक डिपो पर धावा मारने का नेतृत्व उन्होंने किया। २७ घंटे तक सड़क पर उस चिलकती धूप

में वह बैठी रहीं। डिविज़नल कमिश्नर ने भोजन तो क्या, पानी भी उन्हें न पीने दिया। १६ मई को वह गिरफ़्तार करली गईं। उनकी गिरफ़्तारी मानो भारतीय नारी के लिए एक चैलेंज थी, जिसे उसने हँसते हुए स्वीकार किया और देश ने देखा कि युग-युग से उपेक्षित कही जाने वाली नारी आज मातृभूमि की रक्षा के लिए सब प्रकार से त्याग करने का निश्चय करके मैदान में खड़ी है।

मतलब यह कि भारतीय पुनर्जागरण की प्रत्येक प्रवृत्ति से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और वह सदा उसमें आगे बढ़ती एवं दूसरों को बढ़ाती हुई चलती रहीं। इन वर्षों में प्रायः वह कांग्रेस कार्यकारिणी की सदस्य रहीं। अगस्त १९४२ में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के अन्य सदस्यों के साथ वह भी गिरफ़्तार कर ली गई थीं और लगभग दो वर्ष बाद स्वास्थ्य खराब होने के कारण जेल से बिना शर्त मुक्त कर दी गईं। मुक्त होने के बाद जो वक्तव्य उन्होंने दिये उनसे राष्ट्र के शिथिल मानस में उत्साह की तरंगें उठने लगीं और कांग्रेस के प्रति फैला भ्रम दूर हो गया।

इधर बहुत दिनों से उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। अप्रैल १९४५ ई० में एक पुत्र के देहान्त से भी उन्हें चोट पहुँची। फिर भी कर्तव्य के प्रत्येक आवाहन का उत्तर उनसे मिलता रहा। भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् कर्तव्यवश ही उन्होंने युक्तप्रान्त की गवर्नरी का भार वहन किया और बहुत शीघ्र अपने को सर्वप्रिय बना लिया। भारत की वह प्रथम महिला गवर्नर थीं। विश्वभारती की उपाध्यक्षा भी थीं और समस्त एशियाई राष्ट्रों का जो सम्मेलन १९४८ ई० में नई दिल्ली में हुआ था, उसके संगठन में उन्होंने प्रमुख भाग लिया था।

अन्तिम दिनों में

यों तो बहुत दिनों से उनका स्वास्थ्य अच्छा न था पर बापूजी की हत्या के बाद उनका दिल बैठ गया। उनके जैसी भावनाओं की रानी

के लिए यह बात अकल्पनीय थी कि गांधी जैसे अजातशत्रु को मानव-शरीरधारी और फिर इसी देश का निवासी मार सकता है! ऊपर से वे काम-धाम खूब करती थीं पर अन्दर से घुलती जा रही थीं। जब ज्यादा बीमार पड़ जातीं तब डाक्टरों की ज़बर्दस्ती से दो-चार दिन का विश्राम लेती थीं। १० फरवरी (१९४९) तक यही हाल रहा। ११ को दिल्ली जाते समय वे बड़ी दुर्बल और थकी सी लग रही थीं। ट्रेन में उन्हें एक उलटी भी हुई। दिल्ली से मोटर से उतरते समय उन्हें सिर में चोट लग गई पर उन्होंने निश्चित कार्यक्रम को स्थगित नहीं किया। १५ को जब वे लखनऊ लौटीं तो उनके सिर में गहरी पीड़ा थी और साँस लेने में भी कठिनाई हो रही थी। १६ को डाक्टरों ने जाँच की तो रक्त-चाप बढ़ा हुआ (१९०—१२८) पाया और फेफड़ों में भी कुछ खराबी मालूम हुई। सर्पिना और पैनसिलीन का प्रयोग किया गया। इससे रक्त-चाप घट (१५६—१०४) गया। पर दूसरे दिन, १८ फरवरी को, फिर बढ़ (२००—१२०) गया। २० को डा० विधानचन्द्र राय ने, जाँच के बाद पूर्ण विश्राम की सलाह दी। पर सिर के दर्द, अनिद्रा और श्वास कष्ट में कोई कमी न हुई। श्वास कष्ट के लिए १८ फरवरी से आक्सिजन (प्राणवायु) दिया जाने लगा। कुछ लाभ भी हुआ पर नींद न आई। १ मार्च को जब आक्सिजन दिया गया तो उससे भी पहले जैसा लाभ नहीं हुआ। वस्तुतः शरीर की अन्तःशक्ति क्षीण होती जा रही थी। एक की रात को तो सिर दर्द से वह अत्यधिक बेचैन रहीं और हृदय की शक्ति बहुत शिथिल हो गई। साढ़े नौ बजे रात को कुछ खून निकाला गया; सवा दस बजे नींद के लिए (ल्यूकेडोल और एट्रोपीन का) इंजेक्शन दिया गया। खून निकालने के बाद श्वासकष्ट में कुछ कमी हुई और सिरदर्द भी कुछ कम हुआ।

जीवन की अन्तिम घड़ियां

सरोजिनी देवी की एक परिचारिका ने इनके जीवन की अन्तिम घड़ियों पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

बेचैनी के कारण उन्हें ११ रातें जागते ही बीतीं और जिस रात्रि में उनकी मृत्यु हुई थी वही उनकी निद्रा की अन्तिम रात थी। अन्तिम समय तक श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी पूर्ण चेतनावस्था में थीं। मरने से एक दिन पहले जब उन्हें यह बतलाया गया कि दिल की बीमारी में उन्हें "सर्पीना टैबलट" दी जा रही है तो उन्होंने कहा कि अरे यह टैबलट तो मैं तुम्हारे जन्म लेने के पहले से ही उपयोग में ला रही हूं।

वे अपने सिर-दर्द से बुरी तरह बेचैन थीं। और उन्होंने अपनी परिचारिकाओं से यह कहा कि अब यह पीड़ा मुझे असह्य है। मैं शारीरिक यातनाओं को तो झेल सकती हूं, जिन्हें मैंने आजीवन झेला है, लेकिन मुझसे यह सिर-दर्द नहीं झेला जाता है। दिल्ली में कार से उतरते समय उनके सिर में जो चोट लग गई थी, उससे उन्हें असह्य कष्ट था।

'मुझे प्रयाग में ही शान्ति मिलेगी'

बीमारी के बावजूद भी श्रीमती सरोजिनी नायडू प्रयाग में कमला नेहरू अस्पताल के 'बेगम अबुल कलाम आजाद विभाग' के उद्घाटन समारोह में भाग लेने के कार्यक्रम को रद्द करने के लिए तैयार न थीं। उन्होंने कहा कि डाक्टर लोग मुझे वहां न जाने की सलाह देकर बड़ी बेवकूफी कर रहे हैं। वे न तो यह बतलाते हैं कि मुझे क्या बीमारी है और न मुझे जाने ही देते हैं। मैं प्रयाग अवश्य जाऊँगी—वहीं मुझे शान्ति मिलेगी।

मरते दम तक श्रीमती सरोजिनी नायडू दूसरों की भलाई करना नहीं भूलीं। उन्होंने कई बार अपनी सेवा में लगे हुए डाक्टरों एवं

जनों की सुख-सुविधा पर समुचित ध्यान न दिये जाने पर अपने एक अधिकारी को डाँटा था।

गत मंगलवार को उन्होंने यह कहा कि अब मुझे सबने छोड़ दिया है। यहाँ तक कि कुत्ता भी मेरे निकट नहीं आ रहा है।

अपने को डाक्टरों से घिरी देख कर उन्होंने कहा कि सबने मुझे क्यों घेर लिया है? क्या वे मुझे सुला सकेंगे? उन्होंने एक डाक्टर से पूछा कि क्या मैं सदा सो सकूँगी। डाक्टर ने उत्तर दिया कि हाँ, सदैव सो सकेंगी। फिर उन्होंने पूछा कि मैं कब तक सो सकूँगी। डाक्टर ने उत्तर दिया कि आप १२ घंटे तक सो सकेंगी।

'मैं सदा के लिए सो जाऊँगी'

उन्होंने कहा कि केवल १२ घंटे ही! तो फिर मैं सदा के लिए सो जाऊँगी।

डाक्टर—कृपया ऐसा न कहिए। भारत को आपकी बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह की आवश्यकता है। हम सब आपके दीर्घ जीवन एवं स्वास्थ्य के लिए ईश्वर से प्रार्थी हैं।

श्रीमती नायडू—तुम्हारी प्रार्थनाओं को कौन सुनता है। मैं केवल शान्ति में मरना चाहती हूँ—यही उन्होंने अक्सर धीमे से कहा।

रात को ९॥ बजे जब डाक्टर उनका खून निकालने के लिए गये तो श्रीमती सरोजिनी नायडू ने कहा कि आप चाहे जितना खून निकाललें, इससे कोई लाभ न होगा। १०। बजे इन्हें सोने के लिए एक इन्जेक्शन दिया गया और कमरे की सब बत्तियां बुझा दी गईं।

उसी रात को १० बजकर ४० पर डाक्टरों ने उन्हें फिर गवर्नमेंट हाउस की एक परिचारिका श्रीमती पी० शर्मा से बात करते हुए पाया। उन्होंने श्रीमती शर्मा से पूछा कि क्या आप गा सकती हैं?

श्रीमती शर्मा—मुझे गाना नहीं आता है।

श्रीमती नायडू—नहीं, नहीं आप गाना जानती हैं—कृपया

गाइये। मेरे निकट और कोई भी नहीं है। मैं उन्हें परेशान नहीं करना चाहती हूँ। मुझे शान्ति चाहिए।

परिचारिका ने कुछ गीत गाये फिर उनकी मालिश की। तत्पश्चात् श्रीमती नायडू ने नर्स को सोने के लिए कहा और उसे यह कष्ट देने पर दुःख प्रकट किया।

११॥ बजे उनकी श्वास धीरे-धीरे चल रही थी। २ बज कर ४५ मिनट पर उनकी आँख खुल गई और उन्हें कफ की गड़गड़ाहट में पीड़ा होने लगी। नकली तौर से उन्हें श्वास दिलाने की क्रिया की गई। लेकिन उससे कुछ फायदा नहीं हुआ। और वे सदैव के लिए सो गईं।

अपने पीछे वे दो पुत्रियाँ (पद्मजा और लीलामणि), एक पुत्र (डा० जयसूर्य जिन्होंने उनका अन्तिम संस्कार किया), भाई (प्रसिद्ध कवि हरीन्द्रनाथ) तथा पति को छोड़ गई हैं।

समस्त देश ने उनकी मृत्यु पर शोक मनाया और दुनिया भर में उनके अभाव को अनुभव किया गया। उनकी मृत्यु से हमारे राष्ट्रीय जीवन में मानो एक अन्तर पड़ गया है जिसका भरना बहुत कठिन है।

[३]

काव्य की अर्चना

जब हम भारतीय अंग्रेजी काव्य की दुनिया में प्रवेश करते हैं तो दो ऐसी नारी मूर्तियाँ मिलती हैं जो जीवन की मधुरता में स्वयं ही डूबी हुई हैं। और जो कुछ इङ्गित करती हैं उसमें एक अपूर्व सौन्दर्य खेलता हुआ दिखाई पड़ता है। इनमें एक तरुदत्त बहुत पहले स्वर्ग की वीणा-वादिनी हो चुकी थीं। दूसरी हैं सरोजिनी नायडू।

ऐसा नहीं कि इसके बाद नारी-काव्य का स्रोत सूख गया हो। श्रीमती नीलिमा देवी और श्रीमती शाहनवाज़ ने आज भी वह क्रम जारी रखा है, पर न केवल स्त्रियों वरं समस्त स्त्री-पुरुष भारतीय कवियों में कोई ऐसा नहीं जिसकी कविता ने भारत की आत्मा को दुनिया के सामने इतने मधुर, इतने सुन्दर रूप में रक्खा हो, जितने सुन्दर रूप में सरोजिनी ने रक्खा है। उनकी अनेक कविताएँ 'पोस्टग्रेजुएट' श्रेणियों में पढ़ाई जाती रही हैं। अंग्रेजी-भाषा-भाषी साहित्य-रसिकों को उनकी कविता ने मुग्ध कर लिया है। बहुतों की सम्मति में तो वह आधुनिक संसार की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री थीं।*

विशुद्ध भाषा, निर्दोष पद-मैत्री, अनिन्द्य सौन्दर्य और मधुरता रागिनी सरोजिनी देवी की कविता की विशेषताएँ हैं। जब वह लिखती थीं तो वेदना-विह्वल हृदय से लिखती थीं। स्वप्रसूता भावनाओं और अन्तरतम के उच्छ्वासों की निर्झरिणी उनकी कविता में बहती दिखाई पड़ती है। उनकी रचनाओं में उनके हृदय की सर्वग्राही सहानुभूति और वेदना फूटकर बह निकली है। अपनी पुस्तक 'भारतीय स्त्रियों की

---

*"... ... ... *and one may safely say, without much fear of challenge, that she is perhaps the greatest living poetess today.*"

—***Alfred E. Pheres** in the Japan Times.*

चुनी रचनाएँ, (Select Poems by Indian Women) की भूमिका में मार्गरेट मैकनिकोल ने लिखा है कि "सरोजिनी की कविताओं में, सम्पूर्ण विषमताओं को मिटाकर स्वर-सामञ्जस्य लाने वाला प्रवाह है।" डबल्यू० टी० स्टेड ने सरोजिनी की 'दी गोल्डेन थ्रे सहोल्ड' (सुनहरी देहरी) नामक काव्य-पुस्तक पढ़कर कहा था—"यह छोटी पुस्तक उन निन्दकों को सदैव के लिए चुप कर देगी, जो कहा करते हैं कि स्त्रियाँ कविता नहीं कर सकतीं।"

सरोजिनी की कविताएँ श्रमपूर्वक, ज़बर्दस्ती, लिखी गई रचनाएं नहीं; वे हृदय के अत्यन्त शुद्ध प्रदेश से निर्गत हुई हैं। वे न तो धन के लिए लिखती थीं, न यश के लिए। जब भावोद्रेक होता उनमें नारी की पावन कोमलता और वेदना जाग उठती, तभी कुछ लिख जाता। आरम्भ में जब उन्होंने कविता लिखनी शुरू की, वह अपने ही तक उन्हें रखना चाहती थीं। कई मित्रों ने अनुरोध किया कि 'प्राइवेट सर्कुलेशन' के लिए ये कविताएँ छपाई जायँ। इसी समय उनकी कुछ कविताएँ भारत के एक भूतपूर्व वायसराय के देखने में आईं। वह उन पर मुग्ध हो गये और उन्होंने भी उनके प्रकाशन की आवश्यकता का समर्थन किया। इस प्रकार मित्रों के अनुरोध के कारण सरोजिनी को ये कविताएँ प्रकाशित करनी पड़ीं।

सरोजिनी की कविता का सब से बड़ा गुण उसकी सङ्गीतमयता है। अपने शब्द-चित्रों की चारों ओर सङ्गीत का ऐसा आकर्षण-जाल वह बुन देती हैं कि मन मुग्ध हो जाता है। उनकी मोती, वसन्त का आवाहन, घनश्याम और डोली वाले शीर्षक कविताएँ पढ़ते-पढ़ते आँखें मधुर भाव से मुँदने लगती हैं। उनकी 'भाग्य को चुनौती' तथा 'जागो' शीर्षक कविताएँ मन में यौवन का साहस उत्पन्न करती हैं।

सरोजिनी की कविता में हम एक बात और देखते हैं—वह यह कि उनका मानवीय आनन्द प्रकृति की पार्श्वभूमि पर खिलता है। उनके

लिए प्रकृति मानव-सापेक्ष और मानव तथा उसके व्यक्तित्व के प्रति भावों से भरी हुई है। इस विषय में वह हिन्दी के श्रेष्ठ कवि स्व० प्रसाद जी की याद दिलाती हैं।

इन्होंने समय समय पर जो कविताएँ लिखी हैं, उनके तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। १. The Golden Threshold (सोनहरी देहरी) २. The Bird of Time (काल-विहङ्ग) ३. Broken Wings (टूटे हुए डैने)। इनमें भारतीय आशाओं, अभिलाषाओं और आकांक्षाओं का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। इन कविताओं में अपूर्व माधुर्य और रस है। भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इन रचनाओं का बड़ा मूल्य है। इनके द्वारा कितने ही विदेशी हृदयों तक भारतीय आत्मा की संवेदनशीलता का सन्देश पहुँचा है।

यद्यपि इनकी कविताओं में प्रेम का आध्यात्मिक रङ्ग, प्रकृति के वैभव और दिव्यानन्द का सन्देश मौजूद है परन्तु उनके प्रेम-काव्य में ही उनका सर्वश्रेष्ठ प्रतिबिम्बित्व हुआ है। तीव्र भावावेश और कल्पना तथा सङ्गीत ने इन कविताओं को एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया है। थोड़ी ही कविताएँ उनके इस प्रेम-गीत के भावावेश के सामने ठहर सकेंगी—

Cover mine eyes, O my Love!
Mine eyes that are weary of bliss
As of light that is poignant and strong
O, silence my lips with a kiss
My lips that are weary of song!
Shelter my soul, O my Love!

["हे मेरे प्रियतम! मेरी इन आँखों को, जो तीखे प्रकाश के भाँति, आनन्द से थकी हुई हैं, तुम ढक दो। मेरे अधरों को चुम्बन से चुपकर दो—मेरे अधरों को, जो सङ्गीत से थक गये हैं। मेरे प्रिय

मेरी आत्मा को आश्रय प्रदान करो।"]

अंग्रेजी कविता के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ ने बड़ी प्रसिद्धि पाई, पर उनके काव्य में भारत की आध्यात्मिकता बोलती है। वह गूढ़ और कहीं-कहीं जटिल है। सरोजिनी में भारत का भावात्मक हृदय बोलता है। दोनों में वही अन्तर है जो पुरुष और नारी में है। सरोजिनी के विषय भी वे लिये हैं, जो भारत के लक्ष-लक्ष प्राणों में युग-युग से बसे चले आ रहे हैं। इनकी कविता की भाव-धारा बिल्कुल भारतीय है। देखिए 'चम्पक-कलिका' (Champak Blossoms) नामक कविता में वह कहती है—

Only to girdle a girl's drak tresses,
You fragrant hearts are un-curled
Only to guard the vernal breezes
Your fragile stars are unfurled,
You make no boast in your purposeless beauty
To serve or profit the world.
Yet, 'tis of you into the moonlit ages
That maidens and minstrels sing.

["कुमारियों की कृष्ण वेणी को बाँधने के लिए ही तुम्हारे सुगन्ध-पूर्ण हृदय खुलते हैं। वासन्तिक पवन की रक्षा के लिए ही तुम्हारे मृदु पटल अनावृत होते हैं। तुम अपने निरुद्देश्य सौन्दर्य से विश्व की सेवा या कल्याण करने की कोई आत्म-श्लाघा नहीं करती। फिर भी तुम हो, जिसका गान चन्द्रज्योतित युगों में कुमारियाँ और वन्दीजन करते हैं।"]

इसी प्रकार जेबुन्निसा के सौन्दर्य-वर्णन में भी कवि ने भारतीय अलङ्कारिक काव्य-प्रणाली का अनुसरण किया है—

When from my cheeks I lift my veil
The roses turn with envy pale.

And from their pierced hearts rent with pain
Send forth their fragrance like a wail.

["जब मैं अपने गालों पर से घूँघट उठाती हूँ तो गुलाब ईर्ष्यावश पीले पड़ जाते हैं, और उनके क्षत-विक्षत एवं वेदना-व्यथित हृदयों से, रुदन की भाँति, उनका सौरभ निकलता है।"]

सरोजिनी का एक गीत बड़ा लोकप्रिय है। वह विश्व-साहित्य में स्थान पाने योग्य है। अंगरेजी साहित्य के विशाल काव्य-भण्डार में भी इसकी जैसी गति, लय, संगीत और मृदुता से परिपूर्ण कविताएँ थोड़ी ही होंगी। इस कविता का नाम 'पालकी-वाहक' या 'डोलीवाले' (The palanquin bearers) है। नववधू विदा होकर ससुराल जा रही है। कहारों का हृदय इस सौन्दर्यराशि को ढोते हुए आनन्द से थिरक रहा है। वे चलते हुए गाते जा रहे हैं। उनके गान में प्रति पग पर ताल-सुर की असाधारण मृदुता और कोमलता है। देखिए—

Lightly, O lightly we bear her along,
She sways like a flower in the wind of our song,
She skims like a bird on the foam of a stream,
She floats like a laugh from the lips of a dream
Gaily, O gaily, we glide and we sing.
We bear her along like a pearl on a string.

["हम उसे हलकेपन के साथ ले जा रहे हैं। वह हमारे संगीत समीर में फूल की भाँति हिल रही है। वह सोते के फेन पर पक्षी की भाँति बहती चली जा रही है। वह स्वप्न के अधरों से निकलनेवाली हँसी के समान तैर रही है। आनन्द में, आनन्द में, हम फिसलते और गाते जा रहे हैं। हम उसे तार पर झूलते हुए मोती की भाँति लिये जा रहे हैं।"]

ज्यों-ज्यों कहार आगे बढ़ते हैं, गीत की गति और लय में भी अधिक प्रवाह आता जा रहा है—

Softly, O softly we bear her along,
She hangs like a star on the dew of our song,
She springs like a beam on the brow of the tide.
She falls like a tear from the eyes of a bride,
Lightly, O lightly we glide and we sing,
We bear her along like a pearl on a string.

["हम उसे मुलायमियत से—मृदु मन्दगति से—ले जा रहे हैं। हमारे सङ्गीत के ओस-बिन्दु पर वह एक तारिका की भाँति झूल रही है। वह ज्वार की भ्रू-भङ्गिमा पर एक किरण की भाँति नाच उठती है। वह नववधू की आँख से ढुलकते आँसू के समान गिर पड़ती है और हम लोग हलके-हलके गाते और फिसलते-से चले जा रहे हैं-हम उसे तार पर झूलते हुए मोती की भाँति लिये जा रहे हैं।"]

प्रेम-तत्व में गम्भीरता और तीक्ष्ण दृष्टि की भी कमी नहीं है। उनकी आत्मा उसकी खोज में है जिसे पाकर ही वह सन्तुष्ट होगी। इस खोज और पुकार में स्वभावतः आध्यात्मिक स्पर्श है—

But in the desolate hour of night when
An ecstasy of starry silence sleeps
O'er the still mountains and the soundless deeps,
And my soul hungers for thy voice, O then,
Love, like the magic of melodies,
Let thy soul answer mine across the seas.

["किन्तु आधी रात की सूनी घड़ियों में, जब तारों की शान्ति का आनन्द शान्त पर्वतों और नीरव समुद्रों पर सोने लगता है और मेरी आत्मा तुम्हारा कण्ठ-स्वर सुनने के लिए व्याकुल हो उठती है। तब, हे मेरे प्रियतम ! सङ्गीत-प्रवाह के जादू की भाँति, समुद्र के

उस पार से तुम मेरी आत्मा की पुकार का उत्तर देना।"]

इसी प्रकार उनकी निम्नलिखित कविता में प्रेम का रूप कितना मार्मिक है—

You haunt my waking like a dream
My slumber like a moon,
Pervade me like a musky scent,
Possess me like a tune,
What war is this of thee and me ?
Give o'er the wanton strife,
You are the heart within my heart,
The life within my life.

["तुम जागरण में स्वप्न और नींद में चाँद की भाँति मेरे पीछे लगे हुए हो। मृग-सौरभ की भाँति, मुझमें व्याप्त हो जाते हो और एक रागिनी की भाँति मुझे अवश कर देते हो। यह 'मैं' और 'तुम' का—यह मेरा तुम्हारा संघर्ष कैसा है ? इस निरर्थक झगड़े को छोड़ दो; तुम मेरे हृदय के हृदय और जीवन के जीवन हो।"]

ऐसा नहीं कि केवल प्रेम-काव्य में ही उन्होंने सफलता प्राप्त की हो; उनकी सहानुभूति व्यापक और विस्तृत है। उन्होंने अपने में माता का विकास किया और अपने अञ्चल के नीचे शत शत बच्चों को शान्ति दी। उनके काव्य की यह भी एक बड़ी विशेषता है कि उसमें छन्दों का चुनाव विषय के अनुसार हुआ है। उनकी कविता 'नींद का एक गीत' (The Song of Sleep) में संगीत और माधुर्य का कैसा मिश्रण है—

From groves of spice,
O'er fields of rice,
Athwart the lotus stream.
I bring for you

Aglint with dew
A little lovely dream.

["सुवासित कुञ्जों से, धान के खेतों के ऊपर कमल-स्रोत के उस पार से मैं तुम्हारे लिए ओस-बिन्दुओं से गुँथा हुआ एक छोटा सुन्दर स्वप्न लाई हूं।"]

× × ×

करुण रस की कविताओं में सरोजिनी का 'अनाथ बालक' (The Lonely Child) सबसे अच्छी कविता है। इसमें रस का श्रेष्ठ अवतरण हुआ है। इसकी लाइनें देखिए—

Silver star! will you be my mother,
Will you stay with me and kiss me,
in the black night when I cry?
Laughing wind! I want you for a brother
Will you play with me and tell me
story of the sea and sky?
Sometimes O wind, you know I am so lonely:
O star, I am afraid of sounds and creeping
shadows on the wall;
God kisses and loves little children
Only I wish that he had made someone
to love me and hear me call.

["हे रजत तारिका! क्या तुम मेरी माँ बनोगी? क्या तुम मेरे साथ ठहरोगी, और अँधेरी रात में जब रोऊँ तो मेरा चुम्बन लोगी? हँसते हुए समीरण! मैं तुम्हें भाई के रूप में चाहता हूँ। क्या तुम मेरे साथ खेलोगे और मुझे सागर और आकाश की कहानी सुनाओगे? हे समीर! तुम जानते हो, कभी-कभी मैं कितना अकेला होता हूँ। हे तारिका? मैं दीवार पर चलती हुई छाया तथा शब्दों से डर जाता

हूँ। सुना है, ईश्वर छोटे बच्चों को प्यार करता और उनका चुम्बन लेता है। मैं इतना ही चाहता हूँ कि उसने मुझे प्यार करने और मेरी पुकार सुनने के लिए भी किसी को बनाया होता।"]

इसके बाद भी कुछ लाइनें हैं; वे मुझे याद नहीं हैं पर इतना पर्याप्त है। इसे गाते-गाते आँखें भर आती हैं और रस से हृदय पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सरोजिनी की कविता में संगीत, कल्पना, सहानुभूति और प्रवाह का सुन्दर मिश्रण है! उनका काव्य उनके जीवन-स्रोत को व्यक्त करता है। काव्य के माध्यम से वे सौन्दर्य के शोध में रहीं और अन्त में (उसी में) तन्मय हो गईं। अन्तिम क्षणों में भी उन्होंने गीतों की ध्वनि सुनकर ही अनन्त निद्रा ग्रहण की। उनकी अन्तिम इच्छा यही थी कि मेरे कानों में संगीत की मृदुता प्रवाहित हो। और जो काम डाक्टरों की दवाइयों और इंजेक्शनों से नहीं हुआ—नींद नहीं आई, वही संगीत से हुआ। मानो उनका जीवन जो एक लम्बे काव्य के समान था, संगीत सुनते-सुनते उसी में खो गया। नींद आई, ऐसी नींद जो कभी नहीं टूटती।

जीवन का अन्तःदर्शन

इतनी बातें कर लेने के बाद हमें अब सरोजिनी के जीवन को सामने रखकर बारीकी से देखना है और उसे मथकर मक्खन निकाल लेना है। इन फुटकर बातों के बीच हमें उनके जीवन की केन्द्रीय धारा या केन्द्रीय सत्य को पा लेना है। यह अभी तक हमने जो कुछ लिखा है, वह स्थूल सरोजिनी की रूप-रेखा भर है। इन रेखाओं के भीतर उसका प्राण कहाँ है, और उसकी आत्मा क्या है, यह जान लिये बिना मानो हमने सरोजिनी को नहीं देखा और नहीं पाया।

सरोजिनी की आत्मा

इस अध्ययन के ऊपर जो शीर्षक है ('सरोजिनी नायडू : आधुनिक भारतीय स्त्रीत्व की प्रतिनिधि') वह कुछ यों ही—नहीं है। एक शब्द में वह देवी नायडू के जीवन का तत्त्वार्थ है, और इस 'मैग्नीफाइंग ग्लास' से देखें तो बहुत-सी बारीक रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी।

नारी की त्रिमूर्ति

सरोजिनी के जीवन में हम नारी की त्रिमूर्ति—कन्या, रमणी और माता के दर्शन करते हैं। उनका जीवन इसी क्रम से उठा भी है। आरम्भ में उसमें कन्या की चञ्चलता, शरारत, सरलता और उठान है। मध्य में उसमें रमणी का यौवन-प्रवाह, रस और प्रेमलता है और उत्तर जीवन में, जो अभी चल ही रहा है माता को प्रकट और विकसित होते हुए देखा जा सकता है। रमणीत्व के काल में भी मातृत्व की अन्तःसलिला का अस्तित्व रहा है—जैसा कि नारी में प्रायः होता है। वस्तुतः नारी के जीवन की सफलता उसके मातृत्व में

है, और सरोजिनी ने अपने जीवन के इस केन्द्रीय सत्य को कभी आँखों से ओझल नहीं होने दिया।

उनका आरम्भिक जीवन आराम, खेल कूद, क्रीड़ा में बीता है, उनका मध्य जीवन कविता एवं जीवन की अनेक प्रवृत्तियों द्वारा, संसार को प्रेम का सन्देश देने में बीता और उनका उत्तर जीवन मातृत्व की विशालता और व्यापक पुकार से परिपूर्ण होकर बीता। उन्होंने जीवन को अत्यन्त स्वाभाविक रूप में ग्रहण किया और उसे विकसित होने दिया।

उनके जीवन-विकास के मूल में, एक सजीव नारी की स्वाभाविक उत्सुकता मिलती है। इसी के कारण वह प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक वस्तु के विषय में उत्सुकता और जानकारी रखती थीं और हर चीज़ के ब्योरा में जाती थीं। इस विषय में उनकी सम्पन्नता अद्भुत थी। मानों वह व्यक्ति नहीं, संस्था थीं। किसी लेखक ने एक बार ठीक ही लिखा था—"She is eyes and ears of India. Nothing escapes her." अर्थात् "वह भारत की आँख–कान हैं। कुछ भी उनके दर्शन-श्रवण से नहीं छूटता।" उनकी स्मरण शक्ति असाधारण थी। शायद ही किसी परिचित को कभी भूलती थीं। पुराने प्रसंग उन्हें याद थे। नारी एवं माता की सहज मानवता के कारण वह प्रत्येक के अन्तर में प्रवेश करती थीं। इसीलिए व्यक्तियों के विषय में उनकी सम्मति और निर्णय अचूक होते थे। हाँ, सार्वजनिक प्रश्नों पर वह निश्चयात्मक रूप से कुछ कहने में हिचकिचाती थीं। यह भी मूलतः उनके नारीत्व का ही प्रसाद था। अपने नारीत्व एवं मातृत्व के ही कारण वह धनी निर्धन, उदार अनुदार सभी के साथ सहज व्यवहार कर सकती थीं और सभी में मिल जाती थीं। उनके लिए सभी मानव थे। उनके निकट इन मानवों की विभिन्न कक्षाएँ एवं उपावरण ('लेवेल') प्रासंगिक

नारी की उत्कण्ठा

एवं क्षणिक थे। सनातन नारीत्व एवं मातृत्व ने ही उन्हें वह अधीरता दी जिसके कारण वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ चलती दिखाई देती थीं। वर्षों पूर्व उन्होंने एक व्याख्यान में कहा था—"Patience! How I hate that word!" (धीरज! मैं इस शब्द को कैसी घृणा करती हूं!) इसमें भी वही नारी बोल रही है।

सरोजिनी के जीवन का सिंहावलोकन करते हुए अक्सर पाठक एवं दर्शक के ओठों पर एक प्रश्न उठता रहता है कि कैसे यह काव्य के आनन्द का गान करने वाली चिड़िया राजनीति के कण्टक-जग में आ गई? जो साहित्य को जीवन से अलग देखते हैं या उसे केवल व्यक्ति के जीवन तक ही बाँधकर रखना चाहते हैं, उनको इसका दर्द भी हुआ कि सरोजिनी ने कविता का क्षेत्र छोड़कर अपने साथ अन्याय किया। उनका यह भी कहना है कि यदि उन्होंने काव्य का त्याग न किया होता तो आज संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक होतीं। जो उनको जानते रहे हैं, वे यह भी जानते हैं कि अन्त तक अँग्रेजी सहित्य के विधाताओं में उनकी जैसी प्रतिष्ठा रही, वैसी रवीद्रनाथ के अतिरिक्त किसी भारतीय को प्राप्त न हुई। सभी श्रेष्ठ आलोचकों ने उनमें महाकवि की प्रतिभा देखी। तब उनके कवि से राजनीतिज्ञ बन जाने पर यदि लोगों को दर्द होता है तो आश्चर्य क्यों हो?

एक प्रश्न

पर बात यह है कि उनके जीवन में ये जो परिवर्तन हुए, वे तत्त्वतः तो कोई परिवर्तन नहीं हैं। जीवन की मुख्य धारा तो वही रही; ऊपर की अवस्थाएँ बदलती गईं; कवि बढ़कर जनता में समा गया। आत्म-समर्पण व्यक्ति से समाज तक फैल गया। नारी माता बन गई। मातृत्व की भावना ने भोग को शिथिल कर दिया। और जीवन अगणित बच्चों में बँटकर विस्तृत हो गया।

यह कहना कि सरोजिनी का कवि नष्ट हो गया, ग़लत है। यह कहना कि कवि की समाधि पर राजनीतिज्ञ का अवतार हुआ और भी ग़लत है। असल में हुआ यह कि कवि नष्ट न होकर विकसित हो गया और निजी बन्धनों और सीमाओं को तोड़कर बाहर निकल गया। काव्य लेखनी में व्यक्त न होकर कोटि कोटि नङ्गी, भूखी और पीड़ित जनता की सेवा में बोलने लगा। जान पड़ता है, मित्रों ने सरोजिनी से भी इसकी शिकायत की थी कि तुमने कविता का क्षेत्र क्यों छोड़ दिया। वह स्वयं इसका उत्तर देती हैं:—

"Often and often have they said to me—" Why have you come out of ivory tower of dreams to the market place? Why have you deserted the pipes and flutes of the poet to be the most strident trumpet of those who stand and call the nation to battle?" Because the function of a poet is not merely to be isolated in ivory towers of dreams set in a garden of roses, but his place is with the people, in the dust of the highways, in the difficulties of the battle is the poet's destiny. The one reason why he is a poet is that, in the hour of danger, in the hour of defeat and despair, the poet should say to the dreamer—if you dream true, all difficulties, all illusions, all despairs are but 'Maya'; the one thing that matters is hope. Here I stand before you with your higher dreams, your invincible courage, your indomitable victories. Therefore today in the hour of struggle, when in your hands it lies to win victory for India, I a weak woman, have come out of my home, I, a dreamer of dreams have come into the market place, and I say—"Go forth, comrades to Victory."

अर्थात् "बार-बार लोगों ने मुझसे पूछा है—"तुम स्वप्न के हाथी-दाँत-शिखर को त्यागकर इस कोलाहलमय दुनिया में क्यों आ गई हो? तुम कवि की वीणा और वंशी का त्यागकर उन लोगों की वज्रघोषी तुरही क्यों बन गई हो, जो राष्ट्र का युद्ध के लिए आवाहन करते हैं?" यह मैंने इसलिए किया है कि गुलाब के उद्यान में स्थित स्वप्न के हाथी-दाँत-शिखर पर बैठ रहना कवि का कार्य नहीं है। उसका स्थान जनता में, राजपथ की धूल में, है। संग्राम की कठिनाइयों में ही कवि का भाग्य निहित है। कवि होने के लिए एक आवश्यक बात यह है कि वह भय के समय, पराजय और निराशा की घड़ियों में, स्वप्नदर्शी से कह सकें कि 'अगर तुम सच्चा स्वप्न देख रहे हो तो समझ लो कि सारी कठिनाइयाँ, सारे श्रम, सारी निराशाएँ 'माया' (मिथ्या) हैं; केवल आशा ही सत्य है। आज यहाँ मैं तुम्हारे सामने तुम्हारे उच्च स्वप्न, तुम्हारे दुर्भेद्य साहस, और तुम्हारी अजेय विजयों के साथ खड़ी हूँ। इसलिए आज, इस संग्राम की घड़ी में, जब भारत के लिए विजय प्राप्त करना तुम्हारे अधीन है, मैं, एक निर्बल नारी, अपने गृह से बाहर निकल आई हूं;—मैं, स्वप्नों की स्वप्नदर्शिनी आज इस कोलाहल के बाजार में खड़ी होकर तुमसे कहती हूं—'बन्धुओ, जाओ और विजय प्राप्त करो'।"

तब यह प्रश्न उठता है कि क्या सरोजिनी ने कवि का तिरस्कार करके राजनीतिज्ञ को अपनाया?

नहीं, सरोजिनी राजनीति में रहकर भी राजनीतिज्ञ ('पालिटीशियन') नहीं रहीं। वह राजनीति में आईं इसलिए कि उसे काव्य का, मानवता का सन्देश दें और जब राजनीति को ऊँचे स्तर पर उठाने का प्रयत्न हो रहा हो तब उसमें योग दें। वह राष्ट्रीयतावादिनी उतनी नहीं, जितनी देशभक्त थीं। इस गहरी देशभक्ति का आधार राजनीति नहीं, वरं मातृत्व की वह प्यास थी जो अपने अगणित बच्चों को दुःख और कष्ट में नहीं

देख सकती । यह मातृत्व के सम्पूर्ण आत्मार्पण की भूख थी । इसीलिए जब वह बोलती थीं तो उनकी वाणी काव्य की धारा-सी उनके मुख से निकलती थी । अवस्था ने, राजनीति ने हृदय की मृदुल लहरों और आवेगों को ज़रा भी शिथिल नहीं किया । उनकी वाणी में अन्त तक यौवन का उन्मेष और प्रभाती वायु का जीवनदायी सन्देश था । १९२९ ई० में, अमेरिका में, उन्होंने जो भाषण किया था, वह मातृत्व के ओज से भरा है, जैसे भारत माता ही स्वयं अमेरिका से बोल रही हो। यह सब इसीलिए कि उनका मातृत्व राजनीति की उथल-पुथल और उसके विष को कुचलकर चल सका । यह इसलिए कि वह जान सकी थीं कि नारी का अमृत कहाँ है और उसकी अमरता का स्रोत कैसे अक्षुण्ण रखा जा सकता है । वह गौरव के शिखर से, सन्तति को सन्देश देती हुई बोलतीं थीं और मातृत्व के इस चरम बोध के कारण ही नारी-जागरण आन्दोलन की पथ-प्रदर्शिका होकर भी आधुनिक रमणी की उच्छृंखलता की घोर विरोधिनी थीं; वैभव के वातावरण में पलकर, सौन्दर्य के स्वप्नों से अभिभूत रहकर और कवि के कल्पना-राज्य की रानी होकर भी उनमें अन्य भारतीय स्त्री-नेताओं का कर्कश स्वर, इसीलिए नहीं था । कांग्रेस के सर्वभारतीय नेताओं में वही एक ऐसी थीं, जो किसी दल या संकुचितता से सर्वथा ऊपर थीं । उनका जीवन प्रति पग पर सामञ्जस्य से पूर्ण था और प्रत्येक स्थिति में उनका सन्देश ज्यों का त्यों था । उन्होंने एक बार कहा था—"I am of a tribe of Beauty" (मैं सौन्दर्य की जाति की हूं ।) उन्होंने राजनीति की कठोरता में अपना वह ध्येय क़ायम रखा । आज से वर्षों पूर्व उन्होंने जो कविता लिखी थी, उसमें स्वयं अपने जीवन की केन्द्रीय धारा को प्रकट किया है—

To priests and to prophets
The joy of their creeds

To kings and their cohorts
The gloru of their deeds,
And peace to the vanquished,
And hope to the strong.
For me, Oh, my master,
The rapture of song

unto the strife of the throng and tumult
The war of sweet love against folly and wrong
Where brave hearts carry the sword of battle
'Tis mine to carry the banner of song.
The solace of faith to the lips that falter.
The succour of hope to the hands that fail
The tidings of joy when peace shall triumph
When truth shall conquer and Love prevail.

× × ×

अर्थात्—"धर्मयाजकों और प्रवक्ताओं को उनके धर्म का आनन्द, सम्राटों और उनके साथियों को उनके कृत्यों का यश, पराजितों को शान्ति, शक्तिमानों को आशा मुबारक हो। हे स्वामी! मुझे तो केवल संगीत की विह्वलता चाहिए।

"जहाँ विश्व की भीड़ और कोलाहल के सङ्घर्ष में अज्ञान और अनौचित्य के विरुद्ध मधुर प्रेम का युद्ध चल रहा है और जहाँ वीर हृदय युद्ध का खड्ग लेकर जाते हैं, वहाँ सङ्गीत का झण्डा ले जाना मेरा काम है। मेरा काम प्रकम्पित और विचलित ओष्ठों तक विश्वास की शान्ति पहुँचाना और असफल तथा दुर्बल हाथों को आशा की सहायता प्रदान करना है। जब शान्ति विजयिनी होगी, जब सत्य विजयी होगा और प्रेम का राज्य फैल जायगा तब सब तक आनन्द की लहर पहुँचाना मेरा काम है।"

सरोजिनी पर अपने माता-पिता दोनों का गहरा संस्कार पड़ा था। इनके पिता अघोरनाथ जी को जिन्होंने देखा है उनका कहना है कि वह एक अद्‌भूत व्यक्ति थे। उनके भव्य मस्तक में दो प्रकाशमान आँखें—गहराई में डूबकर खोज करने वाली आँखें, श्रद्धा और आत्म विश्वास से जलती हुई आँखें सब को आकर्षित करती थीं। सरोजिनी की आँखें भी पिता की आँखों की याद दिलाती थीं। उनके सारे शरीर में उनकी आँखें अत्यधिक आकर्षक थीं। बड़ी-बड़ी गोल कमल सी आँखें जिनमें एक गहरी एवं उच्च सौन्दर्योपासना की छाया और काव्य एवं संगीत की अरुणिमा थी। आँखों के साथ अपने नियुक्त कार्य में गहरी निष्ठा सरोजिनी को पिता से मिली थी।

माता-पिता के संस्कार

नारी सुलभ मृदुल भावनाएँ, मातृत्व का उत्सर्ग एवं काव्यानुराग माता वरदा सुन्दरी से प्राप्त हुआ। वातावरण उच्च सांस्कृतिक भावनाओं से पूर्ण रहा होगा क्योंकि अघोरनाथ जी के सभी बच्चों ने जीवन में सफलता और प्रतिष्ठा पाई—यद्यपि उनकी रुचियों में भिन्नता है। सरोजिनी की बहिन मृणालिनी ने भी इंगलैण्ड में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। भाई वीरेन्द्रनाथ ने क्रान्तिकारी दल में सम्मान प्राप्त किया और उनका सारा जीवन जर्मनी तथा अन्य देशों में भारतीय स्वतंत्रता की आराधना में बीता। हरीन्द्रनाथ ने काव्य के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता और प्रसिद्धि पाई है।

उनके सार्वजनिक जीवन की सफलता में उनके वक्तृत्व और उनकी संकुचितता से ऊपर उठने की शक्ति का प्रमुख भाग रहा है। जहाँ तक वक्तृत्व का सम्बन्ध है कदाचित् वह अपने समय की सर्वोत्कृष्ट महिला वक्ता थीं। वक्तृत्व उनके लिए सहज था। वह बिना प्रयत्न के अन्तर के सम्पूर्ण संचित कोष को अनावृत करते हुए, बोलती थीं। उनके वक्तृत्व में श्रोता को ऊपर

अपूर्व वक्तृत्व

उठाने वाली प्रेरणाएँ होती थीं। प्रसिद्ध तुर्की महिला खलीदे अदीब खानम ने लिखा था—"वक्ता के रूप में न केवल भारत में वरं समस्त विश्व में उनका ऊँचा स्थान है।" ज्यों ज्यों उनकी वक्तृता आगे बढ़ती थी वे स्वयं जैसे ऊँची उठती जाती थीं। उनके भाव-प्रवाह में बहते हुए शब्द, उनका अलंकरण, उनका क्रम सब अद्भुत होते थे। उनके अनेक व्याख्यान आज भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं। मार्च १९४८ में एशियाई देशों का जो सम्मेलन दिल्ली में हुआ था उसमें अध्यक्ष के रूप में उनका व्याख्यान उनकी वक्तृत्व कला का एक नमूना मानकर उपस्थित किया जा सकता है।

"मैं आपका अभिनन्दन करती हूं इसलिए कि एक बार फिर आप अपनी पुरातन महानता का स्मरण करें और हम तथा आप एक सामान्य स्वप्न देखें। एशिया संसार को मुक्त करेगा। एशिया शत्रु-देश नहीं बनेगा। एशिया विश्व-भ्रातृत्व का देश बनेगा और एशिया-वासियों तथा विश्व की स्वतंत्रता का निर्माण करेगा।"

"आई बिड यू राइज़ फ्राम योर ग्रेव्स। आई बिड यू बिकम पार्ट आफ़ ऐन इटर्नल स्प्रिंग टाइम। आई बिड यू टु राइज़ ऐंड से—'देयर इज़ नो डेथ; देयर शैल बी नो डेथ।' वी शैल मूव टुगेदर, दि पीपुल आव एशिया, अनडिफीटेड बाई डिसास्टर, नाट डिसकरेज्ड बाई ऐनी थिंग दैट मे बिफाल,फार इट इज़ पार्ट आफ माई क्रीड ऐंड माई ट्रेडीशन ऐंड माई हेरीटेज टु बिलीव दैट नथिंग कैन डाई दैट इज़ गुड।"

अर्थात् "मैं तुम्हें कब्र से उठ खड़ा होने का आदेश करती हूँ। मैं तुम्हें एक चिरन्तन वसन्त का अंग बनजाने को कहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि तुम उठो और कहो—'यहाँ मृत्यु नहीं है; यहाँ मृत्यु नहीं आ पायेगी।' हम सब, हम एशिया के अधिवासी विपत्तियों से अपराजित, किसी भी दुर्घटना से निराश न होते हुए, साथ-साथ बढ़ें—किसी भी दुःख से न प्रभावित होते हुए, क्योंकि यह विश्वास मेरे धर्म,

मेरी परम्परा और मेरी विरासत का अंग है कि कोई सद्वस्तु नष्ट नहीं होती—मरती नहीं।"

"....ह्वेन माई फादर, हू वाज वन आफ दि ग्रेटमेन ऑव् दि वर्ल्ड, वाज़ एबाउट टु डाई, हिज़ लास्ट वर्ड्स वेयर—'देयर इज़ नो बर्थ ऐंड देयर इज़ नो डेथ। देयर इज़ वोनली दि स्पिरिट सीकिंग एवोल्यूशन इन हायर ऐंड हायर स्टेजेज़ ऑव् लाइफ।' दैट इज़ दि हिस्टरी आव् इंडिया; दैट इज़ दि हिस्टरी आफ एशिया ऐंड आई बिड यू आल, ह्वाटएवर योर फेथ, ह्वाटएवर योर क्रीड, ह्वाटएवर योर टंग, रिमेम्बर देयर इज़ नो बर्थ, देयर इज़ नो डेथ। वी मूव आनवर्ड्स ऐंड आनवर्ड्स, हायर ऐंड हायर टिल वी असेंड टु दि स्टार्स। लेट अस मूव टुवर्ड्स दि स्टार्स। हू शैल हैम्पर आवर एसेंट टु दि स्टार्स? हू विल बिड अस हाल्ट 'दस फार ऐंड नो फर्दर'। वी डू नाट क्राई फार दि मून। वी प्लक इट फ्राम दि स्काईज़ ऐंड वियर इट अपान दि डायडेम्स आव् एशियाज़ फ्रीडम।" (गहरी करतलध्वनि)।"

अर्थात् "जब मेरे पिता, जो संसार के महान पुरुषों में से एक थे, मरने को हुए तो उनके अन्तिम शब्द थे—'यहाँ न तो जन्म है, न मृत्यु; केवल आत्मा जीवन की उच्चतर और उच्चतर स्थितियों में अपने को विकसित करती चलती है। यही है भारत का इतिहास। यही है एशिया का इतिहास। और मैं तुम सबको, चाहे तुम्हारा विश्वास कुछ हो चाहे तुम्हारा धर्म कुछ हो, चाहे तुम्हारी भाषा कुछ हो, कहती हूँ कि याद रखो—यहाँ जन्म नहीं है, मृत्यु नहीं है। हम आगे और आगे बढ़ते हैं, हम तब तक ऊँचे और ऊँचे उठते जाते हैं जब तक कि तारों तक न पहुँच जायँ। चलो, हम तारों की ओर बढ़ें। कौन तारों तक हमारी ऊर्ध्वगति को रोकेगा? कौन हमारी गति रोककर कहेगा कि यहीं तक—यहाँ के आगे नहीं? हम चाँद को पाने के लिए शोर नहीं करते। हम उसे आकाश से तोड़ लेते हैं और

एशिया के मुकुट पर लगा देते हैं।"

जीवन के विविध क्षेत्रों में वे रहीं अवश्य पर उनकी शक्ति का स्रोत वही चिरन्तन सौन्दर्य और आनन्द की साधना है जिससे उनका समस्त काव्य उद्‌भूत हुआ—वह काव्य जो उनके जीवन में समाया हुआ था, जो उनके अक्षय आत्म-सौन्दर्य को व्यक्त करता है। अपने सम्पूर्ण जीवन के पुष्प एक-एक करके चढ़ा देने के बाद, जब कुछ बच नहीं गया, माता की भाँति परम रिक्ता फिर भी पूर्णा होकर उन्होंने मृत्यु को सम्बोधन करते हुए बहुत पहले एक कविता लिखी थी—जैसे अन्तिम दिनों में नींद की जो प्रबल आकांक्षा उनमें प्रकट हुई उसी को लक्ष्य कर उनका जीवन बोल उठा हो—

सौन्दर्य और आनन्द की साधना

सर्वोत्सर्ग

'I have no more to give, all that was mine,
Is laid, a wrested tribute, at thy shrine
Let me depart, for my whole soul is wrung,
And all my cheerless omissions are sung;
Let me depart, with faint limbs. Let me creep
To some dim shade and sink me down to sleep.

["मेरे पास अब और कुछ देने के लिए शेष नहीं है। जो कुछ मेरा था सब भक्तिपूर्वक तुम्हारे मन्दिर पर चढ़ चुका है। अब मुझे जाने दो, क्योंकि मेरी सम्पूर्ण आत्मा निचुड़ चुकी है। और मेरी सब निरानन्द अनर्गलताएँ, संगीत में, मुखरित हो चुकी हैं। अब मुझे विदा दो; अपने दुर्बल अंगों से रेंगते हुए मुझे अस्पष्ट छाया में जाने दो जहाँ उतरकर मैं सो सकूँ।"

कैसे व्यंजक शब्द हैं—मानों कवि सब देख रहा हो। आगे तो स्पष्टतः मृत्यु को सम्बोधन कर वह कहती है—

"Welcome, O tranquil Death,
Thou has no ills to grieve me,
Who com'st with Freedom's breath
From sorrow to retrieve me.
Open, O Vast unknown,
Thy sealed mysterious portal !
I go to seek my own,
Vision of love immortal."

अर्थात् "ओ शान्त, निश्चल मृत्यु, तुम्हारा स्वागत है। तुम्हारे पास मुझे दुखी करने को कोई दंश नहीं है। तुम तो स्वतंत्रता का श्वास लिए मुझे शोक-संताप से मुक्त करने आई हो। हे विराट अज्ञात ! रुद्ध रहस्यमय कपाट खोल दो जिसमें जाकर मैं अपने अमर प्रेम का दर्शन पा सकूँ।"

यह मृत्यु पर प्रेम की शाश्वत विजय है, जिसका प्रतीक वह थीं।

जीवन-तालिका

१८७९ ई०	१३ फरवरी	हैदराबाद (दक्षिण) में जन्म ।
१८९१ "		मैट्रिक पास किया ।
१८९२ "		लम्बी कविता (१३०० पद) लिखी । एक नाटक भी लिखा ।
१८९५ "		शिक्षा के लिए विलायत-यात्रा
१८९५-९८ ई०		लन्दन एवं कैम्ब्रिज में अध्ययन। इटली की यात्रा । उपन्यास-लेखन
१८९८ ई०	सितम्बर	हैदराबाद लौटीं ।
"	दिसम्बर	मेजर डा. गोविन्द राजलु नायडू से विवाह ।
१९१३ ई०		मुस्लिम लीग के लखनऊ अधिवेशन में अत्यन्त प्रभावशाली भाषण
१९१५—१७		कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लेने लगीं। शर्तबन्द कुली प्रथा का विरोध
१९१९ ई०		भारतीय होमरूल लीग डेपूटेशन की सदस्या के रूप में विलायत-यात्रा ।
१९२१ ई०		भारतीय स्त्रियों के मताधिकार आन्दोलन के सम्बन्ध में विलायत-यात्रा ।
१९२१ से १९४९ तक		भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन तथा राष्ट्र-निर्माण कार्य में प्रमुख भाग ।
१९२१ ई०		बम्बई के दंगों में सेवा कार्य ।
१९२४ ई०		केनिया के प्रवासी भारतीयों की सेवा । नेताल आर्डिनेंस बिल के विरुद्ध

	आन्दोलन दक्षिण अफ्रीका की भारतीय कांग्रेस (मोम्बासा अधिवेशन) की अध्यक्षता। रोडेशिया की यात्रा।
,, जुलाई	भारत लौटीं।
१६२५ ई०	कानपुर कांग्रेस की अध्यक्षता।
१६२६ ई०	प्रवासी भारतीयों के अनुरोध पर पूर्व-अफ्रीका की यात्रा।
,,	अमेरिका की यात्रा।
१६३० ई०	नमक सत्याग्रह। गिरफ़ारी।
१६४२ ई०	गिरफ़ारी।
१६४४ ई०	स्वास्थ्य खराब होने के कारण रिहाई।
१६४७ ई०	युक्तप्रान्त की गवर्नरी ग्रहण की।
१६४८ ई०	एशियाई राष्ट्र सम्मेलन का संघटन एवं उसकी अध्यक्षता।
१६४६ ई० २ मार्च	प्रातः १—४५ पर देहावसान।

श्री सुमन जी का जीवन-दायक साहित्य

१.	गांधीवाद की रूप-रेखा (चतुर्थ संस्करण)	२)
२	योग के चमत्कार (प्रेस में)	२)
३.	घर की रानी (पाँचवाँ संस्करण)	१॥)
४.	आनन्द निकेतन (चौथा संस्करण)	२॥)
५.	हमारे नेता (छठा संस्करण)	१॥)
६.	वेदी के फूल (छठा संस्करण)	॥।)
७.	गांधीवाणी (दूसरा संस्करण सजिल्द)	३)
८.	कन्या (पाँचवाँ संस्करण)	१।)
९.	भाई के पत्र (नवाँ सजिल्द संस्करण)	३)
१०.	जीवन यज्ञ (पंचम संस्करण)	२)
११.	नारी : गृहलक्ष्मी और कल्याणी (दूसरा संस्करण)	२॥)
१२.	नारी जीवन : कुछ समस्याएँ (दूसरा संस्करण)	१।)
१३.	जीवन सूत्र (दूसरा संस्करण)	१॥।)
१४.	कठघरे से पुकारती वाणी	१)
१५.	हमारे स्व० राष्ट्रनिर्माता	४)

हमारे प्रकाशन

१. गांधीवाद की रूप-रेखा	२)
२. योग के चमत्कार	२)
३. अहंवादी की आत्मकथा (अप्राप्य)	
४. भक्ति तरंगिणी (अप्राप्य)	
५. घर की रानी	१।।)
६. आनन्द निकेतन	२।।)
७. चारुमित्रा	२।)
८. शृंखला की कड़ियाँ	२।।)
९. स्त्रियों की समस्याएँ	१।।)
१०. भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की रूप-रेखा	।।)
११ हमारे नेता	२)
१२. गांधी वाणी	३)
१३. नई कला	२)
१४. भाई के पत्र	३)
१५. अमृतवाणी	१।।)
१६. भारत का भाग्य	१।।।)
१७. विजय-पथ	१।।।)
१८. वेदी के फूल	।।)
१९. नारी : गृहलक्ष्मी	२।।)
२०. नारी जीवन	१।)
२१. कन्या	१।)
२२. प्राचीन कवियों की काव्य-साधना	२।।)
२३. जीवन-यज्ञ	३)
२४. सेवा-धर्म	२।)
२५. समग्र ग्राम सेवा	८)
२६ गांधी-मार्ग	२।।)
२७. युगाधार गांधी	२)
२८ अहिंसक क्रान्ति	।।=)
२९. कठघरे से पुकारती वाणी	१)
३० बंदी युग	२।।)
३१. पथिक	।।।)
३२. बुद्ध	।।)
३३. चंद्रगुप्त	।।)
३४. हमारे स्व० राष्ट्रनिर्माता	४)

साधना-सदन की पुस्तकें पढ़ना जीवन में प्रकाश और शक्ति को निमंत्रण देना है